UNIVERSITY OF TORONTO
3 1761 01103277 8



Presented to
The Library
of the
University of Toronto
by
The Misses M. & W. Cartwright


Digitized by the Internet Archive
in 2007 with funding from
Microsoft Corporation

http://www.archive.org/details/thebookofcommonp00npxxuoft

R Liturgy BK.
Book of Common Prayer
[Book of Common Prayer]

THE CALENDAR,
WITH THE TABLE OF LESSONS.

JUNE HATH XXX. DAYS.

			MORNING PRAYER.		EVENING PRAYER.	
			1 *Lesson.*	2 *Lesson.*	1 *Lesson.*	2 *Lesson.*
1	e	Nicomede, M.	Esther 5	Mark – 2	Esther 6	1 Cor. 15
2	f	———	——— 7	——— 3	——— 8	——— 16
3	g	———	——— 9	——— 4	Job — 1	2 Cor. 1
4	A	———	Job — 2	——— 5	——— 3	——— 2
5	b	Boniface, B. M.	——— 4	——— 6	——— 5	——— 3
6	c	———	——— 6	——— 7	——— 7	——— 4
7	d	———	——— 8	——— 8	——— 9	——— 5
8	e	———	——— 10	——— 9	——— 11	——— 6
9	f	———	——— 12	——— 10	——— 13	——— 7
10	g	———	——— 14	——— 11	——— 15	——— 8
11	A	*S. Barnabas*, A.				
12	b	———	——— 16	——— 12	17, 18	——— 9
13	c	———	——— 19	——— 13	——— 20	——— 10
14	d	———	——— 21	——— 14	——— 22	——— 11
15	e	———	——— 23	——— 15	24, 25	——— 12
16	f	———	26, 27	——— 16	——— 28	——— 13
17	g	S. Alban, Mart.	——— 29	Luke – 1	——— 30	Galat. 1
18	A	———	——— 31	——— 2	——— 32	——— 2
19	b	———	——— 33	——— 3	——— 34	——— 3
20	c	Tr. of Edw. K.	——— 35	——— 4	——— 36	——— 4
21	d	(of West-Sax.	——— 37	——— 5	——— 38	——— 5
22	e	———	——— 39	——— 6	——— 40	——— 6
23	f	——— Fast.	——— 41	——— 7	——— 42	Ephes. 1
24	g	*S. John Baptist.*				
25	A	———	Prov. – 1	——— 8	Prov. – 2	——— 2
26	b	———	——— 3	——— 9	——— 4	——— 3
27	c	———	——— 5	——— 10	——— 6	——— 4
28	d	——— Fast.	——— 7	——— 11	——— 8	——— 5
29	e	*S. Peter*, Apos.				
30	f	———	——— 9	——— 12	——— 10	——— 6

329318
23.7.36

THE CALENDAR,
WITH THE TABLE OF LESSONS.

JULY HATH XXXI. DAYS.

			MORNING PRAYER.		EVENING PRAYER.	
			1 *Lesson.*	2 *Lesson.*	1 *Lesson.*	2 *Lesson.*
1	g		Prov. 11	Luke 13	Prov. 12	Philip. 1
2	A	Visitat. of V.M.	——13	——14	——14	——2
3	b		——15	——15	——16	——3
4	c	Tr. of Mart. B.	——17	——16	——18	——4
5	d		——19	——17	——20	Coloss. 1
6	e		——21	——18	——22	——2
7	f		——23	——19	——24	——3
8	g		——25	——20	——26	——4
9	A		——27	——21	——28	1 Thes. 1
10	b		——29	——22	——31	——2
11	c		Eccles. 1	——23	Eccles. 2	——3
12	d		——3	——24	——4	——4
13	e		——5	John—1	——6	——5
14	f		——7	——2	——8	2 Thes. 1
15	g	Swithun, B. Tr.	——9	——3	——10	——2
16	A		——11	——4	——12	——3
17	b		Jer.—1	——5	Jer.—2	1 Tim. 1
18	c		——3	——6	——4	——2, 3
19	d		——5	——7	——6	——4
20	e	Marg. V. & M.	——7	——8	——8	——5
21	f		——9	——9	——10	——6
22	g	S. Mary Magd.	——11	——10	——12	2 Tim. 1
23	A		——13	——11	——14	——2
24	b	Fast.	——15	——12	——16	——3
25	c	*S. James*, Apos.		——13		——4
26	d	S. Anne.	——17	——14	——18	Titus 1
27	e		——19	——15	——20	——2, 3
28	f		——21	——16	——22	Philem.
29	g		——23	——17	——24	Hebr. 1
30	A		——25	——18	——26	——2
31	b		——27	——19	——28	——3

THE CALENDAR,
WITH THE TABLE OF LESSONS.

AUGUST HATH XXXI. DAYS.

			MORNING PRAYER.		EVENING PRAYER.	
			1 *Lesson.*	2 *Lesson.*	1 *Lesson.*	2 *Lesson.*
1	c	Lammas-day. –	Jer. – 29	John 20	Jer.—30	Hebr. 4
2	d	———	——31	——21	——32	——5
3	e	———	——33	Acts – 1	——34	——6
4	f	———	——35	——2	——36	——7
5	g	———	——37	——3	——38	——8
6	A	Transfigurat. –	——39	——4	——40	——9
7	b	Name of Jesus.	——41	——5	——42	——10
8	c	———	——43	——6	——44	——11
9	d	———	45, 46	——7	——47	——12
10	e	S.Lawrence,M.	——48	——8	——49	——13
11	f	———	——50	——9	——51	James–1
12	g	———	——52	——10	Lam. – 1	——2
13	A	———	Lam. – 2	——11	——3	——3
14	b	———	——4	——12	——5	——4
15	c	———	Ezek. – 2	——13	Ezek. – 3	——5
16	d	———	——6	——14	——7	1 Peter 1
17	e	———	——13	——15	——14	——2
18	f	———	——18	——16	——33	——3
19	g	———	——34	——17	Daniel 1	——4
20	A	———	Daniel 2	——18	——3	——5
21	b	———	——4	——19	——5	2 Peter 1
22	c	———	——6	——20	——7	——2
23	d	———Fast.	——8	——21	——9	——3
24	e	*S.Bartholomew.*	———	——22	———	1 John 1
25	f	———	——10	——23	——11	——2
26	g	———	——12	——24	Hosea 1	——3
27	A	———	Hos. 2, 3	——25	——4	——4
28	b	S. Augustin, B.	——5, 6	——26	——7	——5
29	c	S. John Baptist	——8	——27	——9	2, 3 John
30	d	——(beheaded.	——10	——28	——11	Jude——
31	e	———	——12	Matth. 1	——13	Rom. – 1

THE CALENDAR,
WITH THE TABLE OF LESSONS.

SEPTEMBER HATH XXX. DAYS.

			MORNING PRAYER.		EVENING PRAYER.	
			1 *Lesson.*	2 *Lesson.*	1 *Lesson.*	2 *Lesson.*
1	f	Giles, Ab. & C.	Hosea 14	Matth. 2	Joel — 1	Rom. – 2
2	g	———	Joel — 2	——— 3	——— 3	——— 3
3	A	———	Amos– 1	——— 4	Amos– 2	——— 4
4	b	———	——— 3	——— 5	——— 4	——— 5
5	c	———	——— 5	——— 6	——— 6	——— 6
6	d	———	——— 7	——— 7	——— 8	——— 7
7	e	Enurchus, B. –	——— 9	——— 8	Obadiah	——— 8
8	f	Nativity of V.	Jonah 1	——— 9	Jon. 2, 3	——— 9
9	g	———(Mary.	——— 4	——— 10	Micah 1	——— 10
10	A	———	Micah 2	——— 11	——— 3	——— 11
11	b	———	——— 4	——— 12	——— 5	——— 12
12	c	———	——— 6	——— 13	——— 7	——— 13
13	d	———	Nahu. 1	——— 14	Nahu. 2	——— 14
14	e	Holy-Cross D.	——— 3	——— 15	Hab.—1	——— 15
15	f	———	Hab.—2	——— 16	——— 3	——— 16
16	g	———	Zeph. – 1	——— 17	Zeph. – 2	1 Cor. 1
17	A	Lambert, B. M.	——— 3	——— 18	Haggai 1	——— 2
18	b	———	Haggai 2	——— 19	Zech. – 1	——— 3
19	c	———	Zec. 2, 3	——— 20	——— 4, 5	——— 4
20	d	———Fast.	——— 6	——— 21	——— 7	——— 5
21	e	*S. Matthew*, A.	———	——— 22	———	——— 6
22	f	———	——— 8	——— 23	——— 9	——— 7
23	g	———	——— 10	——— 24	——— 11	——— 8
24	A	———	——— 12	——— 25	——— 13	——— 9
25	b	———	——— 14	——— 26	Mal.— 1	——— 10
26	c	S. Cyprian, M.	Mal.—2	——— 27	——— 3	——— 11
27	d	———	——— 4	——— 28	Tobit– 1	——— 12
28	e	———	Tobit– 2	Mark – 1	——— 3	——— 13
29	f	*S. Michael.*	———	——— 2	———	——— 14
30	g	S. Jerom, C. D.	——— 4	——— 3	——— 6	——— 15

THE CALENDAR,
WITH THE TABLE OF LESSONS.

OCTOBER HATH XXXI. DAYS.

			MORNING PRAYER.		EVENING PRAYER.	
			1 *Lesson.*	2 *Lesson.*	1 *Lesson.*	2 *Lesson.*
1	A	Remigius, Bp.	Tobit–7	Mark–4	Tobit–8	1 Cor. 16
2	b	———	——9	——5	——10	2 Cor. 1
3	c	———	——11	——6	——12	——2
4	d	———	——13	——7	——14	——3
5	e	———	Judith 1	——8	Judith 2	——4
6	f	Faith, V. & M.	——3	——9	——4	——5
7	g	———	——5	——10	——6	——6
8	A	———	——7	——11	——8	——7
9	b	S. Denys, B.M.	——9	——12	——10	——8
10	c	———	——11	——13	——12	——9
11	d	———	——13	——14	——14	——10
12	e	———	——15	——15	——16	——11
13	f	Transl. of King	Wisd.–1	——16	Wisd.–2	——12
14	g	—(Edw. Conf.	——3	Lu. 1 *to* 39	——4	——13
15	A	———	——5	1. *v.* 39	——6	Galat. 1
16	b	———	——7	——2	——8	——2
17	c	Etheldreda, V.	——9	——3	——10	——3
18	d	*S. Luke*, Evan.	———	——4	———	——4
19	e	———	——11	——5	——12	——5
20	f	———	——13	——6	——14	——6
21	g	———	——15	——7	——16	Ephes. 1
22	A	———	——17	——8	——18	——2
23	b	———	——19	——9	Ecclus. 1	——3
24	c	———	Ecclus. 2	——10	——3	——4
25	d	Crispin, Mart.	——4	——11	——5	——5
26	e	———	——6	——12	——7	——6
27	f	———Fast.	——8	——13	——9	Philip. 1
28	g	*S. Simon & Jude.*	———	——14	———	——2
29	A	———	——10	——15	——11	——3
30	b	———	——12	——16	——13	——4
31	c	———Fast.	——14	——17	——15	Coloss. 1

THE CALENDAR,
WITH THE TABLE OF LESSONS.

NOVEMBER hath XXX. DAYS.

			MORNING PRAYER.		EVENING PRAYER.	
			1 *Lesson.*	2 *Lesson.*	1 *Lesson.*	2 *Lesson.*
1	d	*All Saints' Day.*				
2	e	———	Ecclus 16	Luke 18	Ecclus 17	Coloss. 2
3	f	———	——— 18	——— 19	——— 19	——— 3
4	g	———	——— 20	——— 20	——— 21	——— 4
5	A	*Papists' Conspi.*	——— 22	——— 21	——— 23	1 Thes. 1
6	b	Leonard, Conf.	——— 24	——— 22	——— *25	——— 2
7	c	———	——— 27	——— 23	——— 28	——— 3
8	d	———	——— 29	——— 24	——— †30	——— 4
9	e	———	——— 31	John – 1	——— 32	——— 5
10	f	———	——— 33	——— 2	——— 34	2 Thes. 1
11	g	S. Martin, Bp.	——— 35	——— 3	——— 36	——— 2
12	A	———	——— 37	——— 4	——— 38	——— 3
13	b	Britius, Bp. —	——— 39	——— 5	——— 40	1 Tim. 1
14	c	———	——— 41	——— 6	——— 42	——— 2, 3
15	d	Machutus, Bp.	——— 43	——— 7	——— 44	——— 4
16	e	———	——— 45	——— 8	——— ‡46	——— 5
17	f	Hugh, B. Linc.	——— 47	——— 9	——— 48	——— 6
18	g	———	——— 49	——— 10	——— 50	2 Tim. 1
19	A	———	——— 51	——— 11	Baruch 1	——— 2
20	b	Edm. K. & M.	Baruch 2	——— 12	——— 3	——— 3
21	c	———	——— 4	——— 13	——— 5	——— 4
22	d	Cecilia, V. & M.	——— 6	——— 14	Hist. Sus.	Titus – 1
23	e	S. Clement, B.	Bel & D.	——— 15	Isaiah – 1	——— 2, 3
24	f	———	Isaiah – 2	——— 16	——— 3	Philem.
25	g	Catherine, V. –	——— 4	——— 17	——— 5	Hebr. – 1
26	A	———	——— 6	——— 18	——— 7	——— 2
27	b	———	——— 8	——— 19	——— 9	——— 3
28	c	———	——— 10	——— 20	——— 11	——— 4
29	d	——— Fast.	——— 12	——— 21	——— 13	——— 5
30	e	*S. Andrew*, Ap.	———	Acts — 1	———	——— 6

Note, That * Ecclus. 25. is to be read only to *ver.* 13. and † Ecclus. 30. only to *ver.* 18. and ‡ Ecclus. 46. only to *ver.* 20.

THE CALENDAR,
WITH THE TABLE OF LESSONS.

DECEMBER HATH XXXI. DAYS.

			MORNING PRAYER.		EVENING PRAYER.	
			1 *Lesson.*	2 *Lesson.*	1 *Lesson.*	2 *Lesson.*
1	f		Isaiah 14	Acts—2	Isaiah 15	Heb.—7
2	g		—16	—3	—17	—8
3	A		—18	—4	—19	—9
4	b		—20, 21	—5	—22	—10
5	c		—23	—6	—24	—11
6	d	Nicolas, Bp. –	—25	7 *to v.* 30	—26	—12
7	e		—27	7 *v.* 30	—28	—13
8	f	Conception of	—29	—8	—30	James 1
9	g	— (Vir. Mary.	—31	—9	—32	—2
10	A		—33	—10	—34	—3
11	b		—35	—11	—36	—4
12	c		—37	—12	—38	—5
13	d	Lucy, V. & M.	—39	—13	—40	1 Peter 1
14	e		—41	—14	—42	—2
15	f		—43	—15	—44	—3
16	g	O Sapientia.—	—45	—16	—46	—4
17	A		—47	—17	—48	—5
18	b		—49	—18	—50	2 Peter 1
19	c		—51	—19	—52	—2
20	d	—Fast.	—53	—20	—54	—3
21	e	*S. Thomas*, Ap.		—21		1 John 1
22	f		—55	—22	—56	—2
23	g		—57	—23	—58	—3
24	A	—Fast.	—59	—24	—60	—4
25	b	*Christmas Day.*				
26	c	*S. Stephen*, M.				
27	d	*S. John*, Evan.				
28	e	*Innocents' Day.*		—25		—5
29	f		—61	—26	—62	2 John –
30	g		—63	—27	—64	3 John –
31	A	Silvester, Bp.–	—65	—28	—66	Jude—

TABLES AND RULES

For the Moveable and Immoveable Feasts; together with the Days of Fasting and Abstinence, through the whole Year.

RULES to know when the Moveable Feasts and Holy-days begin.

EASTER-DAY (on which the rest depend) is always the First *Sunday* after the Full Moon which happens upon, or next after the Twenty-first Day of *March*; and if the Full Moon happens upon a *Sunday*, *Easter-Day* is the *Sunday* after.

Advent-Sunday is always the nearest *Sunday* to the Feast of Saint *Andrew*, whether before or after.

Septuagesima, *Sexagesima*, *Quinquagesima*, *Quadragesima* } *Sunday* is { Nine, Eight, Seven, Six } Weeks before *Easter*.

Rogation-Sunday, *Ascension-Day*, *Whit-Sunday*, *Trinity-Sunday* } is { Five Weeks, Forty Days, Seven Weeks, Eight Weeks } after *Easter*.

A TABLE of all the Feasts that are to be observed in the Church of *England* throughout the Year.

All Sundays in the Year.

The Days of the Feasts of
- The Circumcision of our Lord JESUS CHRIST.
- The Epiphany.
- The Conversion of S. *Paul*.
- The Purification of the Blessed Virgin.
- S. *Matthias* the Apostle.
- The Annunciation of the Blessed Virgin.
- S. *Mark* the Evangelist.
- S. *Philip* & S. *James* the Apostles.
- The Ascension of our Lord JESUS CHRIST.
- S. *Barnabas*.

Monday and *Tuesday* in *Easter-Week*.

The Days of the Feasts of
- The Nativity of S. *John* Baptist.
- S. *Peter* the Apostle.
- S. *James* the Apostle.
- S. *Bartholomew* the Apostle.
- S. *Matthew* the Apostle.
- S. *Michael* and all Angels.
- S. *Luke* the Evangelist.
- S. *Simon* and S. *Jude* the Apostles.
- All Saints.
- S. *Andrew* the Apostle.
- S. *Thomas* the Apostle.
- The Nativity of our Lord.
- S. *Stephen* the Martyr.
- S. *John* the Evangelist.
- The Holy Innocents.

Monday and *Tuesday* in *Whitsun-Week*.

A TABLE of the Vigils, Fasts, and Days of Abstinence, to be observed in the Year.

The Evens or Vigils before
- The Nativity of our Lord.
- The Purification of the Blessed Virgin *Mary*.
- The Annunciation of the Blessed Virgin.
- *Easter-Day*.
- *Ascension-Day*.
- *Pentecost*.
- S. *Matthias*.

The Evens or Vigils before
- S. *John* Baptist.
- S. *Peter*.
- S. *James*.
- S. *Bartholomew*.
- S. *Matthew*.
- S. *Simon* and S. *Jude*.
- S. *Andrew*.
- S. *Thomas*.
- All Saints.

Note, that if any of these Feast-Days fall upon a *Monday*, then the Vigil or Fast-Day shall be kept upon the *Saturday*, and not upon the *Sunday* next before it.

Days of Fasting, or Abstinence.

I. The Forty Days of Lent.

II. The Ember-Days at the Four Seasons, being { The First *Sunday* in Lent. / The Feast of *Pentecost*. / *September* 14, & *December* 13. } the *Wednesday*, *Friday*, and *Saturday* after

III. The Three *Rogation-Days*, being the *Monday*, *Tuesday*, and *Wednesday*, before *Holy Thursday*, or the *Ascension* of our LORD.

IV. All the *Fridays* in the Year, except CHRISTMAS-DAY.

Certain Solemn Days, for which particular Services are appointed.

I. The Fifth Day of *November*, being the Day kept in Memory of the Papists' Conspiracy.

II. The Thirtieth Day of *January*, being the Day kept in Memory of the Martyrdom of King *Charles* the First.

III. The Nine and twentieth Day of *May*, being the Day kept in Memory of the Birth and Return of King *Charles* the Second.

IV. The Twenty-fifth Day of *October*, being the Day on which His Majesty began his happy Reign.

A TABLE TO FIND EASTER-DAY,

From the present Time till the Year 1899 inclusive, according to the foregoing Calendar.

Golden Number.	Days of the Month.	Sunday-Letters.
14	March—21	C
3	——22	D
	——23	E
11	——24	F
	——25	G
19	——26	A
8	——27	B
	——28	C
16	——29	D
5	——30	E
	——31	F
13	April——1	G
2	—— 2	A
	—— 3	B
10	—— 4	C
	—— 5	D
18	—— 6	E
7	—— 7	F
	—— 8	G
15	—— 9	A
4	——10	B
	——11	C
12	——12	D
1	——13	E
	——14	F
9	——15	G
	——16	A
17	——17	B
6	——18	C
	——19	D
	——20	E
	——21	F
	——22	G
	——23	A
	——24	B
	——25	C

THIS Table contains so much of the Calendar as is necessary for the determining of *Easter*; to find which, look for the Golden Number of the Year in the First Column of the Table, against which stands the Day of the Paschal Full Moon; then look in the Third Column for the Sunday Letter, next after the Day of the Full Moon, and the Day of the Month standing against that Sunday Letter is *Easter-Day*. If the Full Moon happens upon a Sunday, then (according to the First Rule) the next Sunday after is *Easter-Day*.

To find the Golden Number, or Prime, add 1 to the Year of our Lord, and then divide by 19; the Remainder, if any, is the Golden Number; but if nothing remaineth, then 19 is the Golden Number.

To find the Dominical or Sunday Letter, according to the Calendar, until the Year 1799 inclusive, add to the Year of our Lord its Fourth Part, omitting Fractions; and also the Number 1: Divide the Sum by 7; and if there is no Remainder, then A is the Sunday Letter: But if any Number remaineth, then the Letter standing against that Number in the small annexed Table is the Sunday Letter.

0	A
1	G
2	F
3	E
4	D
5	C
6	B

For the next Century, that is, from the Year 1800 till the Year 1899 inclusive, add to the current Year only its Fourth Part, and then divide by 7, and proceed as in the last Rule.

Note, that in all Bissextile or Leap-Years, the Letter found as above will be the Sunday Letter, from the intercalated Day exclusive to the End of the Year.

ANOTHER TABLE TO FIND EASTER

Till the Year 1899 inclusive.

Golden Number.	SUNDAY LETTERS.						
	A	B	C	D	E	F	G
I	Apr. 16	—17	—18	19	—20	—14	—15
II	April 9	— 3	— 4	5	— 6	— 7	— 8
III	Mar. 26	—27	—28	29	—23	—24	—25
IV	Apr. 16	—17	—11	12	—13	—14	—15
V	April 2	— 3	— 4	5	— 6	Mar. 31	April 1
VI	Apr. 23	—24	—25	19	—20	—21	—22
VII	April 9	—10	—11	12	—13	— 14	— 8
VIII	April 2	— 3	Mar. 28	29	—30	—31	April 1
IX	Apr. 16	—17	—18	19	—20	—21	—22
X	April 9	—10	—11	5	— 6	— 7	— 8
XI	Mar. 26	—27	—28	29	—30	—31	—25
XII	Apr. 16	—17	—18	19	—13	—14	—15
XIII	April 2	— 3	— 4	5	— 6	— 7	— 8
XIV	Mar. 26	—27	—28	22	—23	—24	—25
XV	Apr. 16	—10	—11	12	—13	—14	—15
XVI	April 2	— 3	— 4	5	Mar. 30	—31	April 1
XVII	Apr. 23	—24	—18	19	—20	—21	—22
XVIII	April 9	—10	—11	12	—13	— 7	— 8
XIX	April 2	Mar. 27	—28	29	—30	—31	April 1

TO make use of the preceding Table, find the Sunday Letter for the Year in the uppermost Line, and the Golden Number, or Prime, in the Column of Golden Numbers, and against the Prime, in the same Line under the Sunday Letter, you have the Day of the Month on which *Easter* falleth that Year. But Note, that the Name of the Month is set on the Left Hand, or just with the Figure, and followeth not, as in other Tables, by Descent, but Collateral.

A TABLE OF THE MOVEABLE FEASTS

FOR FIFTY-TWO YEARS,

According to the foregoing Calendar.

The Year of our Lord.	Golden Number.	The Epact.	Sunday Letter.	Sund. after Epiph.	Septuagesima Sunday.	The First Day of Lent.	Easter-Day.	Rogation Sunday.	Ascension-Day.	Whit-Sunday.	Sund. after Trin.	Advent Sunday.
1786	1	0	A	5	Feb. 12	Mar. 1	Apr. 16	May 21	May 25	June 4	24	Dec. 3
1787	2	11	G	4	——4	Feb. 21	——8	——13	——17	May 27	25	——2
1788	3	22	FE	1	Jan. 20	——6	Mar. 23	Apr. 27	——1	——11	27	Nov. 30
1789	4	3	D	4	Feb. 8	——25	Apr. 12	May 17	——21	——31	24	——29
1790	5	14	C	3	Jan. 31	——17	——4	——9	——13	——23	25	——28
1791	6	25	B	6	Feb. 20	Mar. 9	——24	——29	June 2	June 12	22	——27
1792	7	6	AG	4	——5	Feb. 22	——8	——13	May 17	May 27	25	Dec. 2
1793	8	17	F	2	Jan. 27	——13	Mar. 31	——5	——9	——19	26	——1
1794	9	28	E	5	Feb. 16	Mar. 5	Apr. 20	——25	——29	June 8	23	Nov. 30
1795	10	9	D	3	——1	Feb. 18	——5	——10	——14	May 24	25	——29
1796	11	20	CB	2	Jan. 24	——10	Mar. 27	——1	——5	——15	26	——27
1797	12	1	A	5	Feb. 12	Mar. 1	Apr. 16	——21	——25	June 4	24	Dec. 3
1798	13	12	G	4	——4	Feb. 21	——8	——13	——17	May 27	25	——2
1799	14	23	F	1	Jan. 20	——6	Mar. 24	Apr. 28	——2	——12	27	——1
1800	15	4	E	4	Feb. 9	——26	Apr. 13	May 18	——22	June 1	24	Nov. 30
1801	16	15	D	3	——1	——18	——5	——10	——14	May 24	25	——29
1802	17	26	C	5	——14	Mar. 3	——18	——23	——27	June 6	23	——28
1803	18	7	B	4	——6	Feb. 23	——10	——15	——19	May 29	24	——27
1804	19	18	AG	3	Jan. 29	——15	——1	——6	——10	——20	26	Dec. 2
1805	1	0	F	4	Feb. 10	——27	——14	——19	——23	June 2	24	——1
1806	2	11	E	3	——2	——19	——6	——11	——15	May 25	25	Nov. 30
1807	3	22	D	2	Jan. 25	——11	Mar. 29	——3	——7	——17	26	——29
1808	4	3	CB	5	Feb. 14	Mar. 3	Apr. 17	——22	——26	June 5	23	——27
1809	5	14	A	3	Jan. 29	Feb. 15	——2	——7	——11	May 21	26	Dec. 3
1810	6	25	G	6	Feb. 18	Mar. 7	——22	——27	——31	June 10	23	——2
1811	7	6	F	4	——10	Feb. 27	——14	——19	——23	——2	24	——1
1812	8	17	ED	2	Jan. 26	——12	Mar. 29	——3	——7	May 17	26	Nov. 29
1813	9	28	C	5	Feb. 14	Mar. 3	Apr. 18	——23	——27	June 6	23	——28
1814	10	9	B	4	——6	Feb. 23	——10	——15	——19	May 29	24	——27
1815	11	20	A	2	Jan. 22	——8	Mar. 26	Apr. 30	——4	——14	27	Dec. 3
1816	12	1	GF	5	Feb. 11	——28	Apr. 14	May 19	——23	June 2	24	——1
1817	13	12	E	3	——2	——19	——6	——11	——15	May 25	25	Nov. 30
1818	14	23	D	1	Jan. 18	——4	Mar. 22	Apr. 26	Apr. 30	——10	27	——29
1819	15	4	C	4	Feb. 7	——24	Apr. 11	May 16	May 20	——30	24	——28
1820	16	15	BA	3	Jan. 30	——16	——2	——7	——11	——21	26	Dec. 3
1821	17	26	G	6	Feb. 18	Mar. 7	——22	——27	——31	June 10	23	——2
1822	18	7	F	3	——3	Feb. 20	——7	——12	——16	May 26	25	——1
1823	19	18	E	2	Jan. 26	——12	Mar. 30	——4	——8	——18	26	Nov. 30
1824	1	0	DC	5	Feb. 15	Mar. 4	Apr. 18	——23	——27	June 6	23	——28
1825	2	11	B	3	Jan. 30	Feb. 16	——3	——8	——12	May 22	25	——27
1826	3	22	A	2	——22	——8	Mar. 26	Apr. 30	——4	——14	27	Dec. 3
1827	4	3	G	5	Feb. 11	——28	Apr. 15	May 20	——24	June 3	24	——2
1828	5	14	FE	3	——3	——20	——6	——11	——15	May 25	25	Nov. 30
1829	6	25	D	5	——15	Mar. 4	——19	——24	——28	June 7	23	——29
1830	7	6	C	4	——7	Feb. 24	——11	——16	——20	May 30	24	——28
1831	8	17	B	3	Jan. 30	——16	——3	——8	——12	——22	25	——27
1832	9	28	AG	6	Feb. 19	Mar. 8	——22	——27	——31	June 10	23	Dec. 2
1833	10	9	F	3	——3	Feb. 20	——7	——12	——16	May 26	25	——1
1834	11	20	E	2	Jan. 26	——12	Mar. 30	——4	——8	——18	26	Nov. 30
1835	12	1	D	5	Feb. 15	Mar. 4	Apr. 19	——24	——28	June 7	23	——29
1836	13	12	CB	3	Jan. 31	Feb. 17	——3	——8	——12	May 22	25	——27
1837	14	23	A	2	——22	——8	Mar. 26	Apr. 30	——4	——14	27	Dec. 3

A TABLE of the MOVEABLE FEASTS, according to the several Days that EASTER can possibly fall upon.

Easter-Day.	Sundays after Epiphany.	Septuagesima Sunday.	The First Day of Lent.	Rogation Sunday.	Ascension-Day.	Whit-Sunday.	Sundays after Trinity.	Advent Sunday.
Mar 22	1	Jan. 18	Feb. 4	Apr 26	Apr 30	May 10	27	Nov. 29
23	1	19	5	27	May 1	11	27	30
24	1	20	6	28	2	12	27	Dec. 1
25	2	21	7	29	3	13	27	2
26	2	22	8	30	4	14	27	3
27	2	23	9	May 1	5	15	26	Nov. 27
28	2	24	10	2	6	16	26	28
29	2	25	11	3	7	17	26	29
30	2	26	12	4	8	18	26	30
31	2	27	13	5	9	19	26	Dec. 1
Apr. 1	3	28	14	6	10	20	26	2
2	3	29	15	7	11	21	26	3
3	3	30	16	8	12	22	25	Nov. 27
4	3	31	17	9	13	23	25	28
5	3	Feb. 1	18	10	14	24	25	29
6	3	2	19	11	15	25	25	30
7	3	3	20	12	16	26	25	Dec. 1
8	4	4	21	13	17	27	25	2
9	4	5	22	14	18	28	25	3
10	4	6	23	15	19	29	24	Nov. 27
11	4	7	24	16	20	30	24	28
12	4	8	25	17	21	31	24	29
13	4	9	26	18	22	June 1	24	30
14	4	10	27	19	23	2	24	Dec. 1
15	5	11	28	20	24	3	24	2
16	5	12	Mar. 1	21	25	4	24	3
17	5	13	2	22	26	5	23	Nov. 27
18	5	14	3	23	27	6	23	28
19	5	15	4	24	28	7	23	29
20	5	16	5	25	29	8	23	30
21	5	17	6	26	30	9	23	Dec. 1
22	6	18	7	27	31	10	23	2
23	6	19	8	28	June 1	11	23	3
24	6	20	9	29	2	12	22	Nov. 27
25	6	21	10	30	3	13	22	28

Note, that in a Bissextile or Leap Year, the Number of *Sundays* after Epiphany will be the same, as if *Easter-Day* had fallen One Day later than it really does. And for the same Reason, One Day must, in every Leap Year, be added to the Day of the Month given by the Table for *Septuagesima* Sunday: And the like must be done for the First Day of *Lent* (commonly called *Ash-Wednesday*) unless the Table gives some Day in the Month of *March* for it; for in that Case, the Day given by the Table is the right Day.

TABLE to find *Easter*, from the Year 1900, to 2199 inclusive.

Golden Numb.	Days of the Month.	Sunday Letters.
14	March 22	D
3	23	E
	24	F
11	25	G
	26	A
19	27	B
8	28	C
	29	D
16	30	E
5	31	F
	April 1	G
13	2	A
2	3	B
	4	C
10	5	D
	6	E
18	7	F
7	8	G
	9	A
15	10	B
4	11	C
	12	D
12	13	E
1	14	F
	15	G
9	16	A
17	17	B
6	18	C
	19	D
	20	E
	21	F
	22	G
	23	A
	24	B
	25	C

THE Golden Numbers in the foregoing Calendar will point out the Days of the Paschal Full Moons, till the Year of our Lord 1900; at which Time, in order that the Ecclesiastical Full Moons may fall nearly on the same Days with the real Full Moons, the Golden Numbers must be removed to different Days of the Calendar, as is done in the annexed Table, which contains so much of the Calendar then to be used, as is necessary for finding the Paschal Full Moons, and the Feast of *Easter*, from the Year 1900, to the Year 2199 inclusive. This Table is to be made use of, in all respects, as the First Table before inserted, for finding *Easter* till the Year 1899.

General TABLES for finding the Dominical or Sunday Letter, and the Places of the Golden Numbers in the Calendar.

TABLE I.

6	5	4	3	2	1	0
B	C	D	E	F	G	A
				1600	1700	1800
1900 2000	2100	2200	2300 2400	2500	2600	2700 2800
2900	3000	3100 3200	3300	3400	3500 3600	3700
3800	3900 4000	4100	4200	4300 4400	4500	4600
4700 4800	4900	5000	5100 5200	5300	5400	5500 5600
5700	5800	5900 6000	6100	6200	6300 6400	6500
6600	6700 6800	6900	7000	7100 7200	7300	7400
7500 7600	7700	7800	7900 8000	8100	8200	8300 8400
8500	&c.					

TO find the Dominical or Sunday Letter for any given Year of our Lord, add to the Year its Fourth Part, omitting Fractions, and also the Number, which in Table I. standeth at the Top of the Column, wherein the Number of Hundreds contained in that given Year is found: Divide the Sum by 7, and if there is no Remainder, then A is the Sunday Letter; but if any Number remaineth, then the Letter, which standeth under that Number at the Top of the Table, is the Sunday Letter.

TABLE II.

1	2	3	1	2	3
	Years of our Lord.			Years of our Lord.	
B	1600	0	B	5200	15
	1700	1		5300	16
	1800	1		5400	17
	1900	2		5500	17
B	2000	2	B	5600	17
	2100	2		5700	18
	2200	3		5800	18
	2300	4		5900	19
B	2400	3	B	6000	19
	2500	4		6100	19
	2600	5		6200	20
	2700	5		6300	21
B	2800	5	B	6400	20
	2900	6		6500	21
	3000	6		6600	22
	3100	7		6700	23
B	3200	7	B	6800	22
	3300	7		6900	23
	3400	8		7000	24
	3500	9		7100	24
B	3600	8	B	7200	24
	3700	9		7300	25
	3800	10		7400	25
	3900	10		7500	26
B	4000	10	B	7600	26
	4100	11		7700	26
	4200	12		7800	27
	4300	12		7900	28
B	4400	12	B	8000	27
	4500	13		8100	28
	4600	13		8200	29
	4700	14		8300	29
B	4800	14	B	8400	29
	4900	14		8500	0
	5000	15		&c.	
	5100	16			

TO find the Month and Days of the Month to which the Golden Numbers ought to be prefixed in the Calendar, in any given Year of our Lord, consisting of entire Hundred Years, and in all the intermediate Years betwixt that and the next Hundredth Year following, look in the Second Column of Table II. for the given Year consisting of entire Hundreds, and Note the Number or Cypher which stands against it in the Third Column; then, in Table III. look for the same Number in the Column under any given Golden Number, which when you have found, guide your Eye Side-ways to the Left Hand, and in the First Column you will find the Month and Day to which that Golden Number ought to be prefixed in the Calendar, during that Period of One Hundred Years.

The Letter B prefixed to certain Hundredth Years in Table II. denotes those Years which are still to be accounted Bissextile or Leap Years in the New Calendar; whereas all the other Hundredth Years are to be accounted only common Years.

TABLE III.

Paschal Full Moon.	Sunday Letters.	THE GOLDEN NUMBERS.																	
		1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19
March 21	C	8	19	0	11	22	3	14	25	6	17	28	9	20	1	12	23	4	15	26
March 22	D	9	20	1	12	23	4	15	26	7	18	29	10	21	2	13	24	5	16	27
March 23	E	10	21	2	13	24	5	16	27	8	19	0	11	22	3	14	25	6	17	28
March 24	F	11	22	3	14	25	6	17	28	9	20	1	12	23	4	15	26	7	18	29
March 25	G	12	23	4	15	26	7	18	29	10	21	2	13	24	5	16	27	8	19	0
March 26	A	13	24	5	16	27	8	19	0	11	22	3	14	25	6	17	28	9	20	1
March 27	B	14	25	6	17	28	9	20	1	12	23	4	15	26	7	18	29	10	21	2
March 28	C	15	26	7	18	29	10	21	2	13	24	5	16	27	8	19	0	11	22	3
March 29	D	16	27	8	19	0	11	22	3	14	25	6	17	28	9	20	1	12	23	4
March 30	E	17	28	9	20	1	12	23	4	15	26	7	18	29	10	21	2	13	24	5
March 31	F	18	29	10	21	2	13	24	5	16	27	8	19	0	11	22	3	14	25	6
April 1	G	19	0	11	22	3	14	25	6	17	28	9	20	1	12	23	4	15	26	7
April 2	A	20	1	12	23	4	15	26	7	18	29	10	21	2	13	24	5	16	27	8
April 3	B	21	2	13	24	5	16	27	8	19	0	11	22	3	14	25	6	17	28	9
April 4	C	22	3	14	25	6	17	28	9	20	1	12	23	4	15	26	7	18	29	10
April 5	D	23	4	15	26	7	18	29	10	21	2	13	24	5	16	27	8	19	0	11
April 6	E	24	5	16	27	8	19	0	11	22	3	14	25	6	17	28	9	20	1	12
April 7	F	25	6	17	28	9	20	1	12	23	4	15	26	7	18	29	10	21	2	13
April 8	G	26	7	18	29	10	21	2	13	24	5	16	27	8	19	0	11	22	3	14
April 9	A	27	8	19	0	11	22	3	14	25	6	17	28	9	20	1	12	23	4	15
April 10	B	28	9	20	1	12	23	4	15	26	7	18	29	10	21	2	13	24	5	16
April 11	C	29	10	21	2	13	24	5	16	27	8	19	0	11	22	3	14	25	6	17
April 12	D	0	11	22	3	14	25	6	17	28	9	20	1	12	23	4	15	26	7	18
April 13	E	1	12	23	4	15	26	7	18	29	10	21	2	13	24	5	16	27	8	19
April 14	F	2	13	24	5	16	27	8	19	0	11	22	3	14	25	6	17	28	9	20
April 15	G	3	14	25	6	17	28	9	20	1	12	23	4	15	26	7	18	29	10	21
April 16	A	4	15	26	7	18	29	10	21	2	13	24	5	16	27	8	19	0	11	22
April 17	B	5	16	27	8	19	0	11	22	3	14	25	6	17	28	9	20	1	12	23
April 17	B												7	18	29	10	21	2	13	24
April 18	C	6	17	28	9	20	1	12	23	4	15	26								
April 18	C	7	18	29	10	21	2	13	24	5	16	27	8	19	0	11	22	3	14	25

¶ The ORDER for MORNING and EVENING PRAYER daily to be said and used throughout the Year.

THE Morning and Evening Prayer shall be used in the accustomed Place of the Church, Chapel, or Chancel; except it shall be otherwise determined by the Ordinary of the Place. And the Chancels shall remain as they have done in times past.

And here is to be noted, that such Ornaments of the Church, and of the Ministers thereof, at all Times of their Ministration, shall be retained, and be in use, as were in this Church of *England*, by the Authority of Parliament, in the Second Year of the Reign of King *Edward* the Sixth.

THE ORDER FOR

MORNING PRAYER,

DAILY THROUGHOUT THE YEAR.

¶ *At the beginning of Morning Prayer the Minister shall read with a loud voice some one or more of these Sentences of the Scriptures that follow And then he shall say that which is written after the said Sentences.*

WHEN the wicked man turneth away from his wickedneſs that he hath committed, and doeth that which is lawful and right, he ſhall ſave his ſoul alive. *Ezek.* xviii. 27.

I acknowledge my tranſgreſſions, and my ſin is ever before me. *Pſalm* li. 3.

Hide thy face from my ſins, and blot out all mine iniquities. *Pſalm* li. 9.

The ſacrifices of God are a broken ſpirit: a broken and a contrite heart, O God, thou wilt not deſpiſe. *Pſalm* li. 17.

Rend your heart, and not your garments, and turn unto the Lord your God: for he is gracious and merciful, ſlow to anger, and of great kindneſs, and repenteth him of the evil. *Joel* ii. 13.

To the Lord our God belong mercies and forgiveneſſes, though we have rebelled againſt him: neither have we obeyed the voice of the Lord our God, to walk in his laws which he ſet before us. *Daniel* ix. 9, 10.

O Lord, correct me, but with judgement;

not in thine anger, leſt thou bring me to nothing. *Jer.* x. 24. *Pſalm* vi. 1.

Repent ye; for the Kingdom of heaven is at hand. *St. Matth.* iii. 2.

I will ariſe, and go to my father, and will ſay unto him, Father, I have ſinned againſt heaven, and before thee, and am no more worthy to be called thy ſon. *St. Luke* xv. 18, 19.

Enter not into judgement with thy ſervant, O Lord; for in thy ſight ſhall no man living be juſtified. *Pſalm* cxliii. 2.

If we ſay that we have no ſin, we deceive ourſelves, and the truth is not in us: but, if we confeſs our ſins, he is faithful and juſt to forgive us our ſins, and to cleanſe us from all unrighteouſneſs. 1 *St. John* i. 8, 9.

DEARLY beloved brethren, the Scripture moveth us in ſundry places to acknowledge and confeſs our manifold ſins and wickedneſs; and that we ſhould not diſſemble nor cloke them before the face of Almighty God our heavenly Father; but confeſs them with an humble, lowly, penitent, and obedient heart; to the end that we may obtain forgiveneſs of the ſame, by his infinite goodneſs and mercy. And although we ought at all times humbly to acknowledge our ſins before God; yet ought we moſt chiefly ſo to do, when we aſſemble

and meet together to render thanks for the great benefits that we have received at his hands, to ſet forth his moſt worthy praiſe, to hear his moſt holy Word, and to aſk thoſe things which are requiſite and neceſſary, as well for the body as the ſoul. Wherefore I pray and beſeech you, as many as are here preſent, to accompany me with a pure heart, and humble voice, unto the throne of the heavenly grace, ſaying after me;

¶ *A general Confeſſion to be ſaid of the whole Congregation after the Minister, all kneeling.*

ALMIGHTY and moſt merciful Father; We have erred, and ſtrayed from thy ways like loſt ſheep. We have followed too much the devices and deſires of our own hearts. We have offended againſt thy holy laws. We have left undone thoſe things which we ought to have done; And we have done thoſe things which we ought not to have done; And there is no health in us. But thou, O Lord, have mercy upon us, miſerable offenders. Spare thou them, O God, which confeſs their faults. Reſtore thou them that are penitent; According to thy promiſes declared unto mankind in Chriſt Jeſu our Lord. And grant, O moſt merciful Father, for his ſake; That we may hereafter live a godly, righteous, and ſober life, To the glory of thy holy Name. Amen.

¶ *The Absolution, or Remission of sins, to be pronounced by the Priest alone standing; the people still kneeling.*

ALMIGHTY God, the Father of our Lord Jesus Christ, who desireth not the death of a sinner, but rather that he may turn from his wickedness, and live; and hath given power, and commandment, to his Ministers, to declare and pronounce to his people, being penitent, the Absolution and Remission of their sins: He pardoneth and absolveth all them that truly repent, and unfeignedly believe his holy Gospel. Wherefore let us beseech him to grant us true repentance, and his holy Spirit, that those things may please him, which we do at this present; and that the rest of our life hereafter may be pure, and holy; so that at the last we may come to his eternal joy; through Jesus Christ our Lord.

¶ *The people shall answer here, and at the end of all other Prayers,* Amen.

¶ *Then the Minister shall kneel, and say the Lord's Prayer with an audible voice; the people also kneeling, and repeating it with him, both here, and wheresoever else it is used in Divine Service.*

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our trespasses, As we forgive them that trespass against us. And lead us not into temptation; But deliver us from evil: For thine is the kingdom, The power, and the glory, For ever and ever. Amen.

MORNING PRAYER.

¶ *Then likewise he shall say,*

O Lord, open thou our lips.

Answer. And our mouth shall shew forth thy praise.

Priest. O God, make speed to save us.

Answer. O Lord, make haste to help us.

¶ *Here all standing up, the Priest shall say,*

Glory be to the Father, and to the Son: and to the Holy Ghost;

Answer. As it was in the beginning, is now, and ever shall be: world without end. Amen.

Priest. Praise ye the Lord.

Answer. The Lord's Name be praised.

¶ *Then shall be said or sung this Psalm following: except on* Easter-Day, *upon which another Anthem is appointed; and on the Nineteenth day of every Month it is not to be read here, but in the ordinary course of the Psalms.*

Venite, exultemus Domino. Psalm xcv.

O Come, let us sing unto the Lord: let us heartily rejoice in the strength of our salvation.

Let us come before his presence with thanksgiving: and shew ourselves glad in him with Psalms.

For the Lord is a great God: and a great King above all gods.

In his hand are all the corners of the earth: and the strength of the hills is his also.

The ſea is his, and he made it : and his hands prepared the dry land.

O come, let us worſhip, and fall down : and kneel before the Lord our Maker.

For he is the Lord our God : and we are the people of his paſture, and the ſheep of his hand.

To day if ye will hear his voice, harden not your hearts : as in the provocation, and as in the day of temptation in the wilderneſs;

When your fathers tempted me : proved me, and ſaw my works.

Forty years long was I grieved with this generation, and ſaid : It is a people that do err in their hearts, for they have not known my ways.

Unto whom I ſware in my wrath : that they ſhould not enter into my reſt.

Glory be to the Father, and to the Son : and to the Holy Ghoſt;

As it was in the beginning, is now, and ever ſhall be : world without end. Amen.

¶ *Then ſhall follow the Pſalms in order as they are appointed. And at the end of every Pſalm throughout the Year, and likewiſe at the end of* Benedicite, Benedictus, Magnificat, and Nunc dimittis, *ſhall be repeated,*

Glory be to the Father, and to the Son : and to the Holy Ghoſt;

Anſwer. As it was in the beginning, is now, and ever ſhall be : world without end. Amen.

¶ *Then shall be read distinctly with an audible voice the First Lesson, taken out of the Old Testament, as is appointed in the Calendar, except there be Proper Lessons assigned for that day: He that readeth so standing and turning himself, as he may best be heard of all such as are present. And after that, shall be said or sung, in* English, *the Hymn called* Te Deum Laudamus, *daily throughout the Year.*

¶ *Note, That before every Lesson the Minister shall say,* Here beginneth such a Chapter, *or* Verse of such a Chapter, of such a Book: *And after every Lesson,* Here endeth the First, *or* the Second Lesson.

Te Deum Laudamus.

WE praiſe thee, O God: we acknowledge thee to be the Lord.

All the earth doth worſhip thee: the Father everlaſting.

To thee all Angels cry aloud: the Heavens, and all the Powers therein.

To thee Cherubin, and Seraphin: continually do cry,

Holy, Holy, Holy: Lord God of Sabaoth;

Heaven and earth are full of the Majeſty: of thy Glory.

The glorious company of the Apoſtles: praiſe thee.

The goodly fellowſhip of the Prophets: praiſe thee.

The noble army of Martyrs: praiſe thee.

The holy Church throughout all the world: doth acknowledge thee;

The Father: of an infinite Majeſty;

Thine honourable, true: and only Son;

Alſo the Holy Ghoſt: the Comforter.

Thou art the King of Glory: O Chriſt.

Thou art the everlaſting Son : of the Father.

When thou tookeſt upon thee to deliver man : thou didſt not abhor the Virgin's womb.

When thou hadſt overcome the ſharpneſs of death : thou didſt open the Kingdom of Heaven to all believers.

Thou ſitteſt at the right hand of God : in the Glory of the Father.

We believe that thou ſhalt come : to be our Judge.

We therefore pray thee, help thy ſervants : whom thou haſt redeemed with thy precious blood.

Make them to be numbered with thy Saints : in glory everlaſting.

O Lord, ſave thy people : and bleſs thine heritage.

Govern them : and lift them up for ever.

Day by day : we magnify thee;

And we worſhip thy Name : ever world without end.

Vouchſafe, O Lord : to keep us this day without ſin.

O Lord, have mercy upon us : have mercy upon us.

O Lord, let thy mercy lighten upon us : as our truſt is in thee.

O Lord, in thee have I truſted : let me never be confounded.

¶ *Or this Canticle,*

Benedicite, omnia Opera.

O All ye Works of the Lord, bleſs ye the Lord: praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Angels of the Lord, bleſs ye the Lord: praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Heavens, bleſs ye the Lord: praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Waters that be above the Firmament, bleſs ye the Lord: praiſe him, and magnify him for ever.

O all ye Powers of the Lord, bleſs ye the Lord: praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Sun, and Moon, bleſs ye the Lord: praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Stars of Heaven, bleſs ye the Lord: praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Showers, and Dew, bleſs ye the Lord: praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Winds of God, bleſs ye the Lord: praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Fire and Heat, bleſs ye the Lord: praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Winter and Summer, bleſs ye the Lord: praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Dews, and Froſts, bleſs ye the Lord: praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Froſt and Cold, bleſs ye the Lord: praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Ice and Snow, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Nights, and Days, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Light and Darkneſs, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Lightnings, and Clouds, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O let the Earth bleſs the Lord : yea, let it praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Mountains, and Hills, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O all ye Green Things upon the Earth, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Wells, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Seas, and Floods, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Whales, and all that move in the Waters, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O all ye Fowls of the Air, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O all ye Beaſts, and Cattle, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Children of Men, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O let Iſrael bleſs the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Prieſts of the Lord, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Servants of the Lord, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O ye Spirits and Souls of the Righteous, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O ye holy and humble Men of heart, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

O Ananias, Azarias, and Miſael, bleſs ye the Lord : praiſe him, and magnify him for ever.

Glory be to the Father, and to the Son : and to the Holy Ghoſt;

As it was in the beginning, is now, and ever ſhall be : world without end. Amen.

¶ *Then ſhall be read in like manner the Second Leſſon, taken out of the New Teſtament. And after that, the Hymn following: except when that ſhall happen to be read in the Chapter for the Day, or for the Goſpel on St.* John Baptiſt's *Day.*

Benedictus. St. Luke i. 68.

BLESSED be the Lord God of Iſrael : for he hath viſited, and redeemed his people;

And hath raiſed up a mighty ſalvation for us : in the houſe of his ſervant David;

As he ſpake by the mouth of his holy Prophets : which have been ſince the world began;

That we ſhould be ſaved from our enemies : and from the hands of all that hate us;

To perform the mercy promiſed to our forefathers: and to remember his holy Covenant;

To perform the oath which he ſware to our forefather Abraham: that he would give us;

That we being delivered out of the hand of our enemies: might ſerve him without fear;

In holineſs and righteouſneſs before him: all the days of our life.

And thou, Child, ſhalt be called the Prophet of the Higheſt: for thou ſhalt go before the face of the Lord to prepare his ways;

To give knowledge of ſalvation unto his people: for the remiſſion of their ſins,

Through the tender mercy of our God: whereby the day-ſpring from on high hath viſited us;

To give light to them that ſit in darkneſs, and in the ſhadow of death: and to guide our feet into the way of peace.

Glory be to the Father, and to the Son: and to the Holy Ghoſt;

As it was in the beginning, is now, and ever ſhall be: world without end. Amen.

¶ *Or this Pſalm,*

Jubilate Deo. Pſalm c.

O Be joyful in the Lord, all ye lands: ſerve the Lord with gladneſs, and come before his preſence with a ſong.

Be ye ſure that the Lord he is God: it is

he that hath made us, and not we ourſelves; we are his people, and the ſheep of his paſture.

O go your way into his gates with thankſgiving, and into his courts with praiſe: be thankful unto him, and ſpeak good of his Name.

For the Lord is gracious, his mercy is everlaſting: and his truth endureth from generation to generation.

Glory be to the Father, and to the Son: and to the Holy Ghoſt;

As it was in the beginning, is now, and ever ſhall be: world without end. Amen.

¶ *Then ſhall be ſung or ſaid the Apoſtles' Creed by the Minister and the people, ſtanding: except only ſuch days as the Creed of St.* Athanaſius *is appointed to be read.*

I Believe in God the Father Almighty, Maker of heaven and earth:

And in Jeſus Chriſt his only Son our Lord, Who was conceived by the Holy Ghoſt, Born of the Virgin Mary, Suffered under Pontius Pilate, Was crucified, dead, and buried, He deſcended into hell; The third day he roſe again from the dead, He aſcended into heaven, And ſitteth on the right hand of God the Father Almighty; From thence he ſhall come to judge the quick and the dead.

I believe in the Holy Ghoſt; The holy Catholick Church; The Communion of Saints; The Forgiveneſs of ſins; The Reſurrection of the body, And the life everlaſting. Amen.

MORNING PRAYER.

¶ *And after that, these Prayers following, all devoutly kneeling; the Minister first pronouncing with a loud voice,*

The Lord be with you.
Answer. And with thy spirit.

Minister. Let us pray.

Lord, have mercy upon us.
Christ, have mercy upon us.
Lord, have mercy upon us.

¶ *Then the Minister, Clerks, and people, shall say the Lord's Prayer with a loud voice.*

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our trespasses, As we forgive them that trespass against us. And lead us not into temptation; But deliver us from evil. Amen.

¶ *Then the Priest standing up shall say,*

O Lord, shew thy mercy upon us.
Answer. And grant us thy salvation.
Priest. O Lord, save the King.
Answer. And mercifully hear us when we call upon thee.
Priest. Endue thy Ministers with righteousness.
Answer. And make thy chosen people joyful.
Priest. O Lord, save thy people.
Answer. And bless thine inheritance.

Prieſt. Give peace in our time, O Lord.

Anſwer. Becauſe there is none other that fighteth for us, but only thou, O God.

Prieſt. O God, make clean our hearts within us.

Anſwer. And take not thy holy Spirit from us.

¶ *Then ſhall follow three Collects; the firſt of the Day, which ſhall be the ſame that is appointed at the Communion; the ſecond for Peace; the third for Grace to live well. And the two laſt Collects ſhall never alter, but daily be ſaid at Morning Prayer throughout all the Year, as followeth; all kneeling.*

The ſecond Collect, for Peace.

O God, who art the author of peace and lover of concord, in knowledge of whom ſtandeth our eternal life, whoſe ſervice is perfect freedom; Defend us thy humble ſervants in all aſſaults of our enemies; that we, ſurely truſting in thy defence, may not fear the power of any adverſaries, through the might of Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The third Collect, for Grace.

O Lord, our heavenly Father, Almighty and everlaſting God, who haſt ſafely brought us to the beginning of this day; Defend us in the ſame with thy mighty power; and grant that this day we fall into no ſin, neither run into any kind of danger; but that all our doings may be ordered by thy governance, to do always that is righteous in thy ſight; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

MORNING PRAYER.

¶ *In Quires and Places where they sing, here followeth the Anthem.*

¶ *Then these five Prayers following are to be read here, except when the Litany is read; and then only the two last are to be read, as they are there placed.*

A Prayer for the King's Majeſty.

O Lord our heavenly Father, high and mighty, King of kings, Lord of lords, the only Ruler of princes, who doſt from thy throne behold all the dwellers upon earth; Moſt heartily we beſeech thee with thy favour to behold our moſt gracious Sovereign Lord, King *GEORGE;* and ſo repleniſh him with the grace of thy Holy Spirit, that he may alway incline to thy will, and walk in thy way: Endue him plenteouſly with heavenly gifts; grant him in health and wealth long to live; ſtrengthen him that he may vanquiſh and overcome all his enemies; and finally, after this life, he may attain everlaſting joy and felicity; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

A Prayer for the Royal Family.

ALMIGHTY God, the fountain of all goodneſs, we humbly beſeech thee to bleſs our gracious Queen *Charlotte,* their Royal Highneſſes *George* Prince of *Wales,* the Princeſs of *Wales,* and all the Royal Family: Endue them with thy holy Spirit; enrich them with thy heavenly grace; proſper them with all happineſs; and bring them to

thine everlaſting kingdom; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

A Prayer for the Clergy and people.

ALMIGHTY and everlaſting God, who alone workeſt great marvels; Send down upon our Biſhops, and Curates, and all Congregations committed to their charge, the healthful Spirit of thy grace; and that they may truly pleaſe thee, pour upon them the continual dew of thy bleſſing. Grant this, O Lord, for the honour of our Advocate and Mediator, Jeſus Chriſt. *Amen.*

A Prayer of St. Chryſoſtom.

ALMIGHTY God, who haſt given us grace at this time with one accord to make our common ſupplications unto thee; and doſt promiſe, that when two or three are gathered together in thy Name thou wilt grant their requeſts: Fulfil now, O Lord, the deſires and petitions of thy ſervants, as may be moſt expedient for them; granting us in this world knowledge of thy truth, and in the world to come life everlaſting. *Amen.*

2 *Cor.* xiii.

THE grace of our Lord Jeſus Chriſt, and the love of God, and the fellowſhip of the Holy Ghoſt, be with us all evermore. *Amen.*

Here endeth the Order of Morning Prayer throughout the Year.

THE ORDER FOR

EVENING PRAYER,

DAILY THROUGHOUT THE YEAR.

¶ *At the beginning of Evening Prayer the Minister shall read with a loud voice some one or more of these Sentences of the Scriptures that follow. And then he shall say that which is written after the said Sentences.*

WHEN the wicked man turneth away from his wickedneſs that he hath committed, and doeth that which is lawful and right, he ſhall ſave his ſoul alive. *Ezek.* xviii. 27.

I acknowledge my tranſgreſſions, and my ſin is ever before me. *Pſalm* li. 3.

Hide thy face from my ſins, and blot out all mine iniquities. *Pſalm* li. 9.

The ſacrifices of God are a broken ſpirit: a broken and a contrite heart, O God, thou wilt not deſpiſe. *Pſalm* li. 17.

Rend your heart, and not your garments, and turn unto the Lord your God: for he is gracious and merciful, ſlow to anger, and of great kindneſs, and repenteth him of the evil. *Joel* ii. 13.

To the Lord our God belong mercies and forgiveneſſes, though we have rebelled againſt him: neither have we obeyed the voice of the Lord our God, to walk in his laws which he ſet before us. *Daniel* ix. 9, 10.

O Lord, correct me, but with judgement;

not in thine anger, leſt thou bring me to nothing. *Jer.* x. 24. *Pſalm* vi. 1.

Repent ye; for the Kingdom of heaven is at hand. *St. Matth.* iii. 2.

I will ariſe, and go to my father, and will ſay unto him, Father, I have ſinned againſt heaven, and before thee, and am no more worthy to be called thy ſon. *St. Luke* xv. 18, 19.

Enter not into judgement with thy ſervant, O Lord; for in thy ſight ſhall no man living be juſtified. *Pſalm* cxliii. 2.

If we ſay that we have no ſin, we deceive ourſelves, and the truth is not in us: but, if we confeſs our ſins, he is faithful and juſt to forgive us our ſins, and to cleanſe us from all unrighteouſneſs. 1 *St. John* i. 8, 9.

DEARLY beloved brethren, the Scripture moveth us in ſundry places to acknowledge and confeſs our manifold ſins and wickedneſs; and that we ſhould not diſſemble nor cloke them before the face of Almighty God our heavenly Father; but confeſs them with an humble, lowly, penitent, and obedient heart; to the end that we may obtain forgiveneſs of the ſame, by his infinite goodneſs and mercy. And although we ought at all times humbly to acknowledge our ſins before God; yet ought we moſt chiefly ſo to do, when we

aſſemble and meet together to render thanks for the great benefits that we have received at his hands, to ſet forth his moſt worthy praiſe, to hear his moſt holy Word, and to aſk thoſe things which are requiſite and neceſſary, as well for the body as the ſoul. Wherefore I pray and beſeech you, as many as are here preſent, to accompany me with a pure heart, and humble voice, unto the throne of the heavenly grace, ſaying after me;

¶ *A general Confeſſion to be ſaid of the whole Congregation after the Miniſter, all kneeling.*

ALMIGHTY and moſt merciful Father; We have erred, and ſtrayed from thy ways like loſt ſheep. We have followed too much the devices and deſires of our own hearts. We have offended againſt thy holy laws. We have left undone thoſe things which we ought to have done; And we have done thoſe things which we ought not to have done; And there is no health in us. But thou, O Lord, have mercy upon us, miſerable offenders. Spare thou them, O God, which confeſs their faults. Reſtore thou them that are penitent; According to thy promiſes declared unto mankind in Chriſt Jeſu our Lord. And grant, O moſt merciful Father, for his ſake; That we may hereafter live a godly, righteous, and ſober life, To the glory of thy holy Name. Amen.

¶ *The Absolution, or Remission of sins, to be pronounced by the Priest alone, standing; the people still kneeling.*

ALMIGHTY God, the Father of our Lord Jesus Christ, who desireth not the death of a sinner, but rather that he may turn from his wickedness, and live; and hath given power, and commandment, to his Ministers, to declare and pronounce to his people, being penitent, the Absolution and Remission of their sins: He pardoneth and absolveth all them that truly repent, and unfeignedly believe his holy Gospel. Wherefore let us beseech him to grant us true repentance, and his holy Spirit, that those things may please him, which we do at this present; and that the rest of our life hereafter may be pure, and holy; so that at the last we may come to his eternal joy; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *Then the Minister shall kneel, and say the Lord's Prayer; the people also kneeling, and repeating it with him.*

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our trespasses, As we forgive them that trespass against us. And lead us not into temptation; but deliver us from evil: For thine is the kingdom, The power, and the glory, For ever and ever. Amen.

EVENING PRAYER.

¶ *Then likewise he shall say,*

O Lord, open thou our lips.

Answer. And our mouth shall shew forth thy praise.

Priest. O God, make speed to save us.

Answer. O Lord, make haste to help us.

¶ *Here all standing up, the Priest shall say,*

Glory be to the Father, and to the Son: and to the Holy Ghost;

Answer. As it was in the beginning, is now, and ever shall be: world without end. Amen.

Priest. Praise ye the Lord.

Answer. The Lord's Name be praised.

¶ *Then shall be said or sung the Psalms in order as they are appointed. Then a Lesson of the Old Testament, as is appointed. And after that,* Magnificat (*or the Song of the blessed Virgin* Mary) *in English, as followeth.*

Magnificat. St. Luke i.

MY soul doth magnify the Lord: and my spirit hath rejoiced in God my Saviour.

For he hath regarded: the lowliness of his hand-maiden.

For behold, from henceforth: all generations shall call me blessed.

For he that is mighty hath magnified me: and holy is his Name.

And his mercy is on them that fear him: throughout all generations.

He hath shewed strength with his arm: he hath scattered the proud in the imagination of their hearts.

He hath put down the mighty from their ſeat : and hath exalted the humble and meek.

He hath filled the hungry with good things : and the rich he hath ſent empty away.

He remembering his mercy hath holpen his ſervant Iſrael : as he promiſed to our forefathers, Abraham and his ſeed, for ever.

Glory be to the Father, and to the Son : and to the Holy Ghoſt ;

As it was in the beginning, is now, and ever ſhall be : world without end. Amen.

¶ *Or else this Psalm ; except it be on the Nineteenth Day of the Month, when it is read in the ordinary Course of the Psalms.*

Cantate Domino. Pſalm xcviii.

O Sing unto the Lord a new ſong : for he hath done marvellous things.

With his own right hand, and with his holy arm : hath he gotten himſelf the victory.

The Lord declared his ſalvation : his righteouſneſs hath he openly ſhewed in the ſight of the heathen.

He hath remembered his mercy and truth toward the houſe of Iſrael : and all the ends of the world have ſeen the ſalvation of our God.

Shew yourſelves joyful unto the Lord, all ye lands : ſing, rejoice, and give thanks.

Praiſe the Lord upon the harp: ſing to the harp with a pſalm of thankſgiving.

With trumpets alſo and ſhawms: O ſhew yourſelves joyful before the Lord the King.

Let the ſea make a noiſe, and all that therein is: the round world, and they that dwell therein.

Let the floods clap their hands, and let the hills be joyful together before the Lord: for he cometh to judge the earth.

With righteouſneſs ſhall he judge the world: and the people with equity.

Glory be to the Father, and to the Son: and to the Holy Ghoſt;

As it was in the beginning, is now, and ever ſhall be: world without end. Amen.

¶ *Then a Lesson of the New Testament, as it is appointed. And after that,* Nunc dimittis (*or the Song of* Symeon) *in English, as followeth.*

Nunc dimittis. St. Luke ii. 29.

LORD, now letteſt thou thy ſervant depart in peace: according to thy word.

For mine eyes have ſeen: thy ſalvation,

Which thou haſt prepared: before the face of all people;

To be a light to lighten the Gentiles: and to be the glory of thy people Iſrael.

Glory be to the Father, and to the Son: and to the Holy Ghoſt;

As it was in the beginning, is now, and ever ſhall be: world without end. Amen.

¶ *Or else this Psalm; except it be on the Twelfth Day of the Month.*

Deus misereatur. Pſalm lxvii.

GOD be merciful unto us, and bleſs us : and ſhew us the light of his countenance, and be merciful unto us :

That thy way may be known upon earth : thy ſaving health among all nations.

Let the people praiſe thee, O God : yea, let all the people praiſe thee.

O let the nations rejoice and be glad : for thou ſhalt judge the folk righteouſly, and govern the nations upon earth.

Let the people praiſe thee, O God : yea, let all the people praiſe thee.

Then ſhall the earth bring forth her increaſe : and God, even our own God, ſhall give us his bleſſing.

God ſhall bleſs us : and all the ends of the world ſhall fear him.

Glory be to the Father, and to the Son : and to the Holy Ghoſt;

As it was in the beginning, is now, and ever ſhall be : world without end. Amen.

¶ *Then ſhall be ſaid or ſung the Apoſtles' Creed by the Minister and the people, ſtanding.*

I Believe in God the Father Almighty, Maker of heaven and earth :

And in Jeſus Chriſt his only Son our Lord, Who was conceived by the Holy Ghoſt, Born of the Virgin Mary, Suffered under Pontius

Pilate, Was crucified, dead, and buried, He deſcended into hell; The third day he roſe again from the dead, He aſcended into heaven, And ſitteth on the right hand of God the Father Almighty; From thence he ſhall come to judge the quick and the dead.

I believe in the Holy Ghoſt; The holy Catholick Church; The Communion of Saints; The Forgiveneſs of ſins; The Reſurrection of the body, And the life everlaſting. Amen.

¶ *And after that, these Prayers following, all devoutly kneeling; the Minister first pronouncing with a loud voice,*

The Lord be with you.

Anſwer. And with thy ſpirit.

Miniſter. Let us pray.

Lord, have mercy upon us.

Chriſt, have mercy upon us.

Lord, have mercy upon us.

¶ *Then the Minister, Clerks, and people, shall say the Lord's Prayer with a loud voice.*

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our treſpaſſes, As we forgive them that treſpaſs againſt us. And lead us not into temptation; But deliver us from evil. Amen.

¶ *Then the Priest standing up shall say,*

O Lord, ſhew thy mercy upon us;

Anſwer. And grant us thy ſalvation.

Prieſt. O Lord, ſave the King.

Anſwer. And mercifully hear us when we call upon thee.

Prieſt. Endue thy Miniſters with righteouſneſs.

Anſ. And make thy choſen people joyful.

Prieſt. O Lord, ſave thy people.

Anſwer. And bleſs thine inheritance.

Prieſt. Give peace in our time, O Lord.

Anſwer. Becauſe there is none other that fighteth for us, but only thou, O God.

Prieſt. O God, make clean our hearts within us.

Anſ. And take not thy holy Spirit from us.

¶ *Then ſhall follow three Collects; the firſt of the Day; the ſecond for Peace; the third for Aid againſt all Perils, as hereafter followeth: which two laſt Collects ſhall be daily ſaid at Evening Prayer without alteration.*

The ſecond Collect at Evening Prayer.

O God, from whom all holy deſires, all good counſels, and all juſt works do proceed; Give unto thy ſervants that peace which the world cannot give; that both our hearts may be ſet to obey thy commandments, and alſo that by thee we being defended from the fear of our enemies may paſs our time in reſt and quietneſs; through the merits of Jeſus Chriſt our Saviour. *Amen.*

The third Collect, for Aid againſt all Perils.

LIGHTEN our darkneſs, we beſeech thee, O Lord; and by thy great mercy de-

fend us from all perils and dangers of this night; for the love of thy only Son, our Saviour, Jeſus Chriſt. *Amen.*

¶ *In Quires and Places where they ſing, here followeth the Anthem.*

A Prayer for the King's Majeſty.

O Lord our heavenly Father, high and mighty, King of kings, Lord of lords, the only Ruler of princes, who doſt from thy throne behold all the dwellers upon earth; Moſt heartily we beſeech thee with thy favour to behold our moſt gracious Sovereign Lord, King *GEORGE;* and ſo repleniſh him with the grace of thy Holy Spirit, that he may alway incline to thy will, and walk in thy way: Endue him plenteouſly with heavenly gifts; grant him in health and wealth long to live; ſtrengthen him that he may vanquiſh and overcome all his enemies; and finally, after this life, he may attain everlaſting joy and felicity; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

A Prayer for the Royal Family.

ALMIGHTY God, the fountain of all goodneſs, we humbly beſeech thee to bleſs our gracious Queen *Charlotte*, their Royal Highneſſes *George* Prince of *Wales*, the Princeſs of *Wales*, and all the Royal Family: Endue them with thy holy Spirit; enrich them with thy heavenly grace; proſper them with all happineſs; and bring them to thine

everlasting kingdom; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

A Prayer for the Clergy and people.

ALMIGHTY and everlasting God, who alone workest great marvels; Send down upon our Bishops, and Curates, and all Congregations committed to their charge, the healthful Spirit of thy grace; and that they may truly please thee, pour upon them the continual dew of thy blessing. Grant this, O Lord, for the honour of our Advocate and Mediator, Jesus Christ. *Amen.*

A Prayer of St. Chrysostom.

ALMIGHTY God, who hast given us grace at this time with one accord to make our common supplications unto thee; and dost promise, that when two or three are gathered together in thy Name thou wilt grant their requests: Fulfil now, O Lord, the desires and petitions of thy servants, as may be most expedient for them; granting us in this world knowledge of thy truth, and in the world to come life everlasting. *Amen.*

2 *Cor.* xiii.

THE grace of our Lord Jesus Christ, and the love of God, and the fellowship of the Holy Ghost, be with us all evermore. *Amen.*

Here endeth the Order of Evening Prayer throughout the Year.

¶ *Upon these Feasts;* Christmas-day, *the* Epiphany, *Saint* Matthias, Easter-day, Ascension-day, Whitsunday, *Saint* John Baptist, *Saint* James, *Saint* Bartholomew, *Saint* Matthew, *Saint* Simon *and Saint* Jude, *Saint* Andrew, *and upon* Trinity-Sunday, *shall be sung or said at Morning Prayer, instead of the Apostles' Creed, this Confession of our Christian Faith, commonly called The Creed of Saint* Athanasius, *by the Minister and people standing.*

Quicunque vult.

WHOSOEVER will be ſaved: before all things it is neceſſary that he hold the Catholick Faith.

Which Faith except every one do keep whole and undefiled: without doubt he ſhall periſh everlaſtingly.

And the Catholick Faith is this: That we worſhip one God in Trinity, and Trinity in Unity;

Neither confounding the Perſons: nor dividing the Subſtance.

For there is one Perſon of the Father, another of the Son: and another of the Holy Ghoſt.

But the Godhead of the Father, of the Son, and of the Holy Ghoſt, is all one: the Glory equal, the Majeſty co-eternal.

Such as the Father is, ſuch is the Son: and ſuch is the Holy Ghoſt.

The Father uncreate, the Son uncreate: and the Holy Ghoſt uncreate.

The Father incomprehenſible, the Son incomprehenſible: and the Holy Ghoſt incomprehenſible.

The Father eternal, the Son eternal: and the Holy Ghoſt eternal.

And yet they are not three eternals: but one eternal.

As alſo there are not three incomprehenſibles, nor three uncreated: but one uncreated, and one incomprehenſible.

So likewiſe the Father is Almighty, the Son Almighty: and the Holy Ghoſt Almighty.

And yet they are not three Almighties: but one Almighty.

So the Father is God, the Son is God: and the Holy Ghoſt is God.

And yet they are not three Gods: but one God.

So likewiſe the Father is Lord, the Son Lord: and the Holy Ghoſt Lord.

And yet not three Lords: but one Lord.

For like as we are compelled by the Chriſtian verity: to acknowledge every Perſon by himſelf to be God and Lord;

So are we forbidden by the Catholick Religion: to ſay, There be three Gods, or three Lords.

The Father is made of none: neither created, nor begotten.

The Son is of the Father alone: not made, nor created, but begotten.

The Holy Ghoſt is of the Father and of the

Son: neither made, nor created, nor begotten, but proceeding.

So there is one Father, not three Fathers; one Son, not three Sons: one Holy Ghoſt, not three Holy Ghoſts.

And in this Trinity none is afore, or after other: none is greater, or leſs than another;

But the whole three Perſons are co-eternal together: and co-equal.

So that in all things, as is aforeſaid: the Unity in Trinity, and the Trinity in Unity is to be worſhipped.

He therefore that will be ſaved: muſt thus think of the Trinity.

Furthermore, it is neceſſary to everlaſting ſalvation: that he alſo believe rightly the Incarnation of our Lord Jeſus Chriſt.

For the right Faith is, that we believe and confeſs: that our Lord Jeſus Chriſt, the Son of God, is God and Man;

God, of the Subſtance of the Father, begotten before the worlds: and Man, of the Subſtance of his Mother, born in the world;

Perfect God, and perfect Man: of a reaſonable ſoul and human fleſh ſubſiſting;

Equal to the Father, as touching his Godhead: and inferior to the Father, as touching his Manhood.

Who although he be God and Man: yet he is not two, but one Chriſt;

One; not by converſion of the Godhead into fleſh: but by taking of the Manhood into God;

One altogether; not by confuſion of Subſtance: but by unity of Perſon.

For as the reaſonable ſoul and fleſh is one man: ſo God and Man is one Chriſt;

Who ſuffered for our ſalvation: deſcended into hell, roſe again the third day from the dead.

He aſcended into heaven, he ſitteth on the right hand of the Father, God Almighty: from whence he ſhall come to judge the quick and the dead.

At whoſe coming all men ſhall riſe again with their bodies: and ſhall give account for their own works.

And they that have done good ſhall go into life everlaſting: and they that have done evil into everlaſting fire.

This is the Catholick Faith: which except a man believe faithfully, he cannot be ſaved.

Glory be to the Father, and to the Son: and to the Holy Ghoſt;

As it was in the beginning, is now, and ever ſhall be; world without end. Amen.

THE LITANY.

¶ *Here followeth the LITANY, or General Supplication, to be sung or said after Morning Prayer upon* Sundays, Wednesdays, *and* Fridays, *and at other times when it shall be commanded by the Ordinary.*

O God the Father, of heaven: have mercy upon us miſerable ſinners.

O God the Father, of heaven: have mercy upon us miſerable ſinners.

O God the Son, Redeemer of the world: have mercy upon us miſerable ſinners.

O God the Son, Redeemer of the world: have mercy upon us miſerable ſinners.

O God the Holy Ghoſt, proceeding from the Father and the Son: have mercy upon us miſerable ſinners.

O God the Holy Ghoſt, proceeding from the Father and the Son: have mercy upon us miſerable ſinners.

O holy, bleſſed, and glorious Trinity, three Perſons and one God: have mercy upon us miſerable ſinners.

O holy, bleſſed, and glorious Trinity, three Perſons and one God: have mercy upon us miſerable ſinners.

Remember not, Lord, our offences, nor the offences of our forefathers; neither take thou vengeance of our ſins: ſpare us, good Lord, ſpare thy people, whom thou haſt redeemed with thy moſt precious blood, and be not angry with us for ever.

Spare us, good Lord.

From all evil and miſchief; from ſin, from

the crafts and aſſaults of the devil; from thy wrath, and from everlaſting damnation,

Good Lord, deliver us.

From all blindneſs of heart; from pride, vain-glory, and hypocriſy; from envy, hatred, and malice, and all uncharitableneſs,

Good Lord, deliver us.

From fornication, and all other deadly ſin; and from all the deceits of the world, the fleſh, and the devil,

Good Lord, deliver us.

From lightning and tempeſt; from plague, peſtilence, and famine; from battle and murder, and from ſudden death,

Good Lord, deliver us.

From all ſedition, privy conſpiracy, and rebellion; from all falſe doctrine, hereſy, and ſchiſm; from hardneſs of heart, and contempt of thy Word and Commandment,

Good Lord, deliver us.

By the myſtery of thy holy Incarnation; by thy holy Nativity and Circumciſion; by thy Baptiſm, Faſting, and Temptation,

Good Lord, deliver us.

By thine Agony and bloody Sweat; by thy Croſs and Paſſion; by thy precious Death and Burial; by thy glorious Reſurrection and Aſcenſion; and by the coming of the Holy Ghoſt,

Good Lord, deliver us.

In all time of our tribulation; in all time of

our wealth; in the hour of death, and in the day of judgement,

Good Lord, deliver us.

We ſinners do beſeech thee to hear us, O Lord God; and that it may pleaſe thee to rule and govern thy holy Church univerſal in the right way;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to keep and ſtrengthen in the true worſhipping of thee, in righteouſneſs and holineſs of life, thy Servant *GEORGE*, our moſt gracious King and Governour;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to rule his heart in thy faith, fear, and love, and that he may evermore have affiance in thee, and ever ſeek thy honour and glory;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to be his defender and keeper, giving him the victory over all his enemies;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to bleſs and preſerve our gracious Queen *Charlotte*, their Royal Highneſſes *George* Prince of *Wales*, the Princeſs of *Wales*, and all the Royal Family;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to illuminate all Biſhops, Prieſts, and Deacons, with true

knowledge and underſtanding of thy Word, and that both by their preaching and living they may ſet it forth, and ſhew it accordingly;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to endue the Lords of the Council, and all the Nobility, with grace, wiſdom, and underſtanding;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to bleſs and keep the Magiſtrates, giving them grace to execute juſtice, and to maintain truth;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to bleſs and keep all thy people;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to give to all nations unity, peace, and concord;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to give us an heart to love and dread thee, and diligently to live after thy commandments;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to give to all thy people increaſe of grace to hear meekly thy Word, and to receive it with pure affection, and to bring forth the fruits of the Spirit;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to bring into the way of truth all ſuch as have erred, and are deceived;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to ſtrengthen ſuch as do ſtand; and to comfort and help the weak-hearted; and to raiſe up them that fall; and finally to beat down Satan under our feet;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to ſuccour, help, and comfort, all that are in danger, neceſſity, and tribulation;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to preſerve all that travel by land or by water, all women labouring of child, all ſick perſons, and young children; and to ſhew thy pity upon all priſoners and captives;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to defend, and provide for, the fatherleſs children, and widows, and all that are deſolate and oppreſſed;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to have mercy upon all men;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to forgive our enemies, perſecutors, and ſlanderers, and to turn their hearts;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to give and preſerve to our uſe the kindly fruits of the earth, ſo as in due time we may enjoy them;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

That it may pleaſe thee to give us true repentance; to forgive us all our ſins, negligences, and ignorances; and to endue us with the grace of thy Holy Spirit to amend our lives according to thy holy Word;

We beſeech thee to hear us, good Lord.

Son of God: we beſeech thee to hear us.

Son of God: we beſeech thee to hear us.

O Lamb of God: that takeſt away the ſins of the world;

Grant us thy peace.

O Lamb of God: that takeſt away the ſins of the world;

Have mercy upon us.

O Chriſt, hear us.

O Chriſt, hear us.

Lord, have mercy upon us.

Lord, have mercy upon us.

Chriſt, have mercy upon us.

Chriſt, have mercy upon us.

Lord, have mercy upon us.

Lord, have mercy upon us.

¶ *Then ſhall the Priest, and the people with him, ſay the Lord's Prayer.*

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our treſpaſſes, As we forgive them that treſpaſs againſt us. And lead us not

into temptation; But deliver us from evil. Amen.

Prieſt. O Lord, deal not with us after our ſins.

Anſwer. Neither reward us after our iniquities.

Let us pray.

O God, merciful Father, that deſpiſeſt not the ſighing of a contrite heart, nor the deſire of ſuch as be ſorrowful; Mercifully aſſiſt our prayers that we make before thee in all our troubles and adverſities, whenſoever they oppreſs us; and graciouſly hear us, that thoſe evils, which the craft and ſubtilty of the devil or man worketh againſt us, be brought to nought; and by the providence of thy goodneſs they may be diſperſed; that we thy ſervants, being hurt by no perſecutions, may evermore give thanks unto thee in thy holy Church; through Jeſus Chriſt our Lord.

O Lord, ariſe, help us, and deliver us for thy Name's ſake.

O God, we have heard with our ears, and our fathers have declared unto us, the noble works that thou didſt in their days, and in the old time before them.

O Lord, ariſe, help us, and deliver us for thine honour.

Glory be to the Father, and to the Son: and to the Holy Ghoſt;

Anſwer. As it was in the beginning, is now, and ever ſhall be: world without end. Amen.

From our enemies defend us, O Chriſt.

Graciouſly look upon our afflictions.

Pitifully behold the ſorrows of our hearts.

Mercifully forgive the ſins of thy people.

Favourably with mercy hear our prayers.

O Son of David, have mercy upon us.

Both now and ever vouchſafe to hear us, O Chriſt.

Graciouſly hear us, O Chriſt; graciouſly hear us, O Lord Chriſt.

Prieſt. O Lord, let thy mercy be ſhewed upon us;

Anſwer. As we do put our truſt in thee.

Let us pray.

WE humbly beſeech thee, O Father, mercifully to look upon our infirmities; and for the glory of thy Name turn from us all thoſe evils that we moſt righteouſly have deſerved; and grant, that in all our troubles we may put our whole truſt and confidence in thy mercy, and evermore ſerve thee in holineſs and pureneſs of living, to thy honour and glory; through our only Mediator and Advocate, Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

A Prayer of St. Chryſoſtom.

ALMIGHTY God, who haſt given us grace at this time with one accord to

make our common ſupplications unto thee; and doſt promiſe, that when two or three are gathered together in thy Name thou wilt grant their requeſts; Fulfil now, O Lord, the deſires and petitions of thy ſervants, as may be moſt expedient for them; granting us in this world knowledge of thy truth, and in the world to come life everlaſting. *Amen.*

2 Cor. xiii.

THE grace of our Lord Jeſus Chriſt, and the love of God, and the fellowſhip of the Holy Ghoſt, be with us all evermore. *Amen.*

Here endeth the Litany.

PRAYERS AND THANKSGIVINGS,

UPON SEVERAL OCCASIONS,

¶ *To be used before the two final Prayers of the Litany, or of Morning and Evening Prayer.*

PRAYERS.

For Rain.

O God, heavenly Father, who by thy Son Jeſus Chriſt haſt promiſed to all them that ſeek thy kingdom, and the righteouſneſs thereof, all things neceſſary to their bodily ſuſtenance; Send us, we beſeech thee, in this our neceſſity, ſuch moderate rain and ſhowers,

that we may receive the fruits of the earth to our comfort, and to thy honour; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For fair Weather.

O Almighty Lord God, who for the ſin of man didſt once drown all the world, except eight perſons, and afterward of thy great mercy didſt promiſe never to deſtroy it ſo again; We humbly beſeech thee, that although we for our iniquities have worthily deſerved a plague of rain and waters, yet upon our true repentance thou wilt ſend us ſuch weather, as that we may receive the fruits of the earth in due ſeaſon; and learn both by thy puniſhment to amend our lives, and for thy clemency to give thee praiſe and glory; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

In the time of Dearth and Famine.

O God, heavenly Father, whoſe gift it is, that the rain doth fall, the earth is fruitful, beaſts increaſe, and fiſhes do multiply; Behold, we beſeech thee, the afflictions of thy people; and grant that the ſcarcity and dearth, which we do now moſt juſtly ſuffer for our iniquity, may through thy goodneſs be mercifully turned into cheapneſs and plenty; for the love of Jeſus Chriſt our Lord, to whom with thee and the Holy Ghoſt be all honour and glory, now and for ever. *Amen.*

Or this.

O God, merciful Father, who, in the time of Eliſha the prophet, didſt ſuddenly in Samaria turn great ſcarcity and dearth into plenty and cheapneſs; Have mercy upon us, that we, who are now for our ſins puniſhed with like adverſity, may likewiſe find a ſeaſonable relief: Increaſe the fruits of the earth by thy heavenly benediction; and grant that we, receiving thy bountiful liberality, may uſe the ſame to thy glory, the relief of thoſe that are needy, and our own comfort; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

In the time of War and Tumults.

O Almighty God, King of all kings, and Governour of all things, whoſe power no creature is able to reſiſt, to whom it belongeth juſtly to puniſh ſinners, and to be merciful to them that truly repent; Save and deliver us, we humbly beſeech thee, from the hands of our enemies; abate their pride, aſſwage their malice, and confound their devices; that we, being armed with thy defence, may be preſerved evermore from all perils, to glorify thee, who art the only giver of all victory; through the merits of thy only Son, Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

In the time of any common Plague or Sickneſs.

O Almighty God, who in thy wrath didſt ſend a plague upon thine own people in the wilderneſs, for their obſtinate rebellion againſt Moſes and Aaron; and alſo, in the time of king David, didſt ſlay with the plague of Peſtilence threeſcore and ten thouſand, and yet remembering thy mercy didſt ſave the reſt; Have pity upon us miſerable ſinners, who now are viſited with great ſickneſs and mortality; that like as thou didſt then accept of an atonement, and didſt command the deſtroying Angel to ceaſe from puniſhing, ſo it may now pleaſe thee to withdraw from us this plague and grievous ſickneſs; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

¶ *In the Ember Weeks, to be ſaid every day, for thoſe that are to be admitted into Holy Orders.*

ALMIGHTY God, our heavenly Father, who haſt purchaſed to thyſelf an univerſal Church by the precious blood of thy dear Son; Mercifully look upon the ſame, and at this time ſo guide and govern the minds of thy ſervants the Biſhops and Paſtors of thy flock, that they may lay hands ſuddenly on no man, but faithfully and wiſely make choice of fit perſons to ſerve in the ſacred Miniſtry of thy Church. And to thoſe which ſhall be ordained to any holy function give thy grace

and heavenly benediction; that both by their life and doctrine they may ſet forth thy glory, and ſet forward the ſalvation of all men; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

Or this.

ALMIGHTY God, the giver of all good gifts, who of thy divine providence haſt appointed divers Orders in thy Church; Give thy grace, we humbly beſeech thee, to all thoſe who are to be called to any office and adminiſtration in the ſame; and ſo repleniſh them with the truth of thy doctrine, and endue them with innocency of life, that they may faithfully ſerve before thee, to the glory of thy great Name, and the benefit of thy holy Church; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

¶ *A Prayer that may be ſaid after any of the former.*

O God, whoſe nature and property is ever to have mercy and to forgive, receive our humble petitions; and though we be tied and bound with the chain of our sins, yet let the pitifulneſs of thy great mercy looſe us; for the honour of Jeſus Chriſt, our Mediator and Advocate. *Amen.*

¶ *A Prayer for the High Court of Parliament, to be read during their Seſſion.*

MOST gracious God, we humbly beſeech thee, as for this Kingdom in general,

ſo eſpecially for the High Court of Parliament, under our moſt religious and gracious King at this time aſſembled: That thou wouldeſt be pleaſed to direct and proſper all their conſultations to the advancement of thy glory, the good of thy Church, the ſafety, honour, and welfare of our Sovereign, and his Dominions; that all things may be ſo ordered and ſettled by their endeavours, upon the beſt and ſureſt foundations, that peace and happineſs, truth and juſtice, religion and piety, may be eſtabliſhed among us for all generations. Theſe and all other neceſſaries, for them, for us, and thy whole Church, we humbly beg in the Name and Mediation of Jeſus Chriſt our moſt bleſſed Lord and Saviour. *Amen.*

¶ *A Collect or Prayer for all Conditions of men, to be uſed at ſuch times when the Litany is not appointed to be ſaid.*

O God, the Creator and Preſerver of all mankind, we humbly beſeech thee for all ſorts and conditions of men; that thou wouldeſt be pleaſed to make thy ways known unto them, thy ſaving health unto all nations. More eſpecially, we pray for the good eſtate of the Catholick Church; that it may be ſo guided and governed by thy good Spirit, that all who profeſs and call themſelves Chriſtians may be led into the way of truth, and hold

the faith in unity of ſpirit, in the bond of peace, and in righteouſneſs of life. Finally, we commend to thy fatherly goodneſs all thoſe, who are any ways afflicted, or diſtreſſed, in mind, body, or eſtate; [* *eſpecially thoſe for whom our prayers are deſired,*] that it may pleaſe thee to comfort and relieve them, according to their ſeveral neceſſities, giving them patience under their ſufferings, and a happy iſſue out of all their afflictions. And this we beg for Jeſus Chriſt his ſake. *Amen.*

* This to be said when any desire the Prayers of the Congregation.

THANKSGIVINGS.

¶ *A General Thankſgiving.*

ALMIGHTY God, Father of all mercies, we thine unworthy ſervants do give thee moſt humble and hearty thanks for all thy goodneſs and loving-kindneſs to us, and to all men; [* *particularly to thoſe who deſire now to offer up their praiſes and thankſgivings for thy late mercies vouchſafed unto them.*] We bleſs thee for our creation, preſervation, and all the bleſſings of this life; but above all, for thine ineſtimable love in the redemption of the world by our Lord Jeſus Chriſt; for the means of grace, and for the hope of glory. And, we beſeech thee, give us that due ſenſe of all thy mercies,

* This to be said when any that have been prayed for desire to return praise.

that our hearts may be unfeignedly thankful, and that we ſhew forth thy praiſe, not only with our lips, but in our lives; by giving up ourſelves to thy ſervice, and by walking before thee in holineſs and righteouſneſs all our days; through Jeſus Chriſt our Lord, to whom with thee and the Holy Ghoſt be all honour and glory, world without end. *Amen.*

For Rain.

O God our heavenly Father, who by thy gracious providence doſt cauſe the former and the latter rain to deſcend upon the earth, that it may bring forth fruit for the uſe of man; We give thee humble thanks that it hath pleaſed thee, in our great neceſſity, to ſend us at the laſt a joyful rain upon thine inheritance, and to refreſh it when it was dry, to the great comfort of us thy unworthy ſervants, and to the glory of thy holy Name; through thy mercies in Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For fair Weather.

O Lord God, who haſt juſtly humbled us by thy late plague of immoderate rain and waters, and in thy mercy haſt relieved and comforted our ſouls by this ſeaſonable and bleſſed change of weather; We praiſe and glorify thy holy Name for this thy mercy, and will always declare thy loving-kindneſs from

generation to generation; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For Plenty.

O Moſt merciful Father, who of thy gracious goodneſs haſt heard the devout prayers of thy Church, and turned our dearth and ſcarcity into cheapneſs and plenty; We give thee humble thanks for this thy ſpecial bounty; beſeeching thee to continue thy loving-kindneſs unto us, that our land may yield us her fruits of increaſe, to thy glory and our comfort; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For Peace and Deliverance from our Enemies.

O Almighty God, who art a ſtrong tower of defence unto thy ſervants againſt the face of their enemies; We yield thee praiſe and thankſgiving for our deliverance from thoſe great and apparent dangers wherewith we were compaſſed: We acknowledge it thy goodneſs that we were not delivered over as a prey unto them; beſeeching thee ſtill to continue ſuch thy mercies towards us, that all the world may know that thou art our Saviour and mighty Deliverer; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For reſtoring Publick Peace at Home.

O Eternal God, our heavenly Father, who alone makeſt men to be of one mind in

a houſe, and ſtilleſt the outrage of a violent and unruly people; We bleſs thy holy Name, that it hath pleaſed thee to appeaſe the ſeditious tumults which have been lately raiſed up amongſt us; moſt humbly beſeeching thee to grant to all of us grace, that we may henceforth obediently walk in thy holy commandments; and, leading a quiet and peaceable life in all godlineſs and honeſty, may continually offer unto thee our ſacrifice of praiſe and thankſgiving for theſe thy mercies towards us; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For Deliverance from the Plague, or other common Sickneſs.

O Lord God, who haſt wounded us for our ſins, and conſumed us for our tranſgreſſions, by thy late heavy and dreadful viſitation; and now, in the midſt of judgement remembering mercy, haſt redeemed our ſouls from the jaws of death; We offer unto thy fatherly goodneſs ourſelves, our ſouls and bodies which thou haſt delivered, to be a living ſacrifice unto thee, always praiſing and magnifying thy mercies in the midſt of thy Church; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

Or this.

WE humbly acknowledge before thee, O moſt merciful Father, that all the puniſhments which are threatened in thy law

might juſtly have fallen upon us, by reaſon of our manifold tranſgreſſions and hardneſs of heart: Yet ſeeing it hath pleaſed thee of thy tender mercy, upon our weak and unworthy humiliation, to aſſwage the contagious ſickneſs wherewith we lately have been ſore afflicted, and to reſtore the voice of joy and health into our dwellings; We offer unto thy Divine Majeſty the ſacrifice of praiſe and thankſgiving, lauding and magnifying thy glorious Name for ſuch thy preſervation and providence over us; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

THE

COLLECTS, EPISTLES, AND GOSPELS

TO BE USED THROUGHOUT THE YEAR.

¶ *Note, that the Collect appointed for every Sunday, or for any Holy-day that hath a Vigil or Eve, ſhall be ſaid at the Evening Service next before.*

The firſt Sunday in Advent.

The Collect.

ALMIGHTY God, give us grace that we may caſt away the works of darkneſs, and put upon us the armour of light, now in the time of this mortal life, in which thy Son Jeſus Chriſt came to viſit us in great humility; that in the laſt day, when he ſhall come

again in his glorious Majesty to judge both the quick and dead, we may rise to the life immortal, through him who liveth and reigneth with thee and the Holy Ghost, now and ever. *Amen.*

¶ *This Collect is to be repeated every day, with the other Collects in Advent, until Christmas-Eve.*

The Epistle. Rom. xiii. 8.

OWE no man any thing, but to love one another: for he that loveth another hath fulfilled the law. For this, Thou shalt not commit adultery, Thou shalt not kill, Thou shalt not steal, Thou shalt not bear false witness, Thou shalt not covet; and if there be any other commandment, it is briefly comprehended in this saying, namely, Thou shalt love thy neighbour as thyself. Love worketh no ill to his neighbour; therefore love is the fulfilling of the law. And that, knowing the time, that now it is high time to awake out of sleep: for now is our salvation nearer than when we believed. The night is far spent, the day is at hand; let us therefore cast off the works of darkness, and let us put on the armour of light. Let us walk honestly as in the day; not in rioting and drunkenness, not in chambering and wantonness, not in strife and envying. But put ye on the Lord Jesus Christ, and make not provision for the flesh, to fulfil the lusts thereof.

The firſt Sunday in Advent.

The Goſpel. St. Matth. xxi. 1.

WHEN they drew nigh unto Jeruſalem, and were come to Bethphage, unto the mount of Olives, then ſent Jeſus two diſciples, ſaying unto them, Go into the village over againſt you, and ſtraightway ye ſhall find an aſs tied, and a colt with her: looſe them, and bring them unto me. And if any man ſay ought unto you, ye ſhall ſay, The Lord hath need of them; and ſtraightway he will ſend them. All this was done, that it might be fulfilled which was ſpoken by the Prophet, ſaying, Tell ye the daughter of Sion, Behold, thy King cometh unto thee, meek, and ſitting upon an aſs, and a colt the foſe of an aſs. And the diſciples went, and did as Jeſus commanded them; and brought the aſs, and the colt, and put on them their clothes, and they ſet him thereon. And a very great multitude ſpread their garments in the way; others cut down branches from the trees, and ſtrawed them in the way. And the multitudes that went before, and that followed, cried, ſaying, Hoſanna to the ſon of David; Bleſſed is he that cometh in the Name of the Lord; Hoſanna in the higheſt. And when he was come into Jeruſalem all the city was moved, ſaying, Who is this? And the multitude ſaid, This is Jeſus the Prophet of Nazareth of Galilee. And Jeſus went into the temple of God,

and caſt out all them that ſold and bought in the temple; and overthrew the tables of the money-changers, and the ſeats of them that ſold doves; and ſaid unto them, It is written, My houſe ſhall be called the houſe of prayer; but ye have made it a den of thieves.

The ſecond Sunday in Advent.

The Collect.

BLESSED Lord, who haſt cauſed all holy Scriptures to be written for our learning; Grant that we may in ſuch wiſe hear them, read, mark, learn, and inwardly digeſt them, that by patience, and comfort of thy holy Word, we may embrace, and ever hold faſt the bleſſed hope of everlaſting life, which thou haſt given us in our Saviour Jeſus Chriſt. *Amen.*

The Epiſtle. Rom. xv. 4.

WHATSOEVER things were written aforetime, were written for our learning; that we through patience, and comfort of the Scriptures, might have hope. Now the God of patience and conſolation grant you to be like-minded one towards another, according to Chriſt Jeſus: that ye may with one mind, and one mouth, glorify God, even the Father of our Lord Jeſus Chriſt. Wherefore receive ye one another, as Chriſt alſo received us, to the glory of God. Now I ſay, that Jeſus

Chriſt was a miniſter of the circumciſion for the truth of God, to confirm the promiſes made unto the fathers: And that the Gentiles might glorify God for his mercy; as it is written, For this cauſe I will confeſs to thee among the Gentiles, and ſing unto thy Name. And again he ſaith, Rejoice, ye Gentiles, with his people. And again, Praiſe the Lord, all ye Gentiles, and laud him, all ye people. And again, Eſaias ſaith, There ſhall be a root of Jeſſe, and he that ſhall riſe to reign over the Gentiles, in him ſhall the Gentiles truſt. Now the God of hope fill you with all joy and peace in believing, that ye may abound in hope, through the power of the Holy Ghoſt.

The Goſpel. St. Luke xxi. 25.

AND there ſhall be ſigns in the ſun, and in the moon, and in the ſtars; and upon the earth diſtreſs of nations, with perplexity, the ſea and the waves roaring; men's hearts failing them for fear, and for looking after thoſe things which are coming on the earth: for the powers of heaven ſhall be ſhaken. And then ſhall they ſee the Son of Man coming in a cloud with power and great glory. And when theſe things begin to come to paſs, then look up, and lift up your heads; for your redemption draweth nigh. And he ſpake to them a parable, Behold the fig-tree, and all the trees; when they now ſhoot

forth, ye ſee and know of your own ſelves that ſummer is now nigh at hand. So likewiſe ye, when ye ſee theſe things come to paſs, know ye that the Kingdom of God is nigh at hand. Verily I ſay unto you, This generation ſhall not paſs away, till all be fulfilled: heaven and earth ſhall paſs away; but my words ſhall not paſs away.

The third Sunday in Advent.

The Collect.

O Lord Jeſu Chriſt, who at thy firſt coming didſt ſend thy meſſenger to prepare thy way before thee; Grant that the miniſters and ſtewards of thy myſteries may likewiſe ſo prepare and make ready thy way, by turning the hearts of the diſobedient to the wiſdom of the juſt, that at thy ſecond coming to judge the world we may be found an acceptable people in thy ſight, who liveſt and reigneſt with the Father and the Holy Spirit, ever one God, world without end. *Amen.*

The Epiſtle. 1 Cor. iv. 1.

LET a man ſo account of us, as of the miniſters of Chriſt, and ſtewards of the myſteries of God. Moreover, it is required in ſtewards, that a man be found faithful. But with me it is a very ſmall thing that I ſhould be judged of you, or of man's judgement: yea, I judge not mine own ſelf. For I know no-

thing by myſelf, yet am I not hereby juſtified; but he that judgeth me is the Lord. Therefore judge nothing before the time, until the Lord come, who both will bring to light the hidden things of darkneſs, and will make manifeſt the counſels of the hearts; and then ſhall every man have praiſe of God.

The Goſpel. St. Matth. xi. 2.

NOW when John had heard in the priſon the works of Chriſt, he ſent two of his diſciples, and ſaid unto him, Art thou he that ſhould come, or do we look for another? Jeſus anſwered and ſaid unto them, Go and ſhew John again thoſe things which ye do hear and ſee: The blind receive their ſight, and the lame walk, the lepers are cleanſed, and the deaf hear, the dead are raiſed up, and the poor have the Goſpel preached to them: And bleſſed is he whoſoever ſhall not be offended in me. And as they departed, Jeſus began to ſay unto the multitudes concerning John, What went ye out into the wilderneſs to ſee? a reed ſhaken with the wind? But what went ye out for to ſee? a man clothed in ſoft raiment? behold, they that wear ſoft clothing are in kings' houſes. But what went ye out for to ſee? a prophet? yea, I ſay unto you, and more than a prophet. For this is he of whom it is written, Behold, I ſend my meſ-

ſenger before thy face, which ſhall prepare thy way before thee.

The fourth Sunday in Advent.

The Collect.

O Lord, raiſe up (we pray thee) thy power, and come among us, and with great might ſuccour us; that whereas, through our ſins and wickedneſs, we are ſore let and hindered in running the race that is ſet before us, thy bountiful grace and mercy may ſpeedily help and deliver us; through the ſatisfaction of thy Son our Lord, to whom with thee and the Holy Ghoſt be honour and glory, world without end. *Amen.*

The Epiſtle. Phil. iv. 4.

REJOICE in the Lord alway, and again I ſay, Rejoice. Let your moderation be known unto all men. The Lord is at hand. Be careful for nothing: but in every thing, by prayer and ſupplication with thankſgiving, let your requeſts be made known unto God. And the peace of God, which paſſeth all underſtanding, ſhall keep your hearts and minds through Chriſt Jeſus.

The Goſpel. St. John i. 19.

THIS is the record of John, when the Jews ſent Prieſts and Levites from Jeruſalem to aſk him, Who art thou? And he confeſſed, and denied not; but confeſſed, I am

not the Chriſt. And they aſked him, What then? Art thou Elias? And he ſaith, I am not. Art thou that Prophet? And he anſwered, No. Then ſaid they unto him, Who art thou? that we may give an anſwer to them that ſent us. What ſayeſt thou of thyſelf? He ſaid, I am the voice of one crying in the wilderneſs, Make ſtraight the way of the Lord, as ſaid the prophet Eſaias. And they which were ſent were of the Phariſees. And they aſked him, and ſaid unto him, Why baptizeſt thou then, if thou be not that Chriſt, nor Elias, neither that Prophet? John anſwered them, ſaying, I baptize with water: but there ſtandeth one among you, whom ye know not: He it is who coming after me is preferred before me, whoſe ſhoe's latchet I am not worthy to unlooſe. Theſe things were done in Bethabara beyond Jordan, where John was baptizing.

The Nativity of our Lord, or the Birth-day of CHRIST, commonly called Chriſtmas-day.

The Collect.

ALMIGHTY God, who haſt given us thy only-begotten Son to take our nature upon him, and as at this time to be born of a pure Virgin; Grant that we being regenerate, and made thy children by adoption and grace, may daily be renewed by thy Holy

Spirit; through the ſame our Lord Jeſus Chriſt, who liveth and reigneth with thee and the ſame Spirit, ever one God, world without end. *Amen.*

The Epiſtle. Hebrews i. 1.

GOD, who at ſundry times and in divers manners ſpake in time paſt unto the fathers by the prophets, hath in theſe laſt days ſpoken unto us by his Son, whom he hath appointed heir of all things, by whom alſo he made the worlds; who being the brightneſs of his glory, and the expreſs image of his perſon, and upholding all things by the word of his power, when he had by himſelf purged our ſins, ſat down on the right hand of the Majeſty on high; being made ſo much better than the angels, as he hath by inheritance obtained a more excellent name than they. For unto which of the angels ſaid he at any time, Thou art my Son, this day have I begotten thee? And again, I will be to him a Father, and he ſhall be to me a Son? And again, when he bringeth in the firſt-begotten into the world, he ſaith, And let all the angels of God worſhip him. And of the angels he ſaith, Who maketh his angels ſpirits, and his miniſters a flame of fire. But unto the Son he ſaith, Thy throne, O God, is for ever and ever; a ſceptre of righteouſneſs is the ſceptre of thy kingdom: Thou haſt loved righteouſ-

neſs, and hated iniquity; therefore God, even thy God, hath anointed thee with the oil of gladneſs above thy fellows. And, Thou, Lord, in the beginning haſt laid the foundation of the earth; and the heavens are the works of thine hands: they ſhall periſh, but thou remaineſt; and they all ſhall wax old as doth a garment; and as a veſture ſhalt thou fold them up, and they ſhall be changed; but thou art the ſame, and thy years ſhall not fail.

The Goſpel. St. John i. 1.

IN the beginning was the Word, and the Word was with God, and the Word was God. The ſame was in the beginning with God. All things were made by him; and without him was not any thing made that was made. In him was life, and the life was the light of men. And the light ſhineth in darkneſs, and the darkneſs comprehended it not. There was a man ſent from God, whoſe name was John. The ſame came for a witneſs, to bear witneſs of the light, that all men through him might believe. He was not that light, but was ſent to bear witneſs of that light. That was the true light, which lighteth every man that cometh into the world. He was in the world, and the world was made by him, and the world knew him not. He came unto his own, and his own received him not. But as many as received him, to them gave he

power to become the ſons of God, even to them that believe on his Name: which were born, not of blood, nor of the will of the fleſh, nor of the will of man, but of God. And the Word was made fleſh, and dwelt among us (and we beheld his glory, the glory as of the only-begotten of the Father) full of grace and truth.

Saint Stephen's Day.

The Collect.

GRANT, O Lord, that, in all our ſufferings here upon earth for the teſtimony of thy truth, we may ſtedfaſtly look up to heaven, and by faith behold the glory that ſhall be revealed; and, being filled with the holy Ghoſt, may learn to love and bleſs our perſecutors by the example of thy firſt Martyr Saint Stephen, who prayed for his murderers to thee, O bleſſed Jeſus, who ſtandeſt at the right hand of God to ſuccour all thoſe that ſuffer for thee, our only Mediator and Advocate. *Amen.*

¶ *Then ſhall follow the Collect of the Nativity, which ſhall be ſaid continually unto New-year's Eve.*

For the Epiſtle. Acts vii. 55.

STEPHEN, being full of the holy Ghoſt, looked up ſtedfaſtly into heaven, and ſaw the glory of God, and Jeſus ſtanding on the right hand of God, and ſaid, Behold, I ſee

the heavens opened, and the Son of Man ſtanding on the right hand of God. Then they cried out with a loud voice, and ſtopped their ears, and ran upon him with one accord, and caſt him out of the city, and ſtoned him: and the witneſſes laid down their clothes at a young man's feet, whoſe name was Saul. And they ſtoned Stephen, calling upon God, and ſaying, Lord Jeſus, receive my ſpirit. And he kneeled down, and cried with a loud voice, Lord, lay not this ſin to their charge. And when he had ſaid this, he fell aſleep.

The Goſpel. St. Matth. xxiii. 34.

BEHOLD, I ſend unto you prophets, and wiſe men, and ſcribes; and ſome of them ye ſhall kill and crucify; and ſome of them ſhall ye ſcourge in your ſynagogues, and perſecute them from city to city; that upon you may come all the righteous blood ſhed upon the earth, from the blood of righteous Abel unto the blood of Zacharias, ſon of Barachias, whom ye ſlew between the temple and the altar. Verily I ſay unto you, All theſe things ſhall come upon this generation. O Jeruſalem, Jeruſalem, thou that killeſt the prophets, and ſtoneſt them which are ſent unto thee; how often would I have gathered thy children together, even as a hen gathereth her chickens under her wings, and ye would not! Behold, your houſe is left unto you deſolate. For I

ſay unto you, Ye ſhall not ſee me henceforth, till ye ſhall ſay, Bleſſed is he that cometh in the Name of the Lord.

Saint John the Evangeliſt's Day.

The Collect.

MERCIFUL Lord, we beſeech thee to caſt thy bright beams of light upon thy Church, that it being enlightened by the doctrine of thy bleſſed Apoſtle and Evangeliſt Saint John may ſo walk in the light of thy truth, that it may at length attain to the light of everlaſting life; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. 1 St. John i. 1.

THAT which was from the beginning, which we have heard, which we have ſeen with our eyes, which we have looked upon, and our hands have handled of the word of life; (for the life was manifeſted, and we have ſeen it, and bear witneſs, and ſhew unto you that eternal life, which was with the Father, and was manifeſted unto us;) That which we have ſeen and heard declare we unto you, that ye alſo may have fellowſhip with us; and truly our fellowſhip is with the Father, and with his Son Jeſus Chriſt. And theſe things write we unto you, that your joy may be full. This then is the meſſage which we have heard of him, and declare unto you, That God is

light, and in him is no darkneſs at all. If we ſay that we have fellowſhip with him, and walk in darkneſs, we lie, and do not the truth: but if we walk in the light, as he is in the light, we have fellowſhip one with another, and the blood of Jeſus Chriſt his Son cleanſeth us from all ſin. If we ſay that we have no ſin, we deceive ourſelves, and the truth is not in us. If we confeſs our ſins, he is faithful and juſt to forgive us our ſins, and to cleanſe us from all unrighteouſneſs. If we ſay that we have not ſinned, we make him a liar, and his word is not in us.

The Goſpel. St. John xxi. 19.

JESUS ſaid unto Peter, Follow me. Then Peter, turning about, ſeeth the diſciple whom Jeſus loved following; which alſo leaned on his breaſt at ſupper, and ſaid, Lord, which is he that betrayeth thee? Peter ſeeing him ſaith to Jeſus, Lord, and what ſhall this man do? Jeſus ſaith unto him, If I will that he tarry till I come, what is that to thee? Follow thou me. Then went this ſaying abroad among the brethren, That that diſciple ſhould not die: yet Jeſus ſaid not unto him, He ſhall not die; but, If I will that he tarry till I come, what is that to thee? This is the diſciple which teſtifieth of theſe things, and wrote theſe things, and we know that his teſtimony is true. And there are alſo many other things

which Jeſus did, the which if they ſhould be written every one, I ſuppoſe, that even the world itſelf could not contain the books that ſhould be written.

The Innocents' Day.

The Collect.

O Almighty God, who out of the mouths of babes and ſucklings haſt ordained ſtrength, and madeſt infants to glorify thee by their deaths; Mortify and kill all vices in us, and ſo ſtrengthen us by thy grace, that by the innocency of our lives, and conſtancy of our faith even unto death, we may glorify thy holy Name; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For the Epiſtle. Rev. xiv. 1.

I Looked, and lo, a Lamb ſtood on the mount Sion, and with him an hundred forty and four thouſand, having his Father's Name written in their foreheads. And I heard a voice from heaven, as the voice of many waters, and as the voice of a great thunder: and I heard the voice of harpers harping with their harps: and they ſung as it were a new ſong before the throne, and before the four beaſts, and the elders; and no man could learn that ſong, but the hundred and forty and four thouſand, which were redeemed from the earth. Theſe are they which were not defiled with women, for they are virgins: theſe

are they which follow the Lamb whitherſoever he goeth: theſe were redeemed from among men, being the firſt-fruits unto God, and to the Lamb. And in their mouth was found no guile; for they are without fault before the throne of God.

The Goſpel. St. Matth. ii. 13.

THE Angel of the Lord appeareth to Joſeph in a dream, ſaying, Ariſe, and take the young child, and his mother, and flee into Egypt, and be thou there until I bring thee word; for Herod will ſeek the young child to deſtroy him. When he aroſe, he took the young child and his mother by night, and departed into Egypt, and was there until the death of Herod; that it might be fulfilled which was ſpoken of the Lord by the prophet, ſaying, Out of Egypt have I called my Son. Then Herod, when he ſaw that he was mocked of the wiſe men, was exceeding wroth; and ſent forth, and ſlew all the children that were in Bethlehem, and in all the coaſts thereof, from two years old and under, according to the time which he had diligently enquired of the wiſe men. Then was fulfilled that which was ſpoken by Jeremy the prophet, ſaying, In Rama was there a voice heard, lamentation, and weeping, and great mourning, Rachel weeping for her children, and would not be comforted, becauſe they are not.

The Sunday after Chriſtmas-day.

The Collect.

ALMIGHTY God, who haſt given us thy only-begotten Son to take our nature upon him, and as at this time to be born of a pure Virgin; Grant that we being regenerate, and made thy children by adoption and grace, may daily be renewed by thy Holy Spirit; through the ſame our Lord Jeſus Chriſt, who liveth and reigneth with thee and the ſame Spirit, ever one God, world without end. *Amen.*

The Epiſtle. Gal. iv. 1.

NOW I ſay, that the heir, as long as he is a child, differeth nothing from a ſervant, though he be lord of all; but is under tutors and governours, until the time appointed of the father. Even ſo we, when we were children, were in bondage under the elements of the world: but when the fulneſs of the time was come, God ſent forth his Son, made of a woman, made under the law, to redeem them that were under the law, that we might receive the adoption of ſons. And becauſe ye are ſons, God hath ſent forth the Spirit of his Son into your hearts, crying, Abba, Father. Wherefore thou art no more a ſervant, but a ſon; and if a ſon, then an heir of God through Chriſt.

The Goſpel. St. Matth. i. 18.

THE birth of Jeſus Chriſt was on this wiſe: When as his mother Mary was eſpouſed

to Joſeph, before they came together ſhe was found with child of the Holy Ghoſt. Then Joſeph her huſband, being a juſt man, and not willing to make her a publick example, was minded to put her away privily. But while he thought on theſe things, behold, the angel of the Lord appeared unto him in a dream, ſaying, Joſeph thou ſon of David, fear not to take unto thee Mary thy wife; for that which is conceived in her is of the Holy Ghoſt: And ſhe ſhall bring forth a Son, and thou ſhalt call his name JESUS; for he ſhall ſave his people from their ſins. (Now all this was done, that it might be fulfilled which was ſpoken of the Lord by the prophet, ſaying, Behold, a Virgin ſhall be with child, and ſhall bring forth a Son, and they ſhall call his name Emmanuel, which being interpreted is, God with us.) Then Joſeph, being raiſed from ſleep, did as the angel of the Lord had bidden him, and took unto him his wife; and knew her not till ſhe had brought forth her firſt-born ſon: and he called his name JESUS.

The Circumciſion of Chriſt.

The Collect.

ALMIGHTY God, who madeſt thy bleſſed Son to be circumciſed, and obedient to the law for man; Grant us the true Circumciſion of the Spirit; that, our hearts, and

all our members, being mortified from all worldly and carnal luſts, we may in all things obey thy bleſſed will; through the ſame thy Son Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Rom. iv. 8.

BLESSED is the man to whom the Lord will not impute ſin. Cometh this bleſſedneſs then upon the circumciſion only, or upon the uncircumciſion alſo? For we ſay, that faith was reckoned to Abraham for righteouſneſs. How was it then reckoned? when he was in circumciſion, or in uncircumciſion? Not in circumciſion, but in uncircumciſion. And he received the ſign of circumciſion, a ſeal of the righteouſneſs of the faith which he had yet being uncircumciſed; that he might be the father of all them that believe, though they be not circumciſed; that righteouſneſs might be imputed unto them alſo: And the father of circumciſion to them who are not of the circumciſion only, but alſo walk in the ſteps of that faith of our father Abraham, which he had being yet uncircumciſed. For the promiſe, that he ſhould be the heir of the world, was not to Abraham, or to his ſeed, through the law, but through the righteouſneſs of faith. For if they which are of the law be heirs, faith is made void, and the promiſe made of none effect.

The Epiphany.

The Gospel. St. Luke ii. 15.

AND it came to pass, as the angels were gone away from them into heaven, the shepherds said one to another, Let us now go even unto Bethlehem, and see this thing which is come to pass, which the Lord hath made known unto us. And they came with haste, and found Mary and Joseph, and the babe lying in a manger. And when they had seen it, they made known abroad the saying which was told them concerning this child. And all they that heard it wondered at those things which were told them by the shepherds. But Mary kept all these things, and pondered them in her heart. And the shepherds returned, glorifying and praising God for all the things that they had heard and seen, as it was told unto them. And when eight days were accomplished for the circumcising of the child, his name was called JESUS, which was so named of the angel before he was conceived in the womb.

¶ *The same Collect, Epistle, and Gospel shall serve for every day after unto the Epiphany.*

The Epiphany, or the Manifestation of Christ to the Gentiles.

The Collect.

O God, who by the leading of a star didst manifest thy only-begotten Son to the Gentiles; Mercifully grant, that we, which

know thee now by faith, may after this life have the fruition of thy glorious Godhead; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Epheſ. iii. 1.

FOR this cauſe, I Paul, the priſoner of Jeſus Chriſt for you Gentiles; if ye have heard of the diſpenſation of the grace of God, which is given me to you-ward: How that by revelation he made known unto me the myſtery (as I wrote afore in few words, whereby, when ye read, ye may underſtand my knowledge in the myſtery of Chriſt) which in other ages was not made known unto the ſons of men, as it is now revealed unto his holy Apoſtles and Prophets by the Spirit; That the Gentiles ſhould be fellow-heirs, and of the ſame body, and partakers of his promiſe in Chriſt, by the Goſpel: whereof I was made a miniſter, according to the gift of the grace of God given unto me by the effectual working of his power. Unto me, who am leſs than the leaſt of all ſaints, is this grace given, that I ſhould preach among the Gentiles the unſearchable riches of Chriſt; and to make all men ſee what is the fellowſhip of the myſtery, which from the beginning of the world hath been hid in God, who created all things by Jeſus Chriſt: to the intent, that now unto the principalities and powers in heavenly places might be known by the Church

the manifold wiſdom of God, according to the eternal purpoſe which he purpoſed in Chriſt Jeſus our Lord: In whom we have boldneſs and acceſs with confidence by the faith of him.

The Goſpel. St. Matth. ii. 1.

WHEN Jeſus was born in Bethlehem of Judæa, in the days of Herod the king, behold, there came wiſe men from the eaſt to Jeruſalem, ſaying, Where is he that is born King of the Jews? for we have ſeen his ſtar in the eaſt, and are come to worſhip him. When Herod the king had heard theſe things, he was troubled, and all Jeruſalem with him. And when he had gathered all the chief prieſts and ſcribes of the people together, he demanded of them, where Chriſt ſhould be born. And they ſaid unto him, In Bethlehem of Judæa: for thus it is written by the prophet, And thou, Bethlehem, in the land of Juda, art not the leaſt among the princes of Juda: for out of thee ſhall come a Governour that ſhall rule my people Iſrael. Then Herod, when he had privily called the wiſe men, enquired of them diligently what time the ſtar appeared. And he ſent them to Bethlehem, and ſaid, Go, and ſearch diligently for the young child, and when ye have found him, bring me word again, that I may come and worſhip him alſo. When they had heard the

king, they departed; and lo, the ſtar which they ſaw in the eaſt went before them, till it came and ſtood over where the young child was. When they ſaw the ſtar, they rejoiced with exceeding great joy. And when they were come into the houſe, they ſaw the young child with Mary his mother, and fell down and worſhipped him: and when they had opened their treaſures, they preſented unto him gifts; gold, and frankincenſe, and myrrh. And being warned of God in a dream that they ſhould not return to Herod, they departed into their own country another way.

The firſt Sunday after the Epiphany.

The Collect.

O Lord, we beſeech thee mercifully to receive the prayers of thy people which call upon thee; and grant that they may both perceive and know what things they ought to do, and alſo may have grace and power faithfully to fulfil the ſame; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Rom. xii. 1.

I Beſeech you therefore, brethren, by the mercies of God, that ye preſent your bodies a living ſacrifice, holy, acceptable unto God, which is your reaſonable ſervice. And be not conformed to this world; but be ye transformed by the renewing of your mind,

that ye may prove what is that good, and acceptable, and perfect will of God. For I ſay, through the grace given unto me, to every man that is among you, not to think of himſelf more highly than he ought to think, but to think ſoberly, according as God hath dealt to every man the meaſure of faith. For as we have many members in one body, and all members have not the ſame office; ſo we, being many, are one body in Chriſt, and every one members one of another.

The Goſpel. St. Luke ii. 41.

NOW his parents went to Jeruſalem every year at the feaſt of the paſſover. And when he was twelve years old, they went up to Jeruſalem, after the cuſtom of the feaſt. And when they had fulfilled the days, as they returned, the child Jeſus tarried behind in Jeruſalem; and Joſeph and his mother knew not of it. But they, ſuppoſing him to have been in the company, went a day's journey, and they ſought him among their kinsfolk and acquaintance. And when they found him not, they turned back again to Jeruſalem, ſeeking him. And it came to paſs, that after three days they found him in the temple, ſitting in the midſt of the doctors, both hearing them, and aſking them queſtions. And all that heard him were aſtoniſhed at his underſtanding and anſwers. And when they ſaw him, they were

amazed: and his mother ſaid unto him, Son, why haſt thou thus dealt with us? behold, thy father and I have ſought thee ſorrowing. And he ſaid unto them, How is it that ye ſought me? wiſt ye not that I muſt be about my Father's buſineſs? And they underſtood not the ſaying which he ſpake unto them. And he went down with them, and came to Nazareth, and was ſubject unto them: but his mother kept all theſe ſayings in her heart. And Jeſus increaſed in wiſdom, and ſtature, and in favour with God and man.

The ſecond Sunday after the Epiphany.

The Collect.

ALMIGHTY and everlaſting God, who doſt govern all things in heaven and earth; Mercifully hear the ſupplications of thy people, and grant us thy peace all the days of our life; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Rom. xii. 6.

HAVING then gifts differing according to the grace that is given to us, whether prophecy, let us propheſy according to the proportion of faith; or miniſtry, let us wait on our miniſtering; or he that teacheth, on teaching; or he that exhorteth, on exhortation: he that giveth, let him do it with ſimplicity; he that ruleth, with diligence; he

that ſheweth mercy, with cheerfulneſs. Let love be without diſſimulation. Abhor that which is evil, cleave to that which is good. Be kindly affectioned one to another with brotherly love, in honour preferring one another: not ſlothful in buſineſs; fervent in ſpirit; ſerving the Lord; rejoicing in hope; patient in tribulation; continuing inſtant in prayer; diſtributing to the neceſſity of ſaints; given to hoſpitality. Bleſs them which perſecute you; bleſs, and curſe not. Rejoice with them that do rejoice, and weep with them that weep. Be of the ſame mind one towards another. Mind not high things, but condeſcend to men of low eſtate.

The Goſpel. St. John ii. 1.

AND the third day there was a marriage in Cana of Galilee, and the mother of Jeſus was there. And both Jeſus was called, and his diſciples, to the marriage. And when they wanted wine, the mother of Jeſus ſaith unto him, They have no wine. Jeſus ſaith unto her, Woman, what have I to do with thee? mine hour is not yet come. His mother ſaith unto the ſervants, Whatſoever he ſaith unto you, do it. And there were ſet there ſix water-pots of ſtone, after the manner of the purifying of the Jews, containing two or three firkins apiece. Jeſus ſaith unto them, Fill the water-pots with water. And

they filled them up to the brim. And he ſaith unto them, Draw out now, and bear unto the governour of the feaſt. And they bare it. When the ruler of the feaſt had taſted the water that was made wine, and knew not whence it was, (but the ſervants which drew the water knew,) the governour of the feaſt called the bridegroom, and ſaith unto him, Every man at the beginning doth ſet forth good wine, and when men have well drunk, then that which is worſe: but thou haſt kept the good wine until now. This beginning of miracles did Jeſus in Cana of Galilee, and manifeſted forth his glory, and his diſciples believed on him.

The third Sunday after the Epiphany.

The Collect.

ALMIGHTY and everlaſting God, mercifully look upon our infirmities, and in all our dangers and neceſſities ſtretch forth thy right hand to help and defend us; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Rom. xii. 16.

BE not wiſe in your own conceits. Recompenſe to no man evil for evil. Provide things honeſt in the ſight of all men. If it be poſſible, as much as lieth in you, live peaceably with all men. Dearly beloved, avenge not yourſelves, but rather give place

unto wrath; for it is written, Vengeance is mine; I will repay, ſaith the Lord. Therefore, if thine enemy hunger, feed him; if he thirſt, give him drink: for in ſo doing thou ſhalt heap coals of fire on his head. Be not overcome of evil, but overcome evil with good.

The Goſpel. St. Matth. viii. 1.

WHEN he was come down from the mountain, great multitudes followed him. And behold, there came a leper and worſhipped him, ſaying, Lord, if thou wilt, thou canſt make me clean. And Jeſus put forth his hand, and touched him, ſaying, I will; be thou clean. And immediately his leproſy was cleanſed. And Jeſus ſaith unto him, See thou tell no man, but go thy way, ſhew thyſelf to the prieſt, and offer the gift that Moſes commanded, for a teſtimony unto them. And when Jeſus was entered into Capernaum, there came unto him a centurion beſeeching him, and ſaying, Lord, my ſervant lieth at home ſick of the palſy, grievouſly tormented. And Jeſus ſaith unto him, I will come and heal him. The centurion anſwered and ſaid, Lord, I am not worthy that thou ſhouldeſt come under my roof; but ſpeak the word only, and my ſervant ſhall be healed. For I am a man under authority, having ſoldiers under me: and I ſay unto this man, Go,

and he goeth; and to another, Come, and he cometh; and to my ſervant, Do this, and he doeth it. When Jeſus heard it, he marvelled, and ſaid to them that followed, Verily I ſay unto you, I have not found ſo great faith, no not in Iſrael. And I ſay unto you, That many ſhall come from the eaſt and weſt, and ſhall ſit down with Abraham, and Iſaac, and Jacob, in the kingdom of heaven. But the children of the kingdom ſhall be caſt out into outer darkneſs: there ſhall be weeping and gnaſhing of teeth. And Jeſus ſaid unto the centurion, Go thy way, and as thou haſt believed, ſo be it done unto thee. And his ſervant was healed in the ſelf-ſame hour.

The fourth Sunday after the Epiphany.

The Collect.

O God, who knoweſt us to be ſet in the midſt of ſo many and great dangers, that by reaſon of the frailty of our nature we cannot always ſtand upright; Grant to us ſuch ſtrength and protection, as may ſupport us in all dangers, and carry us through all temptations; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Rom. xiii. 1.

LET every ſoul be ſubject unto the higher powers; for there is no power but of God: the powers that be are ordained of God. Whoſoever therefore reſiſteth the power

reſiſteth the ordinance of God: and they that reſiſt ſhall receive to themſelves damnation. For rulers are not a terror to good works, but to the evil. Wilt thou then not be afraid of the power? do that which is good, and thou ſhalt have praiſe of the ſame: for he is the miniſter of God to thee for good. But if thou do that which is evil, be afraid; for he beareth not the ſword in vain: for he is the miniſter of God, a revenger to execute wrath upon him that doeth evil. Wherefore ye muſt needs be ſubject, not only for wrath, but alſo for conſcience ſake. For for this cauſe pay ye tribute alſo; for they are God's miniſters, attending continually upon this very thing. Render therefore to all their dues; tribute to whom tribute is due, cuſtom to whom cuſtom, fear to whom fear, honour to whom honour.

The Goſpel. St. Matth. viii. 23.

AND when he was entered into a ſhip, his diſciples followed him. And behold, there aroſe a great tempeſt in the ſea, inſomuch that the ſhip was covered with the waves: but he was aſleep. And his diſciples came to him, and awoke him, ſaying, Lord, ſave us, we periſh. And he ſaith unto them, Why are ye fearful, O ye of little faith? Then he aroſe, and rebuked the winds and the ſea, and there was a great calm. But the men marvelled, ſaying, What manner of man

is this, that even the winds and the ſea obey him! And when he was come to the other ſide into the country of the Gergeſenes, there met him two poſſeſſed with devils, coming out of the tombs, exceeding fierce, ſo that no man might paſs by that way. And behold, they cried out, ſaying, What have we to do with thee, Jeſus, thou Son of God? art thou come hither to torment us before the time? And there was a good way off from them an herd of many ſwine, feeding. So the devils beſought him, ſaying, If thou caſt us out, ſuffer us to go away into the herd of ſwine. And he ſaid unto them, Go. And when they were come out, they went into the herd of ſwine: and behold, the whole herd of ſwine ran violently down a ſteep place into the ſea, and periſhed in the waters. And they that kept them fled, and went their ways into the city, and told every thing, and what was befallen to the poſſeſſed of the devils. And behold, the whole city came out to meet Jeſus: and when they ſaw him, they beſought him, that he would depart out of their coaſts.

The fifth Sunday after the Epiphany.

The Collect.

O Lord, we beſeech thee to keep thy Church and houſhold continually in thy true religion; that they who do lean only upon the

hope of thy heavenly grace may evermore be defended by thy mighty power; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Col. iii. 12.

PUT on therefore, as the elect of God, holy and beloved, bowels of mercies, kindneſs, humbleneſs of mind, meekneſs, long-ſuffering; forbearing one another, and forgiving one another, if any man have a quarrel againſt any; even as Chriſt forgave you, ſo alſo do ye. And above all theſe things put on charity, which is the bond of perfectneſs. And let the peace of God rule in your hearts, to the which alſo ye are called in one body; and be ye thankful. Let the word of Chriſt dwell in you richly in all wiſdom, teaching and admoniſhing one another in pſalms, and hymns, and ſpiritual ſongs, ſinging with grace in your hearts to the Lord. And whatſoever ye do, in word or deed, do all in the name of the Lord Jeſus, giving thanks to God and the Father by him.

The Goſpel. St. Matth. xiii. 24.

THE kingdom of heaven is likened unto a man which ſowed good ſeed in his field. But while men ſlept, his enemy came and ſowed tares among the wheat, and went his way. But when the blade was ſprung up, and brought forth fruit, then appeared the tares alſo. So the ſervants of the houſholder

came, and ſaid unto him, Sir, didſt not thou ſow good ſeed in thy field? from whence then hath it tares? He ſaid unto them, An enemy hath done this. The ſervants ſaid unto him, Wilt thou then that we go and gather them up? But he ſaid, Nay; leſt while ye gather up the tares, ye root up alſo the wheat with them. Let both grow together until the harveſt; and in the time of harveſt I will ſay to the reapers, Gather ye together firſt the tares, and bind them in bundles to burn them: but gather the wheat into my barn.

The ſixth Sunday after the Epiphany.

The Collect.

O God, whoſe bleſſed Son was manifeſted that he might deſtroy the works of the devil, and make us the ſons of God, and heirs of eternal life; Grant us, we beſeech thee, that, having this hope, we may purify ourſelves, even as he is pure; that, when he ſhall appear again with power and great glory, we may be made like unto him in his eternal and glorious kingdom; where with thee, O Father, and thee, O Holy Ghoſt, he liveth and reigneth, ever one God, world without end. *Amen.*

The Epiſtle. 1 St. John iii. 1.

BEHOLD, what manner of love the Father hath beſtowed upon us, that we ſhould be called the ſons of God: therefore

the world knoweth us not, becauſe it knew him not. Beloved, now are we the ſons of God, and it doth not yet appear what we ſhall be: but we know, that, when he ſhall appear, we ſhall be like him; for we ſhall ſee him as he is. And every man that hath this hope in him purifieth himſelf, even as he is pure. Whoſoever committeth ſin tranſgreſſeth alſo the law: for ſin is the tranſgreſſion of the law. And ye know that he was manifeſted to take away our ſins; and in him is no ſin. Whoſoever abideth in him ſinneth not: whoſoever ſinneth hath not ſeen him, neither known him. Little children, let no man deceive you: he that doeth righteouſneſs is righteous, even as he is righteous. He that committeth ſin is of the devil: for the devil ſinneth from the beginning. For this purpoſe the Son of God was manifeſted, that he might deſtroy the works of the devil.

The Goſpel. St. Matth. xxiv. 23.

THEN if any man ſhall ſay unto you, Lo, here is Chriſt, or there; believe it not. For there ſhall ariſe falſe Chriſts, and falſe prophets, and ſhall ſhew great ſigns and wonders; inſomuch that (if it were poſſible) they ſhall deceive the very elect. Behold, I have told you before. Wherefore, if they ſhall ſay unto you, Behold, he is in the deſert; go not forth: behold, he is in the ſecret chambers;

believe it not. For as the lightning cometh out of the eaſt, and ſhineth even unto the weſt; ſo ſhall alſo the coming of the Son of Man be. For whereſoever the carcaſe is, there will the eagles be gathered together. Immediately after the tribulation of thoſe days ſhall the ſun be darkened, and the moon ſhall not give her light, and the ſtars ſhall fall from heaven, and the powers of the heavens ſhall be ſhaken. And then ſhall appear the ſign of the Son of Man in heaven: and then ſhall all the tribes of the earth mourn, and they ſhall ſee the Son of Man coming in the clouds of heaven, with power and great glory. And he ſhall ſend his angels with a great ſound of a trumpet, and they ſhall gather together his elect from the four winds, from one end of heaven to the other.

The Sunday called Septuageſima, or the third Sunday before Lent.

The Collect.

O Lord, we beſeech thee favourably to hear the prayers of thy people; that we, who are juſtly puniſhed for our offences, may be mercifully delivered by thy goodneſs, for the glory of thy Name; through Jeſus Chriſt our Saviour, who liveth and reigneth with thee and the Holy Ghoſt, ever one God, world without end. *Amen.*

Septuageſima Sunday.

The Epiſtle. 1 Cor. ix. 24.

KNOW ye not, that they which run in a race run all, but one receiveth the prize? So run that ye may obtain. And every man that ſtriveth for the maſtery is temperate in all things: now they do it to obtain a corruptible crown, but we an incorruptible. I therefore ſo run, not as uncertainly; ſo fight I, not as one that beateth the air: but I keep under my body, and bring it into ſubjection, leſt that by any means, when I have preached to others, I myſelf ſhould be a caſt-away.

The Goſpel. St. Matth. xx. 1.

THE kingdom of heaven is like unto a man that is an houſholder, which went out early in the morning to hire labourers into his vineyard. And when he had agreed with the labourers for a peny a day, he ſent them into his vineyard. And he went out about the third hour, and ſaw others ſtanding idle in the market-place, and ſaid unto them, Go ye alſo into the vineyard, and whatſoever is right I will give you. And they went their way. Again he went out about the ſixth and ninth hour, and did likewiſe. And about the eleventh hour he went out, and found others ſtanding idle, and ſaith unto them, Why ſtand ye here all the day idle? They ſay unto him, becauſe no man hath hired us. He ſaith unto

them, Go ye alſo into the vineyard, and whatſoever is right, that ſhall ye receive. So when even was come, the lord of the vineyard ſaith unto his ſteward, Call the labourers, and give them their hire, beginning from the laſt unto the firſt. And when they came that were hired about the eleventh hour, they received every man a peny. But when the firſt came, they ſuppoſed that they ſhould have received more; and they likewiſe received every man a peny. And when they had received it, they murmured againſt the good-man of the houſe, ſaying, Theſe laſt have wrought but one hour, and thou haſt made them equal unto us, which have borne the burden and heat of the day. But he anſwered one of them, and ſaid, Friend, I do thee no wrong; didſt not thou agree with me for a peny? Take that thine is, and go thy way; I will give unto this laſt even as unto thee. Is it not lawful for me to do what I will with mine own? Is thine eye evil, becauſe I am good? So the laſt ſhall be firſt, and the firſt laſt: for many be called, but few choſen.

The Sunday called Sexageſima, or the ſecond Sunday before Lent.

The Collect.

O Lord God, who ſeeſt that we put not our truſt in any thing that we do; Mercifully

grant that by thy power we may be defended againſt all adverſity; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. 2 Cor. xi. 19.

YE ſuffer fools gladly, ſeeing ye yourſelves are wiſe. For ye ſuffer if a man bring you into bondage, if a man devour you, if a man take of you, if a man exalt himſelf, if a man ſmite you on the face. I ſpeak as concerning reproach, as though we had been weak: howbeit, whereinſoever any is bold, (I ſpeak fooliſhly,) I am bold alſo. Are they Hebrews? ſo am I. Are they Iſraelites? ſo am I. Are they the ſeed of Abraham? ſo am I. Are they miniſters of Chriſt? (I ſpeak as a fool,) I am more: in labours more abundant; in ſtripes above meaſure; in priſons more frequent; in deaths oft. Of the Jews five times received I forty ſtripes ſave one; thrice was I beaten with rods; once was I ſtoned; thrice I ſuffered ſhipwreck; a night and a day I have been in the deep; in journeying often; in perils of waters; in perils of robbers; in perils by mine own countrymen; in perils by the heathen; in perils in the city; in perils in the wilderneſs; in perils in the ſea; in perils among falſe brethren; in wearineſs and painfulneſs; in watchings often; in hunger and thirſt; in faſtings often; in cold and nakedneſs; beſides thoſe things that are

without, that which cometh upon me daily, the care of all the churches. Who is weak, and I am not weak? who is offended, and I burn not? If I muſt needs glory, I will glory of the things which concern mine infirmities. The God and Father of our Lord Jeſus Chriſt, which is bleſſed for evermore, knoweth that I lie not.

The Goſpel. St. Luke viii. 4.

WHEN much people were gathered together, and were come to him out of every city, he ſpake by a parable: A ſower went out to ſow his ſeed; and as he ſowed, ſome fell by the way-ſide, and it was trodden down, and the fowls of the air devoured it. And ſome fell upon a rock, and as ſoon as it was ſprung up, it withered away, becauſe it lacked moiſture. And ſome fell among thorns, and the thorns ſprang up with it, and choked it. And other fell on good ground, and ſprang up, and bare fruit an hundred-fold. And when he had ſaid theſe things, he cried, He that hath ears to hear, let him hear. And his diſciples aſked him, ſaying, What might this parable be? And he ſaid, Unto you it is given to know the myſteries of the kingdom of God: but to others in parables; that ſeeing they might not ſee, and hearing they might not underſtand. Now the parable is this: The ſeed is the Word of God. Thoſe

by the way-ſide are they that hear; then cometh the devil, and taketh away the word out of their hearts, leſt they ſhould believe, and be ſaved. They on the rock are they, which, when they hear, receive the word with joy; and theſe have no root, which for a while believe, and in time of temptation fall away. And that which fell among thorns, are they, which, when they have heard, go forth, and are choaked with cares, and riches, and pleaſures of this life, and bring no fruit to perfection. But that on the good ground, are they, which in an honeſt and good heart, having heard the word, keep it, and bring forth fruit with patience.

The Sunday called Quinquageſima, or the next Sunday before Lent.

The Collect.

O Lord, who haſt taught us that all our doings without charity are nothing worth; Send thy Holy Ghoſt, and pour into our hearts that moſt excellent gift of charity, the very bond of peace and of all virtues, without which whoſoever liveth is counted dead before thee: Grant this for thine only Son Jeſus Chriſt's ſake. *Amen.*

The Epiſtle. 1 Cor. xiii. 1.

THOUGH I ſpeak with the tongues of men and of angels, and have not charity,

I am become as ſounding braſs, or a tinkling cymbal. And though I have the gift of prophecy, and underſtand all myſteries, and all knowledge; and though I have all faith, ſo that I could remove mountains, and have no charity, I am nothing. And though I beſtow all my goods to feed the poor, and though I give my body to be burned, and have not charity, it profiteth me nothing. Charity ſuffereth long, and is kind; charity envieth not; charity vaunteth not itſelf, is not puffed up, doth not behave itſelf unſeemly, ſeeketh not her own, is not eaſily provoked, thinketh no evil, rejoiceth not in iniquity, but rejoiceth in the truth; beareth all things, believeth all things, hopeth all things, endureth all things. Charity never faileth: but whether there be prophecies, they ſhall fail; whether there be tongues, they ſhall ceaſe; whether there be knowledge, it ſhall vaniſh away. For we know in part, and we propheſy in part. But when that which is perfect is come, then that which is in part ſhall be done away. When I was a child, I ſpake as a child, I underſtood as a child, I thought as a child; but when I became a man, I put away childiſh things. For now we ſee through a glaſs darkly; but then face to face: now I know in part; but then ſhall I know even as alſo I am known. And now abideth faith, hope,

charity, theſe three; but the greateſt of theſe is charity.

The Goſpel. St. Luke xviii. 31.

THEN Jeſus took unto him the twelve, and ſaid unto them, Behold, we go up to Jeruſalem, and all things that are written by the prophets concerning the Son of Man ſhall be accompliſhed. For he ſhall be delivered unto the Gentiles, and ſhall be mocked, and ſpitefully entreated, and ſpitted on: and they ſhall ſcourge him, and put him to death; and the third day he ſhall riſe again. And they underſtood none of theſe things: and this ſaying was hid from them, neither knew they the things which were ſpoken. And it came to paſs, that as he was come nigh unto Jericho, a certain blind man ſat by the way-ſide begging: and hearing the multitude paſs by, he aſked what it meant. And they told him, that Jeſus of Nazareth paſſeth by. And he cried, ſaying, Jeſus, thou Son of David, have mercy on me. And they which went before rebuked him, that he ſhould hold his peace: but he cried ſo much the more, Thou Son of David, have mercy on me. And Jeſus ſtood, and commanded him to be brought unto him: and when he was come near, he aſked him, ſaying, What wilt thou that I ſhould do unto thee? And he ſaid, Lord, that I may receive my ſight. And Jeſus ſaid unto him, Receive

thy ſight; thy faith hath ſaved thee. And immediately he received his ſight, and followed him, glorifying God: and all the people, when they ſaw it, gave praiſe unto God.

The firſt Day of Lent, commonly called Aſh-Wedneſday.

The Collect.

ALMIGHTY and everlaſting God, who hateſt nothing that thou haſt made, and doſt forgive the ſins of all them that are penitent; Create and make in us new and contrite hearts, that we worthily lamenting our ſins, and acknowledging our wretchedneſs, may obtain of thee, the God of all mercy, perfect remiſſion and forgiveneſs; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

¶ *This Collect is to be read every day in Lent after the Collect appointed for the day.*

For the Epiſtle. Joel ii. 12.

TURN ye even to me, ſaith the Lord, with all your heart, and with faſting, and with weeping, and with mourning. And rend your heart, and not your garments, and turn unto the Lord your God: for he is gracious and merciful, ſlow to anger, and of great kindneſs, and repenteth him of the evil. Who knoweth if he will return, and repent, and leave a bleſſing behind him, even a meat-offering and a drink-offering unto the Lord your God? Blow

the trumpet in Zion, ſanctify a faſt, call a ſolemn aſſembly, gather the people, ſanctify the congregation, aſſemble the elders, gather the children, and thoſe that ſuck the breaſts; let the bridegroom go forth of his chamber, and the bride out of her cloſet; let the prieſts, the miniſters of the Lord, weep between the porch and the altar, and let them ſay, Spare thy people, O Lord, and give not thine heritage to reproach, that the heathen ſhould rule over them: wherefore ſhould they ſay among the people, Where is their God?

The Goſpel. St. Matth. vi. 16.

WHEN ye faſt, be not as the hypocrites, of a ſad countenance: for they diſfigure their faces, that they may appear unto men to faſt. Verily I ſay unto you, They have their reward. But thou, when thou faſteſt, anoint thine head, and waſh thy face, that thou appear not unto men to faſt, but unto thy Father which is in ſecret; and thy Father, which ſeeth in ſecret, ſhall reward thee openly. Lay not up for yourſelves treaſures upon earth, where moth and ruſt doth corrupt, and where thieves break through and ſteal: but lay up for yourſelves treaſures in heaven, where neither moth nor ruſt doth corrupt, and where thieves do not break through nor ſteal: for where your treaſure is, there will your heart be alſo.

The first Sunday in Lent.

The Collect.

O Lord, who for our ſake didſt faſt forty days and forty nights; Give us grace to uſe ſuch abſtinence, that, our fleſh being ſubdued to the Spirit, we may ever obey thy godly motions in righteouſneſs, and true holineſs, to thy honour and glory, who liveſt and reigneſt with the Father and the Holy Ghoſt, one God, world without end. *Amen.*

The Epiſtle. 2 Cor. vi. 1.

WE then, as workers together with him, beſeech you alſo, that ye receive not the grace of God in vain; (for he ſaith, I have heard thee in a time accepted, and in the day of ſalvation have I ſuccoured thee: behold, now is the accepted time; behold, now is the day of ſalvation;) giving no offence in any thing, that the miniſtry be not blamed; but in all things approving ourſelves as the miniſters of God, in much patience, in afflictions, in neceſſities, in diſtreſſes, in ſtripes, in impriſonments, in tumults, in labours, in watchings, in faſtings; by pureneſs, by knowledge, by long-ſuffering, by kindneſs, by the holy Ghoſt, by love unfeigned, by the word of truth, by the power of God, by the armour of righteouſneſs on the right hand and on the left, by honour and diſhonour, by evil report and good report; as deceivers, and yet true; as unknown, and yet well known; as dying,

and behold, we live; as chastened, and not killed; as sorrowful, yet alway rejoicing; as poor, yet making many rich; as having nothing, and yet possessing all things.

The Gospel. St. Matth. iv. 1.

THEN was Jesus led up of the Spirit into the wilderness, to be tempted of the devil. And when he had fasted forty days and forty nights, he was afterward an-hungred. And when the tempter came to him, he said, If thou be the Son of God, command that these stones be made bread. But he answered and said, It is written, Man shall not live by bread alone, but by every word that proceedeth out of the mouth of God. Then the devil taketh him up into the holy city, and setteth him on a pinnacle of the temple, and saith unto him, If thou be the Son of God, cast thyself down; for it is written, He shall give his angels charge concerning thee, and in their hands they shall bear thee up, lest at any time thou dash thy foot against a stone. Jesus said unto him, It is written again, Thou shalt not tempt the Lord thy God. Again, the devil taketh him up into an exceeding high mountain, and sheweth him all the kingdoms of the world, and the glory of them; and saith unto him, All these things will I give thee, if thou wilt fall down and worship me. Then saith Jesus unto him, Get thee hence, Satan; for it is

written, Thou ſhalt worſhip the Lord thy God, and him only ſhalt thou ſerve. Then the devil leaveth him, and behold, angels came and miniſtered unto him.

The ſecond Sunday in Lent.

The Collect.

ALMIGHTY God, who ſeeſt that we have no power of ourſelves to help ourſelves; Keep us both outwardly in our bodies, and inwardly in our ſouls; that we may be defended from all adverſities which may happen to the body, and from all evil thoughts which may aſſault and hurt the ſoul; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. 1 Theſſ. iv. 1.

WE beſeech you, brethren, and exhort you by the Lord Jeſus, that as ye have received of us how ye ought to walk, and to pleaſe God, ſo ye would abound more and more. For ye know what commandments we gave you by the Lord Jeſus. For this is the will of God, even your ſanctification, that ye ſhould abſtain from fornication; that every one of you ſhould know how to poſſeſs his veſſel in ſanctification and honour; not in the luſt of concupiſcence, even as the Gentiles which know not God; that no man go beyond and defraud his brother in any matter; becauſe that the Lord is the avenger of all ſuch,

as we alſo have forewarned you, and teſtified. For God hath not called us unto uncleanneſs, but unto holineſs. He therefore that deſpiſeth deſpiſeth not man, but God, who hath alſo given unto us his holy Spirit.

The Goſpel. St. Matth. xv. 21.

JESUS went thence, and departed into the coaſts of Tyre and Sidon. And behold, a woman of Canaan came out of the ſame coaſts, and cried unto him, ſaying, Have mercy on me, O Lord, thou Son of David; my daughter is grievouſly vexed with a devil. But he anſwered her not a word. And his diſciples came and beſought him, ſaying, Send her away; for ſhe crieth after us. But he anſwered and ſaid, I am not ſent, but unto the loſt ſheep of the houſe of Iſrael. Then came ſhe and worſhipped him, ſaying, Lord, help me. But he anſwered and ſaid, It is not meet to take the children's bread, and to caſt it to dogs. And ſhe ſaid, Truth, Lord; yet the dogs eat of the crumbs which fall from their maſter's table. Then Jeſus anſwered and ſaid unto her, O woman, great is thy faith: be it unto thee even as thou wilt. And her daughter was made whole from that very hour.

The third Sunday in Lent.

The Collect.

WE beſeech thee, Almighty God, look upon the hearty deſires of thy humble

ſervants, and ſtretch forth the right hand of thy Majeſty, to be our defence againſt all our enemies; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Epheſ. v. 1.

BE ye therefore followers of God, as dear children; and walk in love, as Chriſt alſo hath loved us, and hath given himſelf for us, an offering and a ſacrifice to God for a ſweet-ſmelling ſavour. But fornication, and all uncleanneſs, or covetouſneſs, let it not be once named amongſt you, as becometh ſaints; neither filthineſs, nor fooliſh-talking, nor jeſting, which are not convenient; but rather giving of thanks: for this ye know, that no whoremonger, nor unclean perſon, nor covetous man, who is an idolater, hath any inheritance in the kingdom of Chriſt, and of God. Let no man deceive you with vain words: for becauſe of theſe things cometh the wrath of God upon the children of diſobedience. Be not ye therefore partakers with them: for ye were ſometimes darkneſs, but now are ye light in the Lord: walk as children of light; (for the fruit of the Spirit is in all goodneſs, and righteouſneſs, and truth;) proving what is acceptable unto the Lord. And have no fellowſhip with the unfruitful works of darkneſs, but rather reprove them: for it is a ſhame even to ſpeak of thoſe things which are done

of them in ſecret. But all things that are reproved are made manifeſt by the light: for whatſoever doth make manifeſt is light. Wherefore he ſaith, Awake, thou that ſleepeſt, and ariſe from the dead, and Chriſt ſhall give thee light.

The Goſpel. St. Luke xi. 14.

JESUS was caſting out a devil, and it was dumb. And it came to paſs, when the devil was gone out, the dumb ſpake; and the people wondered. But ſome of them ſaid, He caſteth out devils through Beelzebub, the chief of the devils. And others, tempting him, ſought of him a ſign from heaven. But he, knowing their thoughts, ſaid unto them, Every kingdom divided againſt itſelf is brought to deſolation; and a houſe divided againſt a houſe falleth. If Satan alſo be divided againſt himſelf, how ſhall his kingdom ſtand? becauſe ye ſay, that I caſt out devils through Beelzebub. And if I by Beelzebub caſt out devils, by whom do your ſons caſt them out? therefore ſhall they be your judges. But if I with the finger of God caſt out devils, no doubt the kingdom of God is come upon you. When a ſtrong man armed keepeth his palace, his goods are in peace; but when a ſtronger than he ſhall come upon him, and overcome him, he taketh from him all his armour wherein he truſted, and divideth his

ſpoils. He that is not with me is againſt me: and he that gathereth not with me ſcattereth. When the unclean ſpirit is gone out of a man, he walketh through dry places, ſeeking reſt; and finding none, he ſaith, I will return unto my houſe whence I came out. And when he cometh, he findeth it ſwept and garniſhed. Then goeth he and taketh to him ſeven other ſpirits more wicked than himſelf, and they enter in, and dwell there; and the laſt ſtate of that man is worſe than the firſt. And it came to paſs, as he ſpake theſe things, a certain woman of the company lift up her voice, and ſaid unto him, Bleſſed is the womb that bare thee, and the paps which thou haſt ſucked. But he ſaid, Yea rather, bleſſed are they that hear the Word of God, and keep it.

The fourth Sunday in Lent

The Collect.

GRANT, we beſeech thee, Almighty God, that we, who for our evil deeds do worthily deſerve to be puniſhed, by the comfort of thy grace may mercifully be relieved; through our Lord and Saviour Jeſus Chriſt. *Amen.*

The Epiſtle. Gal. iv. 21.

TELL me, ye that deſire to be under the law, do ye not hear the law? For it is written, that Abraham had two ſons, the one

by a bond-maid, the other by a free-woman. But he who was of the bond-woman was born after the flesh; but he of the free-woman was by promise. Which things are an allegory: for these are the two covenants; the one from the mount Sinai, which gendereth to bondage, which is Agar. For this Agar is mount Sinai in Arabia, and answereth to Jerusalem which now is, and is in bondage with her children. But Jerusalem which is above is free; which is the mother of us all. For it is written, Rejoice, thou barren that bearest not; break forth and cry, thou that travailest not: for the desolate hath many more children than she which hath an husband. Now we, brethren, as Isaac was, are the children of promise. But as then he that was born after the flesh persecuted him that was born after the Spirit; even so it is now. Nevertheless, what saith the Scripture? Cast out the bond-woman and her son; for the son of the bond-woman shall not be heir with the son of the free-woman. So then, brethren, we are not children of the bond-woman, but of the free.

The Gospel. St. John vi. 1.

JESUS went over the sea of Galilee, which is the sea of Tiberias. And a great multitude followed him, because they saw his miracles which he did on them that were diseased. And Jesus went up into a moun-

tain, and there he ſat with his diſciples. And the Paſſover, a feaſt of the Jews, was nigh. When Jeſus then lift up his eyes, and ſaw a great company come unto him, he ſaith unto Philip, Whence ſhall we buy bread, that theſe may eat? (And this he ſaid to prove him; for he himſelf knew what he would do.) Philip anſwered him, Two hundred peny-worth of bread is not ſufficient for them, that every one of them may take a little. One of his diſciples, Andrew, Simon Peter's brother, ſaith unto him, There is a lad here, which hath five barley-loaves, and two ſmall fiſhes: but what are they among ſo many? And Jeſus ſaid, Make the men ſit down. Now there was much graſs in the place. So the men ſat down, in number about five thouſand. And Jeſus took the loaves, and when he had given thanks he diſtributed to the diſciples, and the diſciples to them that were ſet down; and likewiſe of the fiſhes as much as they would. When they were filled, he ſaid unto his diſciples, Gather up the fragments that remain, that nothing be loſt. Therefore they gathered them together, and filled twelve baſkets with the fragments of the five barley-loaves, which remained over and above unto them that had eaten. Then thoſe men, when they had ſeen the miracle that Jeſus did, ſaid, This is of a truth that Prophet that ſhould come into the world.

The fifth Sunday in Lent.

The Collect.

WE beſeech thee, Almighty God, mercifully to look upon thy people; that by thy great goodneſs they may be governed and preſerved evermore, both in body and ſoul; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Hebr. ix. 11.

CHRIST being come an High Prieſt of good things to come, by a greater and more perfect tabernacle, not made with hands; that is to ſay, not of this building; neither by the blood of goats and calves; but by his own blood he entered in once into the holy place, having obtained eternal redemption for us. For if the blood of bulls and of goats, and the aſhes of an heifer ſprinkling the unclean, ſanctifieth to the purifying of the fleſh; how much more ſhall the blood of Chriſt, who, through the eternal Spirit, offered himſelf without ſpot to God, purge your conſcience from dead works to ſerve the living God? And for this cauſe he is the Mediator of the new teſtament, that by means of death, for the redemption of the tranſgreſſions that were under the firſt teſtament, they which are called might receive the promiſe of eternal inheritance.

The Goſpel. St. John viii. 46.

JESUS ſaid, Which of you convinceth me of ſin? and if I ſay the truth, why do ye

not believe me? He that is of God heareth God's words; ye therefore hear them not, becauſe ye are not of God. Then anſwered the Jews, and ſaid unto him, Say we not well, that thou art a Samaritan, and haſt a devil? Jeſus anſwered, I have not a devil; but I honour my Father, and ye do diſhonour me. And I ſeek not mine own glory; there is one that ſeeketh and judgeth. Verily, verily, I ſay unto you, If a man keep my ſaying, he ſhall never ſee death. Then ſaid the Jews unto him, Now we know that thou haſt a devil: Abraham is dead, and the prophets; and thou ſayeſt, If a man keep my ſaying, he ſhall never taſte of death. Art thou greater than our father Abraham, which is dead? and the prophets are dead: whom makeſt thou thyſelf? Jeſus anſwered, If I honour myſelf, my honour is nothing; it is my Father that honoureth me, of whom ye ſay, that he is your God: yet ye have not known him; but I know him: and if I ſhould ſay, I know him not, I ſhall be a liar like unto you; but I know him, and keep his ſaying. Your father Abraham rejoiced to ſee my day, and he ſaw it, and was glad. Then ſaid the Jews unto him, Thou art not yet fifty years old, and haſt thou ſeen Abraham? Jeſus ſaid unto them, Verily, verily, I ſay unto you, Before Abraham was, I am. Then took they up ſtones to caſt at him:

but Jeſus hid himſelf, and went out of the temple.

The Sunday next before Eaſter.

The Collect.

ALMIGHTY and everlaſting God, who, of thy tender love towards mankind, haſt ſent thy Son, our Saviour Jeſus Chriſt, to take upon him our fleſh, and to ſuffer death upon the croſs, that all mankind ſhould follow the example of his great humility; Mercifully grant, that we may both follow the example of his patience, and alſo be made partakers of his reſurrection; through the ſame Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Phil. ii. 5.

LET this mind be in you, which was alſo in Chriſt Jeſus: who, being in the form of God, thought it not robbery to be equal with God; but made himſelf of no reputation, and took upon him the form of a ſervant, and was made in the likeneſs of men: and being found in faſhion as a man, he humbled himſelf, and became obedient unto death, even the death of the croſs. Wherefore God alſo hath highly exalted him, and given him a Name which is above every name; that at the Name of Jeſus every knee ſhould bow, of things in heaven, and things in earth, and things under the earth; and that every tongue

ſhould confeſs that Jeſus Chriſt is Lord, to the glory of God the Father.

The Goſpel. St. Matth. xxvii. 1.

WHEN the morning was come, all the chief prieſts and elders of the people took counſel againſt Jeſus, to put him to death. And when they had bound him, they led him away, and delivered him to Pontius Pilate the governour. Then Judas who had betrayed him, when he ſaw that he was condemned, repented himſelf, and brought again the thirty pieces of ſilver to the chief prieſts and elders, ſaying, I have ſinned, in that I have betrayed the innocent blood. And they ſaid, What is that to us? ſee thou to that. And he caſt down the pieces of ſilver in the temple, and departed, and went and hanged himſelf. And the chief prieſts took the ſilver pieces, and ſaid, It is not lawful for to put them into the treaſury, becauſe it is the price of blood. And they took counſel, and bought with them the potter's field, to bury ſtrangers in. Wherefore that field was called, The field of blood, unto this day. (Then was fulfilled that which was ſpoken by Jeremy the prophet, ſaying, And they took the thirty pieces of ſilver, the price of him that was valued, whom they of the children of Iſrael did value, and gave them for the potter's field, as the Lord appointed me.) And Jeſus ſtood before the governour;

and the governour aſked him, ſaying, Art thou the King of the Jews? And Jeſus ſaid unto him, Thou ſayeſt. And when he was accuſed of the chief prieſts and elders, he anſwered nothing. Then ſaith Pilate unto him, Heareſt thou not how many things they witneſs againſt thee? And he anſwered him to never a word, inſomuch that the governour marvelled greatly. Now at that feaſt the governour was wont to releaſe unto the people a priſoner, whom they would. And they had then a notable priſoner, called Barabbas. Therefore when they were gathered together, Pilate ſaid unto them, Whom will ye that I releaſe unto you? Barabbas, or Jeſus which is called Chriſt? For he knew that for envy they had delivered him. When he was ſet down on the judgement-ſeat, his wife ſent unto him, ſaying, Have thou nothing to do with that juſt man: for I have ſuffered many things this day in a dream becauſe of him But the chief prieſts and elders perſuaded the multitude that they ſhould aſk Barabbas, and deſtroy Jeſus. The governour anſwered and ſaid unto them, Whether of the twain will ye that I releaſe unto you? They ſaid, Barabbas. Pilate ſaith unto them, What ſhall I do then with Jeſus, which is called Chriſt? They all ſay unto him, Let him be crucified. And the governour ſaid, Why, what evil hath he done?

But they cried out the more, ſaying, Let him be crucified. When Pilate ſaw that he could prevail nothing, but that rather a tumult was made, he took water, and waſhed his hands before the multitude, ſaying, I am innocent of the blood of this juſt perſon: ſee ye to it. Then anſwered all the people, and ſaid, His blood be on us, and on our children. Then releaſed he Barabbas unto them: and when he had ſcourged Jeſus he delivered him to be crucified. Then the ſoldiers of the governour took Jeſus into the common hall, and gathered unto him the whole band of ſoldiers. And they ſtripped him, and put on him a ſcarlet robe. And when they had platted a crown of thorns they put it upon his head, and a reed in his right hand: and they bowed the knee before him, and mocked him, ſaying, Hail, King of the Jews. And they ſpit upon him, and took the reed, and ſmote him on the head. And after that they had mocked him they took the robe off from him, and put his own raiment on him, and led him away to crucify him. And as they came out they found a man of Cyrene, Simon by name; him they compelled to bear his croſs. And when they were come unto a place called Golgotha, that is to ſay, a place of a ſcull, they gave him vinegar to drink mingled with gall: and when he had taſted thereof, he would not

drink. And they crucified him, and parted his garments, caſting lots: that it might be fulfilled, which was ſpoken by the prophet, They parted my garments among them, and upon my veſture did they caſt lots. And ſitting down they watched him there; and ſet up over his head his accuſation written, THIS IS JESUS THE KING OF THE JEWS. Then were there two thieves crucified with him; one on the right hand, and another on the left. And they that paſſed by reviled him, wagging their heads, and ſaying, Thou that deſtroyeſt the temple, and buildeſt it in three days, ſave thyſelf: if thou be the Son of God, come down from the croſs. Likewiſe alſo the chief prieſts mocking him, with the ſcribes and elders, ſaid, He ſaved others, himſelf he cannot ſave: if he be the King of Iſrael, let him now come down from the croſs, and we will believe him. He truſted in God; let him deliver him now, if he will have him: for he ſaid, I am the Son of God. The thieves alſo, which were crucified with him, caſt the ſame in his teeth. Now from the ſixth hour there was darkneſs over all the land unto the ninth hour. And about the ninth hour Jeſus cried with a loud voice, ſaying, *Eli, Eli, lama ſabachthani?* that is to ſay, My God, my God, why haſt thou forſaken me? Some of them that ſtood there, when they heard that, ſaid,

This man calleth for Elias. And ſtraightway one of them ran, and took a ſpunge, and filled it with vinegar, and put it on a reed, and gave him to drink. The reſt ſaid, Let be, let us ſee whether Elias will come to ſave him. Jeſus, when he had cried again with a loud voice, yielded up the ghoſt. And behold, the vail of the temple was rent in twain from the top to the bottom, and the earth did quake, and the rocks rent, and the graves were opened, and many bodies of ſaints which ſlept aroſe, and came out of the graves after his reſurrection, and went into the holy city, and appeared unto many. Now when the centurion, and they that were with him, watching Jeſus, ſaw the earthquake, and thoſe things that were done, they feared greatly, ſaying, Truly this was the Son of God.

Monday before Eaſter.

For the Epiſtle. Iſai. lxiii. 1.

WHO is this that cometh from Edom, with dyed garments from Bozrah? this that is glorious in his apparel, travelling in the greatneſs of his ſtrength? I that ſpeak in righteouſneſs, mighty to ſave. Wherefore art thou red in thine apparel, and thy garments like him that treadeth in the wine-fat? I have trodden the wine-preſs alone, and of the people there was none with me: for I will tread

them in mine anger, and trample them in my fury, and their blood ſhall be ſprinkled upon my garments, and I will ſtain all my raiment. For the day of vengeance is in mine heart, and the year of my redeemed is come. And I looked, and there was none to help; and I wondered that there was none to uphold: therefore mine own arm brought ſalvation unto me, and my fury it upheld me. And I will tread down the people in mine anger, and make them drunk in my fury, and I will bring down their ſtrength to the earth. I will mention the loving-kindneſſes of the Lord, and the praiſes of the Lord, according to all that the Lord hath beſtowed on us, and the great goodneſs towards the houſe of Iſrael, which he hath beſtowed on them, according to his mercies, and according to the multitude of his loving-kindneſſes. For he ſaid, Surely they are my people, children that will not lie: ſo he was their Saviour. In all their affliction he was afflicted, and the angel of his preſence ſaved them: in his love, and in his pity, he redeemed them, and he bare them, and carried them all the days of old. But they rebelled, and vexed his Holy Spirit; therefore he was turned to be their enemy, and he fought againſt them. Then he remembered the days of old, Moſes and his people, ſaying, Where is he that brought them up out

of the ſea with the ſhepherd of his flock? where is he that put his Holy Spirit within him? that led them by the right hand of Moſes, with his glorious arm, dividing the water before them, to make himſelf an everlaſting Name? that led them through the deep as an horſe in the wilderneſs, that they ſhould not ſtumble? As a beaſt goeth down into the valley, the Spirit of the Lord cauſed him to reſt: ſo didſt thou lead thy people, to make thyſelf a glorious Name. Look down from heaven, and behold from the habitation of thy holineſs, and of thy glory: where is thy zeal, and thy ſtrength, the ſounding of thy bowels, and of thy mercies towards me? Are they reſtrained? Doubtleſs thou art our Father, though Abraham be ignorant of us, and Iſrael acknowledge us not: Thou, O Lord, art our Father, our Redeemer, thy Name is from everlaſting. O Lord, why haſt thou made us to err from thy ways? and hardened our hearts from thy fear? Return for thy ſervants' ſake, the tribes of thine inheritance. The people of thy holineſs have poſſeſſed it but a little while: our adverſaries have trodden down thy ſanctuary. We are thine: thou never bareſt rule over them; they were not called by thy name.

The Goſpel. St. Mark xiv. 1.

AFTER two days was the feaſt of the Paſſover, and of unleavened bread: and the

chief prieſts and the ſcribes ſought how they might take him by craft, and put him to death. But they ſaid, Not on the feaſt-day, leſt there be an uproar of the people. And being in Bethany, in the houſe of Simon the leper, as he ſat at meat, there came a woman having an alabaſter box of ointment of ſpikenard, very precious; and ſhe brake the box, and poured it on his head. And there were ſome that had indignation within themſelves, and ſaid, Why was this waſte of the ointment made? for it might have been ſold for more than three hundred pence, and have been given to the poor: and they murmured againſt her. And Jeſus ſaid, Let her alone; why trouble ye her? ſhe hath wrought a good work on me: for ye have the poor with you always, and whenſoever ye will ye may do them good; but me ye have not always. She hath done what ſhe could; ſhe is come aforehand to anoint my body to the burying. Verily I ſay unto you, Whereſoever this Goſpel ſhall be preached throughout the whole world, this alſo that ſhe hath done ſhall be ſpoken of for a memorial of her. And Judas Iſcariot, one of the twelve, went unto the chief prieſts to betray him unto them. And when they heard it they were glad, and promiſed to give him money. And he ſought how he might conveniently betray him. And the firſt day of

unleavened bread, when they killed the paſſover, his diſciples ſaid unto him, Where wilt thou that we go and prepare, that thou mayeſt eat the paſſover? And he ſendeth forth two of his diſciples, and ſaith unto them, Go ye into the city, and there ſhall meet you a man bearing a pitcher of water; follow him: And whereſoever he ſhall go in, ſay ye to the goodman of the houſe, The Maſter ſaith, Where is the gueſt-chamber, where I ſhall eat the paſſover with my diſciples? And he will ſhew you a large upper-room furniſhed, and prepared: there make ready for us. And his diſciples went forth, and came into the city, and found as he had ſaid unto them: and they made ready the paſſover. And in the evening he cometh with the twelve. And as they ſat, and did eat, Jeſus ſaid, Verily I ſay unto you, One of you which eateth with me ſhall betray me. And they began to be ſorrowful, and to ſay unto him one by one, Is it I? and another ſaid, Is it I? And he anſwered and ſaid unto them, It is one of the twelve that dippeth with me in the diſh. The Son of Man indeed goeth, as it is written of him: but wo to that man by whom the Son of Man is betrayed: good were it for that man if he had never been born. And as they did eat, Jeſus took bread, and bleſſed, and brake it, and gave to them, and ſaid, Take, eat: this is my

body. And he took the cup, and when he had given thanks he gave it to them: and they all drank of it. And he ſaid unto them, This is my blood of the new teſtament, which is ſhed for many. Verily I ſay unto you, I will drink no more of the fruit of the vine, until that day that I drink it new in the Kingdom of God. And when they had ſung an hymn they went out into the mount of Olives. And Jeſus ſaith unto them, All ye ſhall be offended becauſe of me this night: for it is written, I will ſmite the ſhepherd, and the ſheep ſhall be ſcattered. But, after that I am riſen, I will go before you into Galilee. But Peter ſaid unto him, Although all ſhall be offended, yet will not I. And Jeſus ſaith unto him, Verily I ſay unto thee, That this day, even in this night, before the cock crow twice, thou ſhalt deny me thrice. But he ſpake the more vehemently, If I ſhould die with thee, I will not deny thee in any wiſe. Likewiſe alſo ſaid they all. And they came to a place which was named Gethſemane: and he ſaith to his diſciples, Sit ye here, while I ſhall pray. And he taketh with him Peter, and James, and John, and began to be ſore amazed, and to be very heavy, and ſaith unto them, My ſoul is exceeding ſorrowful unto death; tarry ye here, and watch. And he went forward a little, and fell on the ground, and prayed, that,

if it were poſſible, the hour might paſs from him. And he ſaid, Abba, Father, all things are poſſible unto thee; take away this cup from me; nevertheleſs, not what I will, but what thou wilt. And he cometh and findeth them ſleeping, and ſaith unto Peter, Simon, ſleepeſt thou? couldeſt not thou watch one hour? Watch ye and pray, leſt ye enter into temptation: the ſpirit truly is ready, but the fleſh is weak. And again he went away, and prayed, and ſpake the ſame words. And when he returned he found them aſleep again, (for their eyes were heavy,) neither wiſt they what to anſwer him. And he cometh the third time, and ſaith unto them, Sleep on now, and take your reſt: it is enough, the hour is come; behold, the Son of Man is betrayed into the hands of ſinners. Riſe up, let us go; lo, he that betrayeth me is at hand. And immediately, while he yet ſpake, cometh Judas, one of the twelve, and with him a great multitude with ſwords and ſtaves, from the chief prieſts, and the ſcribes, and the elders. And he that betrayed him had given them a token, ſaying, Whomſoever I ſhall kiſs, that ſame is he; take him, and lead him away ſafely. And as ſoon as he was come he goeth ſtraightway to him, and ſaith, Maſter, maſter; and kiſſed him. And they laid their hands on him, and took him. And one of them that ſtood by

drew a ſword, and ſmote a ſervant of the high prieſt, and cut off his ear. And Jeſus anſwered, and ſaid unto them, Are ye come out as againſt a thief, with ſwords and with ſtaves, to take me? I was daily with you in the temple teaching, and ye took me not: but the Scriptures muſt be fulfilled. And they all forſook him, and fled. And there followed him a certain young man, having a linen cloth caſt about his naked body; and the young men laid hold on him: and he left the linen cloth, and fled from them naked. And they led Jeſus away to the high prieſt: and with him were aſſembled all the chief prieſts, and the elders, and the ſcribes. And Peter followed him afar off, even into the palace of the high prieſt; and he ſat with the ſervants, and warmed himſelf at the fire. And the chief prieſts and all the council ſought for witneſs againſt Jeſus to put him to death; and found none. For many bare falſe witneſs againſt him, but their witneſs agreed not together. And there aroſe certain, and bare falſe witneſs againſt him, ſaying, We heard him ſay, I will deſtroy this temple that is made with hands, and within three days I will build another made without hands. But neither ſo did their witneſs agree together. And the high prieſt ſtood up in the midſt, and aſked Jeſus, ſaying, Anſwereſt thou no-

thing? what is it which theſe witneſs againſt thee? But he held his peace, and anſwered nothing. Again the high prieſt aſked him, and ſaid unto him, Art thou the Chriſt, the Son of the Bleſſed? And Jeſus ſaid, I am; and ye ſhall ſee the Son of Man ſitting on the right hand of power, and coming in the clouds of heaven. Then the high prieſt rent his clothes, and ſaith, What need we any further witneſſes? ye have heard the blaſphemy: what think ye? And they all condemned him to be guilty of death. And ſome began to ſpit on him, and to cover his face, and to buffet him, and to ſay unto him, Propheſy: and the ſervants did ſtrike him with the palms of their hands. And as Peter was beneath in the palace there cometh one of the maids of the high prieſt; and when ſhe ſaw Peter warming himſelf ſhe looked upon him, and ſaid, And thou alſo waſt with Jeſus of Nazareth. But he denied, ſaying, I know not, neither underſtand I what thou ſayeſt. And he went out into the porch; and the cock crew. And a maid ſaw him again, and began to ſay to them that ſtood by, This is one of them. And he denied it again. And a little after, they that ſtood by ſaid again to Peter, Surely thou art one of them; for thou art a Galilean, and thy ſpeech agreeth thereto. But he began to curſe and to ſwear, ſaying, I know not this

man of whom ye speak. And the second time the cock crew. And Peter called to mind the word that Jesus said unto him, Before the cock crow twice, thou shalt deny me thrice. And when he thought thereon, he wept.

Tuesday before Easter.

For the Epistle. Isaiah l. 5.

THE Lord God hath opened mine ear, and I was not rebellious, neither turned away back. I gave my back to the smiters, and my cheeks to them that plucked off the hair: I hid not my face from shame and spitting. For the Lord God will help me, therefore shall I not be confounded: therefore have I set my face like a flint, and I know that I shall not be ashamed. He is near that justifieth me; who will contend with me? Let us stand together; who is mine adversary? let him come near to me. Behold, the Lord God will help me; who is he that shall condemn me? Lo, they all shall wax old as a garment: the moth shall eat them up. Who is among you that feareth the Lord, that obeyeth the voice of his servant, that walketh in darkness, and hath no light? let him trust in the Name of the Lord, and stay upon his God. Behold, all ye that kindle a fire, that compass yourselves about with sparks; walk in the light of your fire, and in the sparks that ye have kindled.

This ſhall ye have of mine hand, ye ſhall lie down in ſorrow.

The Goſpel. St. Mark xv. 1.

AND ſtraightway in the morning the chief prieſts held a conſultation with the elders, and ſcribes, and the whole council, and bound Jeſus, and carried him away, and delivered him to Pilate. And Pilate aſked him, Art thou the King of the Jews? And he anſwering ſaid unto him, Thou ſayeſt it. And the chief prieſts accuſed him of many things: but he anſwered nothing. And Pilate aſked him again, ſaying, Anſwereſt thou nothing? behold how many things they witneſs againſt thee. But Jeſus yet anſwered nothing: ſo that Pilate marvelled. Now at that feaſt he releaſed unto them one priſoner, whomſoever they deſired. And there was one named Barabbas, which lay bound with them that had made inſurrection with him, who had committed murder in the inſurrection. And the multitude, crying aloud, began to deſire him to do as he had ever done unto them. But Pilate anſwered them, ſaying, Will ye that I releaſe unto you the King of the Jews? For he knew that the chief prieſts had delivered him for envy. But the chief prieſts moved the people, that he ſhould rather releaſe Barabbas unto them. And Pilate anſwered, and ſaid again unto them, What will ye then that

I shall do unto him whom ye call the King of the Jews? And they cried out again, Crucify him. Then Pilate said unto them, Why, what evil hath he done? And they cried out the more exceedingly, Crucify him. And so Pilate, willing to content the people, released Barabbas unto them, and delivered Jesus, when he had scourged him, to be crucified. And the soldiers led him away into the hall, called Prætorium; and they call together the whole band. And they clothed him with purple, and platted a crown of thorns, and put it about his head: and began to salute him, Hail, King of the Jews. And they smote him on the head with a reed, and did spit upon him, and bowing their knees worshipped him. And when they had mocked him they took off the purple from him, and put his own clothes on him, and led him out to crucify him. And they compel one Simon a Cyrenian, who passed by, coming out of the country, the father of Alexander and Rufus, to bear his cross. And they bring him unto the place Golgotha, which is, being interpreted, The place of a scull. And they gave him to drink wine mingled with myrrh; but he received it not. And when they had crucified him they parted his garments, casting lots upon them, what every man should take. And it was the third hour, and they crucified him.

And the ſuperſcription of his accuſation was written over, THE KING OF THE JEWS. And with him they crucify two thieves, the one on his right hand, and the other on his left. And the ſcripture was fulfilled, which ſaith, And he was numbered with the tranſgreſſors. And they that paſſed by railed on him, wagging their heads, and ſaying, Ah, thou that deſtroyeſt the temple, and buildeſt it in three days, ſave thyſelf, and come down from the croſs. Likewiſe alſo the chief prieſts mocking ſaid among themſelves, with the ſcribes, He ſaved others; himſelf he cannot ſave. Let Chriſt the King of Iſrael deſcend now from the croſs, that we may ſee and believe. And they that were crucified with him reviled him. And when the ſixth hour was come, there was darkneſs over the whole land until the ninth hour. And at the ninth hour Jeſus cried with a loud voice, ſaying, *Eloi, Eloi, lama ſabachthani?* which is, being interpreted, My God, my God, why haſt thou forſaken me? And ſome of them that ſtood by, when they heard it, ſaid, Behold, he calleth Elias. And one ran and filled a ſpunge full of vinegar, and put it on a reed, and gave him to drink, ſaying, Let alone; let us ſee whether Elias will come to take him down. And Jeſus cried with a loud voice, and gave up the ghoſt. And the vail of the temple was

rent in twain from the top to the bottom. And when the centurion, which ſtood over againſt him, ſaw that he ſo cried out, and gave up the ghoſt, he ſaid, Truly this man was the Son of God.

Wedneſday before Eaſter.

The Epiſtle. Hebrews ix. 16.

WHERE a teſtament is, there muſt alſo of neceſſity be the death of the teſtator: for a teſtament is of force after men are dead; otherwiſe it is of no ſtrength at all whilſt the teſtator liveth. Whereupon, neither the firſt teſtament was dedicated without blood: for when Moſes had ſpoken every precept to all the people, according to the law, he took the blood of calves and of goats, with water, and ſcarlet wool, and hyſſop, and ſprinkled both the book, and all the people, ſaying, This is the blood of the teſtament, which God hath enjoined unto you. Moreover, he ſprinkled with blood both the tabernacle, and all the veſſels of the miniſtry. And almoſt all things are by the law purged with blood; and without ſhedding of blood is no remiſſion. It was therefore neceſſary that the patterns of things in the heavens ſhould be purified with theſe; but the heavenly things themſelves with better ſacrifices than theſe. For Chriſt is not entered into the holy places

made with hands, which are the figures of the true, but into heaven itself, now to appear in the presence of God for us; nor yet that he should offer himself often, as the high priest entereth into the holy place every year with blood of others: for then must he often have suffered since the foundation of the world; but now once in the end of the world hath he appeared to put away sin by the sacrifice of himself. And as it is appointed unto men once to die, but after this the judgement: so Christ was once offered to bear the sins of many; and unto them that look for him shall he appear the second time without sin unto salvation.

The Gospel. St. Luke xxii. 1.

NOW the feast of unleavened bread drew nigh, which is called the Passover. And the chief priests and scribes sought how they might kill him; for they feared the people. Then entered Satan into Judas surnamed Iscariot, being of the number of the twelve. And he went his way, and communed with the chief priests and captains, how he might betray him unto them. And they were glad, and covenanted to give him money. And he promised, and sought opportunity to betray him unto them in the absence of the multitude. Then came the day of unleavened bread, when the passover must be killed. And

he ſent Peter and John, ſaying, Go and prepare us the paſſover, that we may eat. And they ſaid unto him, Where wilt thou that we prepare? And he ſaid unto them, Behold, when ye are entered into the city, there ſhall a man meet you, bearing a pitcher of water; follow him into the houſe where he entereth in. And ye ſhall ſay unto the good-man of the houſe, The Maſter ſaith unto thee, Where is the gueſt-chamber, where I ſhall eat the paſſover with my diſciples? And he ſhall ſhew you a large upper-room furniſhed; there make ready. And they went, and found as he had ſaid unto them: and they made ready the paſſover. And when the hour was come he ſat down, and the twelve Apoſtles with him. And he ſaid unto them, With deſire I have deſired to eat this paſſover with you before I ſuffer: for I ſay unto you, I will not any more eat thereof, until it be fulfilled in the Kingdom of God. And he took the cup, and gave thanks, and ſaid, Take this, and divide it among yourſelves. For I ſay unto you, I will not drink of the fruit of the vine, until the Kingdom of God ſhall come. And he took bread, and gave thanks, and brake it, and gave unto them, ſaying, This is my body, which is given for you: this do in remembrance of me. Likewiſe alſo the cup after ſupper, ſaying, This cup is the new teſtament in my blood,

which is ſhed for you. But behold, the hand of him that betrayeth me is with me on the table. And truly the Son of Man goeth as it was determined; but wo unto that man by whom he is betrayed. And they began to enquire among themſelves, which of them it was that ſhould do this thing. And there was alſo a ſtrife among them, which of them ſhould be accounted the greateſt. And he ſaid unto them, The kings of the Gentiles exerciſe lordſhip over them, and they that exerciſe authority upon them are called benefactors. But ye ſhall not be ſo: but he that is greateſt among you, let him be as the younger; and he that is chief, as he that doth ſerve. For whether is greater, he that ſitteth at meat, or he that ſerveth? is not he that ſitteth at meat? but I am among you as he that ſerveth. Ye are they which have continued with me in my temptations. And I appoint unto you a kingdom, as my Father hath appointed unto me; that ye may eat and drink at my table in my kingdom, and ſit on thrones, judging the twelve tribes of Iſrael. And the Lord ſaid, Simon, Simon, behold, Satan hath deſired to have you, that he may ſift you as wheat: but I have prayed for thee, that thy faith fail not; and when thou art converted, ſtrengthen thy brethren. And he ſaid unto him, Lord, I am ready to go with thee both into priſon and

to death. And he ſaid, I tell thee, Peter, the cock ſhall not crow this day, before that thou ſhalt thrice deny that thou knoweſt me. And he ſaid unto them, When I ſent you without purſe, and ſcrip, and ſhoes, lacked ye any thing? And they ſaid, Nothing. Then ſaid he unto them, But now, he that hath a purſe, let him take it, and likewiſe his ſcrip: and he that hath no ſword, let him ſell his garment, and buy one. For I ſay unto you, That this that is written muſt yet be accompliſhed in me, And he was reckoned among the tranſgreſſors: for the things concerning me have an end. And they ſaid, Lord, behold, here are two ſwords. And he ſaid unto them, It is enough. And he came out, and went, as he was wont, to the mount of Olives, and his diſciples alſo followed him. And when he was at the place, he ſaid unto them, Pray, that ye enter not into temptation. And he was withdrawn from them about a ſtone's caſt, and kneeled down and prayed, ſaying, Father, if thou be willing, remove this cup from me: nevertheleſs, not my will, but thine be done. And there appeared an angel unto him from heaven, ſtrengthening him. And being in an agony, he prayed more earneſtly; and his ſweat was as it were great drops of blood falling down to the ground. And when he roſe up from prayer, and was come to his

diſciples, he found them ſleeping for ſorrow, and ſaid unto them, Why ſleep ye? riſe and pray, leſt ye enter into temptation. And while he yet ſpake, behold, a multitude, and he that was called Judas, one of the twelve, went before them, and drew near unto Jeſus to kiſs him. But Jeſus ſaid unto him, Judas, betrayeſt thou the Son of Man with a kiſs? When they who were about him ſaw what would follow, they ſaid unto him, Lord, ſhall we ſmite with the ſword? And one of them ſmote the ſervant of the high prieſt, and cut off his right ear. And Jeſus anſwered and ſaid, Suffer ye thus far. And he touched his ear, and healed him. Then Jeſus ſaid unto the chief prieſts, and captains of the temple, and the elders who were come to him, Be ye come out as againſt a thief, with ſwords and ſtaves? When I was daily with you in the temple, ye ſtretched forth no hands againſt me: but this is your hour, and the power of darkneſs. Then took they him, and led him, and brought him into the high prieſt's houſe: and Peter followed afar off. And when they had kindled a fire in the midſt of the hall, and were ſet down together, Peter ſat down among them. But a certain maid beheld him, as he ſat by the fire, and earneſtly looked upon him, and ſaid, This man was alſo with him. And he denied him, ſaying, Woman, I know him not.

And after a little while another ſaw him, and ſaid, Thou art alſo of them. And Peter ſaid, Man, I am not. And about the ſpace of one hour after, another confidently affirmed, ſaying, Of a truth this fellow alſo was with him; for he is a Galilean. And Peter ſaid, Man, I know not what thou ſayeſt. And immediately, while he yet ſpake, the cock crew. And the Lord turned, and looked upon Peter; and Peter remembered the word of the Lord, how he had ſaid unto him, Before the cock crow, thou ſhalt deny me thrice. And Peter went out, and wept bitterly. And the men that held Jeſus mocked him, and ſmote him. And when they had blindfolded him, they ſtruck him on the face, and aſked him, ſaying, Propheſy, who is it that ſmote thee? And many other things blaſphemouſly ſpake they againſt him. And as ſoon as it was day, the elders of the people, and the chief prieſts, and the ſcribes, came together, and led him into their council, ſaying, Art thou the Chriſt? tell us. And he ſaid unto them, If I tell you, ye will not believe: and if I alſo aſk you, ye will not anſwer me, nor let me go. Hereafter ſhall the Son of Man ſit on the right hand of the power of God. Then ſaid they all, Art thou then the Son of God? And he ſaid unto them, Ye ſay that I am. And they ſaid, What need we any further

witneſs? for we ourſelves have heard of his own mouth.

Thurſday before Eaſter.

The Epiſtle. 1 Cor. xi. 17.

IN this that I declare unto you, I praiſe you not; that ye come together not for the better, but for the worſe. For firſt of all, when ye come together in the church, I hear that there be diviſions among you, and I partly believe it. For there muſt be alſo hereſies among you, that they who are approved may be made manifeſt among you. When ye come together therefore into one place, this is not to eat the Lord's ſupper: for in eating every one taketh before other his own ſupper; and one is hungry, and another is drunken. What, have ye not houſes to eat and to drink in? or deſpiſe ye the church of God, and ſhame them that have not? What ſhall I ſay to you? ſhall I praiſe you in this? I praiſe you not. For I have received of the Lord that which alſo I delivered unto you, That the Lord Jeſus, the ſame night in which he was betrayed, took bread; and when he had given thanks, he brake it, and ſaid, Take, eat; this is my body, which is broken for you: this do in remembrance of me. After the ſame manner alſo he took the cup, when he had ſupped, ſaying, This cup is the new teſtament in my

blood: this do ye, as oft as ye drink it, in remembrance of me. For as often as ye eat this bread, and drink this cup, ye do ſhew the Lord's death till he come. Wherefore, whoſoever ſhall eat this bread, and drink this cup of the Lord, unworthily, ſhall be guilty of the body and blood of the Lord. But let a man examine himſelf, and ſo let him eat of that bread, and drink of that cup. For he that eateth and drinketh unworthily eateth and drinketh damnation to himſelf, not diſcerning the Lord's body. For this cauſe many are weak and ſickly among you, and many ſleep. For if we would judge ourſelves, we ſhould not be judged. But when we are judged, we are chaſtened of the Lord, that we ſhould not be condemned with the world. Wherefore, my brethren, when ye come together to eat, tarry one for another. And if any man hunger, let him eat at home; that ye come not together unto condemnation. And the reſt will I ſet in order when I come.

The Goſpel. St. Luke xxiii. 1.

THE whole multitude of them aroſe, and led him unto Pilate. And they began to accuſe him, ſaying, We found this fellow perverting the nation, and forbidding to give tribute to Cæſar, ſaying, That he himſelf is Chriſt a King. And Pilate aſked him, ſaying, Art thou the King of the Jews? And he an-

ſwered him, and ſaid, Thou ſayeſt it. Then ſaid Pilate to the chief prieſts, and to the people, I find no fault in this man. And they were the more fierce, ſaying, He ſtirreth up the people, teaching throughout all Jewry, beginning from Galilee to this place. When Pilate heard of Galilee, he aſked whether the man were a Galilean. And as ſoon as he knew that he belonged unto Herod's juriſdiction, he ſent him to Herod, who himſelf was alſo at Jeruſalem at that time. And when Herod ſaw Jeſus he was exceeding glad; for he was deſirous to ſee him of a long ſeaſon, becauſe he had heard many things of him; and he hoped to have ſeen ſome miracle done by him. Then he queſtioned with him in many words; but he anſwered him nothing. And the chief prieſts and ſcribes ſtood and vehemently accuſed him. And Herod with his men of war ſet him at nought, and mocked him, and arrayed him in a gorgeous robe, and ſent him again to Pilate. And the ſame day Pilate and Herod were made friends together; for before they were at enmity between themſelves. And Pilate, when he had called together the chief prieſts, and the rulers, and the people, ſaid unto them, Ye have brought this man unto me, as one that perverteth the people: and behold, I, having examined him before you, have found no fault

in this man touching thoſe things whereof ye accuſe him: No, nor yet Herod: for I ſent you to him; and lo, nothing worthy of death is done unto him. I will therefore chaſtiſe him, and releaſe him. For of neceſſity he muſt releaſe one unto them at the feaſt. And they cried out all at once, ſaying, Away with this man, and releaſe unto us Barabbas: (who for a certain ſedition made in the city, and for murder, was caſt into priſon.) Pilate therefore, willing to releaſe Jeſus, ſpake again to them. But they cried, ſaying, Crucify him, crucify him. And he ſaid unto them the third time, Why, what evil hath he done? I have found no cauſe of death in him: I will therefore chaſtiſe him, and let him go. And they were inſtant with loud voices, requiring that he might be crucified: and the voices of them and of the chief prieſts prevailed. And Pilate gave ſentence that it ſhould be as they required. And he releaſed unto them him that for ſedition and murder was caſt into priſon, whom they had deſired; but he delivered Jeſus to their will. And as they led him away, they laid hold upon one Simon a Cyrenian, coming out of the country, and on him they laid the croſs, that he might bear it after Jeſus. And there followed him a great company of people, and of women, which alſo bewailed and lamented him. But Jeſus, turning

unto them, ſaid, Daughters of Jeruſalem, weep not for me, but weep for yourſelves, and for your children. For behold, the days are coming, in the which they ſhall ſay, Bleſſed are the barren, and the wombs that never bare, and the paps which never gave ſuck. Then ſhall they begin to ſay to the mountains, Fall on us; and to the hills, Cover us. For if they do theſe things in a green tree, what ſhall be done in the dry? And there were alſo two other, malefactors, led with him to be put to death. And when they were come to the place which is called Calvary, there they crucified him; and the malefactors, one on the right hand, and the other on the left. Then ſaid Jeſus, Father, forgive them, for they know not what they do. And they parted his raiment, and caſt lots. And the people ſtood beholding; and the rulers alſo with them derided him, ſaying, He ſaved others; let him ſave himſelf, if he be Chriſt, the choſen of God. And the ſoldiers alſo mocked him, coming to him, and offering him vinegar, and ſaying, If thou be the King of the Jews, ſave thyſelf. And a ſuperſcription alſo was written over him in letters of Greek, and Latin, and Hebrew, THIS IS THE KING OF THE JEWS. And one of the malefactors, which were hanged, railed on him, ſaying, If thou be Chriſt, ſave thyſelf, and us. But the other

anſwering rebuked him, ſaying, Doſt not thou fear God, ſeeing thou art in the ſame condemnation? And we indeed juſtly; for we receive the due reward of our deeds, but this man hath done nothing amiſs. And he ſaid unto Jeſus, Lord, remember me when thou comeſt into thy kingdom. And Jeſus ſaid unto him, Verily I ſay unto thee, To-day ſhalt thou be with me in paradiſe. And it was about the ſixth hour: and there was a darkneſs over all the earth until the ninth hour. And the ſun was darkened, and the vail of the temple was rent in the midſt. And when Jeſus had cried with a loud voice, he ſaid, Father, into thy hands I commend my ſpirit: and having ſaid thus, he gave up the ghoſt. Now when the centurion ſaw what was done, he glorified God, ſaying, Certainly this was a righteous man. And all the people that came together to that ſight, beholding the things that were done, ſmote their breaſts, and returned. And all his acquaintance, and the women that followed him from Galilee, ſtood afar off, beholding theſe things.

GOOD FRIDAY.

The Collects.

ALMIGHTY God, we beſeech thee graciouſly to behold this thy family, for which our Lord Jeſus Chriſt was contented to be be-

trayed, and given up into the hands of wicked men, and to ſuffer death upon the croſs, who now liveth and reigneth with thee and the Holy Ghoſt, ever one God, world without end. *Amen.*

ALMIGHTY and everlaſting God, by whoſe Spirit the whole body of the Church is governed and ſanctified; Receive our ſupplications and prayers, which we offer before thee for all eſtates of men in thy holy Church, that every member of the ſame, in his vocation and miniſtry, may truly and godly ſerve thee; through our Lord and Saviour Jeſus Chriſt. *Amen.*

O Merciful God, who haſt made all men, and hateſt nothing that thou haſt made, nor wouldeſt the death of a ſinner, but rather that he ſhould be converted and live; Have mercy upon all Jews, Turks, Infidels, and Hereticks, and take from them all ignorance, hardneſs of heart, and contempt of thy Word; and ſo fetch them home, bleſſed Lord, to thy flock, that they may be ſaved among the remnant of the true Iſraelites, and be made one fold under one ſhepherd, Jeſus Chriſt our Lord, who liveth and reigneth with thee and the Holy Spirit, one God, world without end. *Amen.*

The Epiſtle. Hebr. x. 1.

THE law having a ſhadow of good things to come, and not the very image of the

things, can never with thoſe ſacrifices, which they offered year by year continually, make the comers thereunto perfect: for then would they not have ceaſed to be offered? becauſe that the worſhippers once purged ſhould have had no more conſcience of ſins. But in thoſe ſacrifices there is a remembrance again made of ſins every year. For it is not poſſible that the blood of bulls and of goats ſhould take away ſins. Wherefore, when he cometh into the world, he ſaith, Sacrifice and offering thou wouldeſt not, but a body haſt thou prepared me: In burnt-offerings and ſacrifices for ſin thou haſt had no pleaſure: Then ſaid I, Lo, I come (in the volume of the book it is written of me) to do thy will, O God. Above, when he ſaid, Sacrifice and offering, and burnt-offerings, and offering for ſin thou wouldeſt not, neither hadſt pleaſure therein, which are offered by the Law: then ſaid he, Lo, I come to do thy will, O God. He taketh away the firſt, that he may eſtabliſh the ſecond. By the which will we are ſanctified, through the offering of the body of Jeſus Chriſt once for all. And every prieſt ſtandeth daily miniſtering, and offering oftentimes the ſame ſacrifices, which can never take away ſins. But this man, after he had offered one ſacrifice for ſins, for ever ſat down on the right hand of God; from henceforth expecting till his enemies be made his

foot-ſtool. For by one offering he hath perfected for ever them that are ſanctified: Whereof the Holy Ghoſt alſo is a witneſs to us: for after that he had ſaid before, This is the covenant that I will make with them after thoſe days, ſaith the Lord, I will put my laws into their hearts, and in their minds will I write them; and their ſins and iniquities will I remember no more. Now where remiſſion of theſe is, there is no more offering for ſin. Having therefore, brethren, boldneſs to enter into the holieſt by the blood of Jeſus, by a new and living way, which he hath conſecrated for us, through the vail, that is to ſay, his fleſh; and having an High Prieſt over the houſe of God; let us draw near with a true heart, in full aſſurance of faith, having our hearts ſprinkled from an evil conſcience, and our bodies waſhed with pure water. Let us hold faſt the profeſſion of our faith without wavering; (for he is faithful that promiſed;) and let us conſider one another to provoke unto love, and to good works; not forſaking the aſſembling of ourſelves together, as the manner of ſome is; but exhorting one another: and ſo much the more, as ye ſee the day approaching.

The Goſpel. St. John xix. 1.

PILATE therefore took Jeſus, and ſcourged him. And the ſoldiers platted a crown of thorns, and put it on his head, and they

put on him a purple robe, and ſaid, Hail, King of the Jews: and they ſmote him with their hands. Pilate therefore went forth again, and ſaith unto them, Behold, I bring him forth to you, that ye may know that I find no fault in him. Then came Jeſus forth, wearing the crown of thorns, and the purple robe. And Pilate ſaith unto them, Behold the man! When the chief prieſts therefore and officers ſaw him, they cried out, ſaying, Crucify him, crucify him. Pilate ſaith unto them, Take ye him, and crucify him: for I find no fault in him. The Jews anſwered him, We have a law, and by our law he ought to die, becauſe he made himſelf the Son of God. When Pilate therefore heard that ſaying, he was the more afraid; and went again into the judgement-hall, and ſaith unto Jeſus, Whence art thou? But Jeſus gave him no anſwer. Then ſaith Pilate unto him, Speakeſt thou not unto me? knoweſt thou not that I have power to crucify thee, and have power to releaſe thee? Jeſus anſwered, Thou couldeſt have no power at all againſt me, except it were given thee from above: therefore he that delivered me unto thee hath the greater ſin. And from thenceforth Pilate ſought to releaſe him: but the Jews cried out, ſaying, If thou let this man go, thou art not Cæſar's friend: whoſoever maketh himſelf a king ſpeaketh againſt Cæſar.

When Pilate therefore heard that ſaying, he brought Jeſus forth, and ſat down in the judgement-ſeat, in a place that is called the Pavement, but in the Hebrew, Gabbatha. And it was the preparation of the paſſover, and about the ſixth hour: and he ſaith unto the Jews, Behold your King! But they cried out, Away with him, away with him, crucify him. Pilate ſaith unto them, Shall I crucify your King? The chief prieſts anſwered, We have no king but Cæſar. Then delivered he him therefore unto them to be crucified: and they took Jeſus, and led him away. And he, bearing his croſs, went forth into a place called the place of a ſcull, which is called in the Hebrew, Golgotha: where they crucified him, and two other with him, on either ſide one, and Jeſus in the midſt. And Pilate wrote a title, and put it on the croſs; and the writing was, JESUS OF NAZARETH THE KING OF THE JEWS. This title then read many of the Jews: for the place where Jeſus was crucified was nigh to the city: and it was written in Hebrew, and Greek, and Latin. Then ſaid the chief prieſts of the Jews to Pilate, Write not, The King of the Jews; but that he ſaid, I am the King of the Jews. Pilate anſwered, What I have written, I have written. Then the ſoldiers, when they had crucified Jeſus, took his garments, and made

four parts, to every ſoldier a part; and alſo his coat: now the coat was without ſeam, woven from the top throughout. They ſaid therefore among themſelves, Let us not rend it, but caſt lots for it, whoſe it ſhall be: that the Scripture might be fulfilled, which ſaith, They parted my raiment among them, and for my veſture they did caſt lots. Theſe things therefore the ſoldiers did. Now there ſtood by the croſs of Jeſus, his mother, and his mother's ſiſter, Mary the wife of Cleophas, and Mary Magdalene. When Jeſus therefore ſaw his mother, and the diſciple ſtanding by, whom he loved, he ſaith unto his mother, Woman, behold thy ſon. Then ſaith he to the diſciple, Behold thy mother. And from that hour that diſciple took her unto his own home. After this, Jeſus, knowing that all things were now accompliſhed, that the Scripture might be fulfilled, ſaith, I thirſt. Now there was ſet a veſſel full of vinegar: and they filled a ſponge with vinegar, and put it upon hyſſop, and put it to his mouth. When Jeſus therefore had received the vinegar, he ſaid, It is finiſhed: and he bowed his head, and gave up the ghoſt. The Jews therefore, becauſe it was the preparation, that the bodies ſhould not remain upon the croſs on the ſabbath-day, (for that ſabbath-day was an high day,) beſought Pilate that their legs might be broken,

and that they might be taken away. Then came the ſoldiers, and brake the legs of the firſt, and of the other which was crucified with him. But when they came to Jeſus, and ſaw that he was dead already, they brake not his legs. But one of the ſoldiers with a ſpear pierced his ſide, and forthwith came thereout blood and water. And he that ſaw it bare record, and his record is true: and he knoweth that he ſaith true, that ye might believe. For theſe things were done that the Scripture ſhould be fulfilled, A bone of him ſhall not be broken. And again, another Scripture ſaith, They ſhall look on him whom they pierced.

EASTER EVEN.

The Collect.

GRANT, O Lord, that as we are baptized into the death of thy bleſſed Son our Saviour Jeſus Chriſt, ſo by continual mortifying our corrupt affections we may be buried with him; and that through the grave, and gate of death, we may paſs to our joyful reſurrection; for his merits, who died, and was buried, and roſe again for us, thy Son Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. 1 St. Peter iii. 17.

IT is better, if the will of God be ſo, that ye ſuffer for well-doing, than for evil-doing.

For Chriſt alſo hath once ſuffered for ſins, the juſt for the unjuſt, that he might bring us to God, being put to death in the fleſh, but quickened by the Spirit. By which alſo he went and preached unto the ſpirits in priſon; which ſometime were diſobedient, when once the long-ſuffering of God waited in the days of Noah, while the ark was a preparing; wherein few, that is, eight ſouls, were ſaved by water. The like figure whereunto, even baptiſm, doth alſo now ſave us, (not the putting away the filth of the fleſh, but the anſwer of a good conſcience towards God,) by the reſurrection of Jeſus Chriſt: who is gone into heaven, and is on the right hand of God, angels and authorities and powers being made ſubject unto him.

The Goſpel. St. Matth. xxvii. 57.

WHEN the even was come, there came a rich man of Arimathæa, named Joſeph, who alſo himſelf was Jeſus' diſciple. He went to Pilate, and begged the body of Jeſus. Then Pilate commanded the body to be delivered. And when Joſeph had taken the body, he wrapped it in a clean linen cloth, and laid it in his own new tomb, which he had hewn out in the rock; and he rolled a great ſtone to the door of the ſepulchre, and departed. And there was Mary Magdalene, and the other Mary, ſitting over againſt the ſepulchre.

Now the next day that followed the day of the preparation, the chief prieſts and Phariſees came together unto Pilate, ſaying, Sir, we remember that that deceiver ſaid, while he was yet alive, After three days I will riſe again. Command therefore that the ſepulchre be made ſure until the third day, leſt his diſciples come by night and ſteal him away, and ſay unto the people, He is riſen from the dead: ſo the laſt error ſhall be worſe than the firſt. Pilate ſaid unto them, Ye have a watch; go your way, make it as ſure as you can. So they went and made the ſepulchre ſure, ſealing the ſtone, and ſetting a watch.

EASTER-DAY.

¶ *At Morning Prayer, instead of the Psalm,* O come let us sing, *&c. these Anthems shall be sung or said.*

CHRIST our paſſover is ſacrificed for us: therefore let us keep the feaſt;

Not with the old leaven, nor with the leaven of malice and wickedneſs: but with the unleavened bread of ſincerity and truth. 1 *Cor.* v. 7.

CHRIST being raiſed from the dead dieth no more: death hath no more dominion over him.

For in that he died, he died unto ſin once: but in that he liveth, he liveth unto God.

Likewiſe reckon ye alſo yourſelves to be

dead indeed unto ſin : but alive unto God through Jeſus Chriſt our Lord. *Rom.* vi. 9.

CHRIST is riſen from the dead ; and become the firſt-fruits of them that ſlept.

For ſince by man came death : by man came alſo the reſurrection of the dead.

For as in Adam all die : even ſo in Chriſt ſhall all be made alive. 1 *Cor.* xv. 20.

Glory be to the Father, and to the Son : and to the Holy Ghoſt ;

As it was in the beginning, is now, and ever ſhall be : world without end. *Amen.*

The Collect.

ALMIGHTY God, who through thine only-begotten Son Jeſus Chriſt haſt overcome death, and opened unto us the gate of everlaſting life ; We humbly beſeech thee, that, as by thy ſpecial grace preventing us thou doſt put into our minds good deſires, ſo by thy continual help we may bring the ſame to good effect ; through Jeſus Chriſt our Lord, who liveth and reigneth with thee and the Holy Ghoſt, ever one God, world without end. *Amen.*

The Epiſtle. Coloſſ. iii. 1.

IF ye then be riſen with Chriſt, ſeek thoſe things which are above, where Chriſt ſitteth on the right hand of God. Set your affection on things above, not on things on the

earth: For ye are dead, and your life is hid with Chriſt in God. When Chriſt, who is our life, ſhall appear, then ſhall ye alſo appear with him in glory. Mortify therefore your members which are upon the earth; fornication, uncleanneſs, inordinate affection, evil concupiſcence, and covetouſneſs, which is idolatry: For which things' ſake the wrath of God cometh on the children of diſobedience. In the which ye alſo walked ſome time, when ye lived in them.

The Goſpel. St. John xx. 1.

THE firſt day of the week cometh Mary Magdalene early, when it was yet dark, unto the ſepulchre, and ſeeth the ſtone taken away from the ſepulchre. Then ſhe runneth and cometh to Simon Peter, and to the other diſciple whom Jeſus loved, and ſaith unto them, They have taken away the Lord out of the ſepulchre, and we know not where they have laid him. Peter therefore went forth, and that other diſciple, and came to the ſepulchre. So they ran both together; and the other diſciple did outrun Peter, and came firſt to the ſepulchre; and he, ſtooping down and looking in, ſaw the linen clothes lying; yet went he not in. Then cometh Simon Peter following him, and went into the ſepulchre, and ſeeth the linen clothes lie; and the napkin that was about his head, not lying with

the linen clothes, but wrapped together in a place by itſelf. Then went in alſo that other diſciple which came firſt to the ſepulchre, and he ſaw, and believed. For as yet they knew not the Scripture, that he muſt riſe again from the dead. Then the diſciples went away again unto their own home.

Monday in Eaſter-week.

The Collect.

ALMIGHTY God, who through thy only-begotten Son Jeſus Chriſt haſt overcome death, and opened unto us the gate of everlaſting life; We humbly beſeech thee, that, as by thy ſpecial grace preventing us thou doſt put into our minds good deſires, ſo by thy continual help we may bring the ſame to good effect; through Jeſus Chriſt our Lord, who liveth and reigneth with thee and the Holy Ghoſt, ever one God, world without end. *Amen.*

For the Epiſtle. Acts x. 34.

PETER opened his mouth, and ſaid, Of a truth I perceive that God is no reſpecter of perſons; but in every nation he that feareth him, and worketh righteouſneſs, is accepted with him. The word which God ſent unto the children of Iſrael, preaching peace by Jeſus Chriſt; (he is Lord of all;) that word (I ſay) ye know, which was publiſhed through-

out all Judæa, and began from Galilee, after the baptiſm which John preached: how God anointed Jeſus of Nazareth with the Holy Ghoſt, and with power; who went about doing good, and healing all that were oppreſſed of the devil: for God was with him. And we are witneſſes of all things which he did, both in the land of the Jews, and in Jeruſalem; whom they ſlew, and hanged on a tree: Him God raiſed up the third day, and ſhewed him openly; not to all the people, but unto witneſſes choſen before of God, even to us, who did eat and drink with him after he roſe from the dead. And he commanded us to preach unto the people, and to teſtify that it is he who was ordained of God to be the Judge of quick and dead. To him give all the prophets witneſs, that through his Name whoſoever believeth in him ſhall receive remiſſion of ſins.

The Goſpel. St. Luke xxiv. 13.

BEHOLD, two of his diſciples went that ſame day to a village called Emmaus, which was from Jeruſalem about threeſcore furlongs. And they talked together of all theſe things which had happened. And it came to paſs, that while they communed together, and reaſoned, Jeſus himſelf drew near, and went with them. But their eyes were holden, that they ſhould not know him. And

he ſaid unto them, What manner of communications are theſe that ye have one to another, as ye walk, and are ſad? And the one of them, whoſe name was Cleopas, anſwering, ſaid unto him, Art thou only a ſtranger in Jeruſalem, and haſt not known the things which are come to paſs there in theſe days? And he ſaid unto them, What things? And they ſaid unto him, Concerning Jeſus of Nazareth, who was a prophet mighty in deed and word, before God and all the people: and how the chief prieſts and our rulers delivered him to be condemned to death, and have crucified him. But we truſted that it had been he which ſhould have redeemed Iſrael: and beſides all this, to-day is the third day ſince theſe things were done. Yea, and certain women alſo of our company made us aſtoniſhed, which were early at the ſepulchre; and when they found not his body, they came, ſaying, that they had alſo ſeen a viſion of angels, which ſaid that he was alive. And certain of them which were with us went to the ſepulchre, and found it even ſo as the women had ſaid; but him they ſaw not. Then he ſaid unto them, O fools, and ſlow of heart to believe all that the prophets have ſpoken: ought not Chriſt to have ſuffered theſe things, and to enter into his glory? And beginning at Moſes, and all the prophets, he expounded

unto them in all the Scriptures the things concerning himself. And they drew nigh unto the village whither they went; and he made as though he would have gone further: but they constrained him, saying, Abide with us, for it is towards evening, and the day is far spent. And he went in to tarry with them. And it came to pass, as he sat at meat with them, he took bread, and blessed it, and brake, and gave to them. And their eyes were opened, and they knew him, and he vanished out of their sight. And they said one to another, Did not our heart burn within us, while he talked with us by the way, and while he opened to us the Scriptures? And they rose up the same hour, and returned to Jerusalem, and found the eleven gathered together, and them that were with them, saying, The Lord is risen indeed, and hath appeared to Simon. And they told what things were done in the way, and how he was known of them in breaking of bread.

Tuesday in Easter-week.

The Collect.

ALMIGHTY God, who through thy only-begotten Son Jesus Christ hast overcome death, and opened unto us the gate of everlasting life; We humbly beseech thee, that, as by thy special grace preventing us thou dost put into our minds good desires, so by

thy continual help we may bring the same to good effect; through Jesus Christ our Lord, who liveth and reigneth with thee and the Holy Ghost, ever one God, world without end. *Amen.*

For the Epistle. Acts xiii. 26.

MEN and brethren, children of the stock of Abraham, and whosoever among you feareth God, to you is the word of this salvation sent. For they that dwell at Jerusalem, and their rulers, because they knew him not, nor yet the voices of the prophets which are read every sabbath-day, they have fulfilled them in condemning him. And though they found no cause of death in him, yet desired they Pilate that he should be slain. And when they had fulfilled all that was written of him, they took him down from the tree, and laid him in a sepulchre. But God raised him from the dead: and he was seen many days of them which came up with him from Galilee to Jerusalem, who are his witnesses unto the people. And we declare unto you glad tidings, how that the promise which was made unto the fathers, God hath fulfilled the same unto us their children, in that he hath raised up Jesus again; as it is also written in the second Psalm, Thou art my Son, this day have I begotten thee. And as concerning that he raised him up from the dead, now no more to

return to corruption, he said on this wise, I will give you the sure mercies of David. Wherefore he saith also in another Psalm, Thou shalt not suffer thine Holy One to see corruption. For David, after he had served his own generation by the will of God, fell on sleep, and was laid unto his fathers, and saw corruption: but he whom God raised again saw no corruption. Be it known unto you therefore, men and brethren, that through this man is preached unto you the forgiveness of sins: and by him all that believe are justified from all things, from which ye could not be justified by the law of Moses. Beware therefore, lest that come upon you which is spoken of in the prophets; Behold, ye despisers, and wonder, and perish; for I work a work in your days, a work which ye shall in no wise believe, though a man declare it unto you.

The Gospel. St. Luke xxiv. 36.

JESUS himself stood in the midst of them, and saith unto them, Peace be unto you. But they were terrified and affrighted; and supposed that they had seen a spirit. And he said unto them, Why are ye troubled, and why do thoughts arise in your hearts? Behold my hands and my feet, that it is I myself: handle me, and see; for a spirit hath not flesh and bones, as ye see me have. And when

he had thus ſpoken, he ſhewed them his hands and his feet. And while they yet believed not for joy, and wondered, he ſaid unto them, Have ye here any meat? And they gave him a piece of broiled fiſh, and of an honey-comb. And he took it, and did eat before them. And he ſaid unto them, Theſe are the words which I ſpake unto you, while I was yet with you, that all things muſt be fulfilled which were written in the law of Moſes, and in the Prophets, and in the Pſalms concerning me. Then opened he their underſtanding, that they might underſtand the Scriptures, and ſaid unto them, Thus it is written, and thus it behoved Chriſt to ſuffer, and to riſe from the dead the third day; and that repentance and remiſſion of ſins ſhould be preached in his Name among all nations, beginning at Jeruſalem. And ye are witneſſes of theſe things.

The firſt Sunday after Eaſter.

The Collect.

ALMIGHTY Father, who haſt given thine only Son to die for our ſins, and to riſe again for our juſtification; Grant us ſo to put away the leaven of malice and wickedneſs, that we may alway ſerve thee in pureneſs of living and truth; through the merits of the ſame thy Son Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The first Sunday after Easter.

The Epistle. 1 St. John v. 4.

WHATSOEVER is born of God overcometh the world; and this is the victory that overcometh the world, even our faith. Who is he that overcometh the world, but he that believeth that Jesus is the Son of God? This is he that came by water and blood, even Jesus Christ; not by water only, but by water and blood: and it is the Spirit that beareth witness, because the Spirit is truth. For there are three that bear record in heaven, the Father, the Word, and the Holy Ghost: and these three are one. And there are three that bear witness in earth, the spirit, and the water, and the blood: and these three agree in one. If we receive the witness of men, the witness of God is greater: for this is the witness of God, which he hath testified of his Son. He that believeth on the Son of God hath the witness in himself: he that believeth not God hath made him a liar, because he believeth not the record that God gave of his Son. And this is the record, that God hath given to us eternal life; and this life is in his Son. He that hath the Son hath life; and he that hath not the Son hath not life.

The Gospel. St. John xx. 19.

THE same day at evening, being the first day of the week, when the doors were shut, where the disciples were assembled for

fear of the Jews, came Jeſus and ſtood in the midſt, and ſaith unto them, Peace be unto you. And when he had ſo ſaid, he ſhewed unto them his hands and his ſide. Then were the diſciples glad when they ſaw the Lord. Then ſaid Jeſus to them again, Peace be unto you: As my Father hath ſent me, even ſo ſend I you. And when he had ſaid this, he breathed on them, and ſaith unto them, Receive ye the holy Ghoſt. Whoſeſoever ſins ye remit, they are remitted unto them; and whoſeſoever ſins ye retain, they are retained.

The ſecond Sunday after Eaſter.

The Collect.

ALMIGHTY God, who haſt given thine only Son to be unto us both a ſacrifice for ſin, and alſo an enſample of godly life; Give us grace that we may always moſt thankfully receive that his ineſtimable benefit, and alſo daily endeavour ourſelves to follow the bleſſed ſteps of his moſt holy life; through the ſame Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. 1 St. Peter ii. 19.

THIS is thank-worthy, if a man for conſcience toward God endure grief, ſuffering wrongfully. For what glory is it, if, when ye be buffeted for your faults, ye ſhall take it patiently? but if, when ye do well, and ſuffer for it, ye take it patiently; this is acceptable with

God. For even hereunto were ye called: becauſe Chriſt alſo ſuffered for us, leaving us an example, that ye ſhould follow his ſteps: who did no ſin, neither was guile found in his mouth: who, when he was reviled, reviled not again; when he ſuffered, he threatened not; but committed himſelf to him that judgeth righteouſly: who his own ſelf bare our ſins in his own body on the tree, that we, being dead to ſins, ſhould live unto righteouſneſs: by whoſe ſtripes ye were healed. For ye were as ſheep going aſtray; but are now returned unto the Shepherd and Biſhop of your ſouls.

The Goſpel. St. John x. 11.

JESUS ſaid, I am the good ſhepherd: the good ſhepherd giveth his life for the ſheep. But he that is an hireling, and not the ſhepherd, whoſe own the ſheep are not, ſeeth the wolf coming, and leaveth the ſheep, and fleeth; and the wolf catcheth them, and ſcattereth the ſheep. The hireling fleeth, becauſe he is an hireling, and careth not for the ſheep. I am the good ſhepherd, and know my ſheep, and am known of mine. As the Father knoweth me, even ſo know I the Father: and I lay down my life for the ſheep. And other ſheep I have, which are not of this fold; them alſo I muſt bring, and they ſhall hear my voice; and there ſhall be one fold, and one ſhepherd.

The third Sunday after Eaſter.

The Collect.

ALMIGHTY God, who ſheweſt to them that be in error the light of thy truth, to the intent that they may return into the way of righteouſneſs; Grant unto all them that are admitted into the fellowſhip of Chriſt's Religion, that they may eſchew thoſe things that are contrary to their profeſſion, and follow all ſuch things as are agreeable to the ſame; through our Lord Jeſus Chriſt. *Amen.*

The Epiſtle. 1 St. Peter ii. 11.

DEARLY beloved, I beſeech you as ſtrangers and pilgrims, abſtain from fleſhly luſts, which war againſt the ſoul; having your converſation honeſt among the Gentiles; that, whereas they ſpeak againſt you as evil doers, they may, by your good works which they ſhall behold, glorify God in the day of viſitation. Submit yourſelves to every ordinance of man for the Lord's ſake; whether it be to the King, as ſupreme; or unto governours, as unto them that are ſent by him, for the puniſhment of evil doers, and for the praiſe of them that do well. For ſo is the will of God, that with well-doing ye may put to ſilence the ignorance of fooliſh men: as free, and not uſing your liberty for a cloke of maliciouſneſs; but as the ſervants of God. Honour all men.

Love the brotherhood. Fear God. Honour the King.

The Goſpel. St. John xvi. 16.

JESUS ſaid to his diſciples, A little while and ye ſhall not ſee me; and again, a little while and ye ſhall ſee me; becauſe I go to the Father. Then ſaid ſome of his diſciples among themſelves, What is this that he ſaith unto us, A little while and ye ſhall not ſee me; and again, a little while and ye ſhall ſee me; and, Becauſe I go to the Father? They ſaid therefore, What is this that he ſaith, A little while? we cannot tell what he ſaith. Now Jeſus knew that they were deſirous to aſk him, and ſaid unto them, Do ye enquire among yourſelves of that I ſaid, A little while and ye ſhall not ſee me; and again, a little while and ye ſhall ſee me? Verily, verily I ſay unto you, That ye ſhall weep and lament, but the world ſhall rejoice: and ye ſhall be ſorrowful, but your ſorrow ſhall be turned into joy. A woman, when ſhe is in travail, hath ſorrow, becauſe her hour is come: but as ſoon as ſhe is delivered of the child, ſhe remembereth no more the anguiſh, for joy that a man is born into the world. And ye now therefore have ſorrow: but I will ſee you again, and your heart ſhall rejoice, and your joy no man taketh from you.

The fourth Sunday after Eaſter.

The Collect.

O Almighty God, who alone canſt order the unruly wills and affections of ſinful men; Grant unto thy people, that they may love the thing which thou commandeſt, and deſire that which thou doſt promiſe; that ſo, among the ſundry and manifold changes of the world, our hearts may ſurely there be fixed, where true joys are to be found; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. St. James i. 17.

EVERY good gift, and every perfect gift is from above, and cometh down from the Father of lights, with whom is no variableneſs, neither ſhadow of turning. Of his own will begat he us with the Word of truth, that we ſhould be a kind of firſt-fruits of his creatures. Wherefore, my beloved brethren, let every man be ſwift to hear, ſlow to ſpeak, ſlow to wrath; for the wrath of man worketh not the righteouſneſs of God. Wherefore lay apart all filthineſs and ſuperfluity of naughtineſs, and receive with meekneſs the engrafted Word, which is able to ſave your ſouls.

The Goſpel. St. John xvi. 5.

JESUS ſaid unto his diſciples, Now I go my way to him that ſent me, and none of you aſketh me, Whither goeſt thou? But, becauſe I have ſaid theſe things unto you, ſorrow hath filled your heart. Nevertheleſs,

I tell you the truth; it is expedient for you that I go away: for if I go not away, the Comforter will not come unto you; but if I depart, I will ſend him unto you. And when he is come, he will reprove the world of ſin, and of righteouſneſs, and of judgement: of ſin, becauſe they believe not on me; of righteouſneſs, becauſe I go to my Father, and ye ſee me no more; of judgement, becauſe the prince of this world is judged. I have yet many things to ſay unto you, but ye cannot bear them now. Howbeit, when he, the Spirit of truth, is come, he will guide you into all truth: for he ſhall not ſpeak of himſelf; but whatſoever he ſhall hear, that ſhall he ſpeak: and he will ſhew you things to come. He ſhall glorify me: for he ſhall receive of mine, and ſhall ſhew it unto you. All things that the Father hath are mine: therefore ſaid I, that he ſhall take of mine, and ſhall ſhew it unto you.

The fifth Sunday after Eaſter.

The Collect.

O Lord, from whom all good things do come; Grant to us thy humble ſervants, that by thy holy inſpiration we may think thoſe things that be good, and by thy merciful guiding may perform the ſame; through our Lord Jeſus Chriſt. *Amen.*

The fifth Sunday after Eaſter.

The Epiſtle. St. James i. 22.

BE ye doers of the Word, and not hearers only, deceiving your own ſelves. For if any be a hearer of the Word, and not a doer, he is like unto a man beholding his natural face in a glaſs. For he beholdeth himſelf, and goeth his way, and ſtraightway forgetteth what manner of man he was. But whoſo looketh into the perfect law of liberty, and continueth therein, he being not a forgetful hearer, but a doer of the work, this man ſhall be bleſſed in his deed. If any man among you ſeem to be religious, and bridleth not his tongue, but deceiveth his own heart, this man's religion is vain. Pure religion, and undefiled before God and the Father, is this, To viſit the fatherleſs and widows in their affliction, and to keep himſelf unſpotted from the world.

The Goſpel. St. John xvi. 23.

VERILY, verily I ſay unto you, Whatſoever ye ſhall aſk the Father in my Name, he will give it you. Hitherto have ye aſked nothing in my Name: aſk, and ye ſhall receive, that your joy may be full. Theſe things have I ſpoken unto you in proverbs: the time cometh when I ſhall no more ſpeak unto you in proverbs, but I ſhall ſhew you plainly of the Father. At that day ye ſhall aſk in my Name: and I ſay not unto you, that I will

pray the Father for you; for the Father himſelf loveth you, becauſe ye have loved me, and have believed that I came out from God. I came forth from the Father, and am come into the world: again, I leave the world, and go to the Father. His diſciples ſaid unto him, Lo, now ſpeakeſt thou plainly, and ſpeakeſt no proverb. Now are we ſure that thou knoweſt all things, and needeſt not that any man ſhould aſk thee: by this we believe that thou cameſt forth from God. Jeſus anſwered them, Do ye now believe? Behold, the hour cometh, yea, is now come, that ye ſhall be ſcattered every man to his own, and ſhall leave me alone: and yet I am not alone, becauſe the Father is with me. Theſe things I have ſpoken unto you, that in me ye might have peace. In the world ye ſhall have tribulation; but be of good cheer, I have overcome the world.

The Aſcenſion-day.

The Collect.

GRANT, we beſeech thee, Almighty God, that like as we do believe thy only-begotten Son our Lord Jeſus Chriſt to have aſcended into the heavens; ſo we may alſo in heart and mind thither aſcend, and with him continually dwell, who liveth and reigneth

with thee and the Holy Ghoſt, one God, world without end. *Amen.*

For the Epiſtle. Acts i. 1.

THE former treatiſe have I made, O Theophilus, of all that Jeſus began both to do and teach, until the day in which he was taken up, after that he through the Holy Ghoſt had given commandments unto the Apoſtles whom he had choſen: to whom alſo he ſhewed himſelf alive after his paſſion, by many infallible proofs; being ſeen of them forty days, and ſpeaking of the things pertaining to the Kingdom of God: and, being aſſembled together with them, commanded them that they ſhould not depart from Jeruſalem, but wait for the promiſe of the Father, which, ſaith he, ye have heard of me. For John truly baptized with water, but ye ſhall be baptized with the Holy Ghoſt not many days hence. When they therefore were come together, they aſked of him, ſaying, Lord, wilt thou at this time reſtore again the kingdom to Iſrael? And he ſaid unto them, It is not for you to know the times or the ſeaſons, which the Father hath put in his own power. But ye ſhall receive power after that the Holy Ghoſt is come upon you; and ye ſhall be witneſſes unto me, both in Jeruſalem, and in all Judæa, and in Samaria, and unto the uttermoſt part of the earth. And when he had ſpoken

theſe things, while they beheld, he was taken up, and a cloud received him out of their ſight. And while they looked ſtedfaſtly toward heaven, as he went up, behold, two men ſtood by them in white apparel; which alſo ſaid, Ye men of Galilee, why ſtand ye gazing up into heaven? This ſame Jeſus, which is taken up from you into heaven, ſhall ſo come, in like manner as ye have ſeen him go into heaven.

The Goſpel. St. Mark xvi. 14.

JESUS appeared unto the eleven as they ſat at meat, and upbraided them with their unbelief and hardneſs of heart, becauſe they believed not them which had ſeen him after he was riſen. And he ſaid unto them, Go ye into all the world, and preach the Goſpel to every creature. He that believeth and is baptized ſhall be ſaved; but he that believeth not ſhall be damned. And theſe ſigns ſhall follow them that believe: In my Name ſhall they caſt out devils; they ſhall ſpeak with new tongues; they ſhall take up ſerpents; and if they drink any deadly thing, it ſhall not hurt them; they ſhall lay hands on the ſick, and they ſhall recover. So then after the Lord had ſpoken unto them, he was received up into heaven, and ſat on the right hand of God. And they went forth and preached every where, the Lord working with

them, and confirming the Word with ſigns following.

Sunday after Aſcenſion-day.

The Collect.

O God the King of glory, who haſt exalted thine only Son Jeſus Chriſt with great triumph unto thy kingdom in heaven; We beſeech thee, leave us not comfortleſs; but ſend to us thine Holy Ghoſt to comfort us, and exalt us unto the ſame place whither our Saviour Chriſt is gone before, who liveth and reigneth with thee and the Holy Ghoſt, one God, world without end. *Amen.*

The Epiſtle. 1 St. Peter iv. 7.

THE end of all things is at hand; be ye therefore ſober, and watch unto prayer. And above all things have fervent charity among yourſelves: for charity ſhall cover the multitude of ſins. Uſe hoſpitality one to another without grudging. As every man hath received the gift, even ſo miniſter the ſame one to another, as good ſtewards of the manifold grace of God. If any man ſpeak, let him ſpeak as the oracles of God: if any man miniſter, let him do it as of the ability which God giveth; that God in all things may be glorified through Jeſus Chriſt, to whom be praiſe and dominion for ever and ever. Amen.

WHIT-SUNDAY.

The Goſpel. St. John xv. 26. *and part of Chapter* xvi.

WHEN the Comforter is come, whom I will ſend unto you from the Father, even the Spirit of truth, which proceedeth from the Father, he ſhall teſtify of me. And ye alſo ſhall bear witneſs, becauſe ye have been with me from the beginning. Theſe things have I ſpoken unto you, that ye ſhould not be offended. They ſhall put you out of the ſynagogues: yea, the time cometh, that whoſoever killeth you will think that he doeth God ſervice. And theſe things will they do unto you, becauſe they have not known the Father, nor me. But theſe things have I told you, that, when the time ſhall come, ye may remember that I told you of them.

WHIT-SUNDAY.

The Collect.

GOD, who as at this time didſt teach the hearts of thy faithful people, by the ſending to them the light of thy Holy Spirit; Grant us by the ſame Spirit to have a right judgement in all things, and evermore to rejoice in his holy comfort; through the merits of Chriſt Jeſus our Saviour, who liveth and reigneth with thee, in the unity of the ſame Spirit, one God, world without end. *Amen.*

WHIT-SUNDAY.

For the Epiſtle. Acts ii. 1.

WHEN the day of Pentecoſt was fully come, they were all with one accord in one place. And ſuddenly there came a ſound from heaven, as of a ruſhing mighty wind, and it filled all the houſe where they were ſitting. And there appeared unto them cloven tongues, like as of fire, and it ſat upon each of them: and they were all filled with the Holy Ghoſt, and began to ſpeak with other tongues, as the Spirit gave them utterance. And there were dwelling at Jeruſalem Jews, devout men, out of every nation under heaven. Now when this was noiſed abroad, the multitude came together, and were confounded, becauſe that every man heard them ſpeak in his own language. And they were all amazed, and marvelled, ſaying one to another, Behold, are not all theſe which ſpeak Galileans? And how hear we every man in our own tongue wherein we were born? Parthians, and Medes, and Elamites, and the dwellers in Meſopotamia, and in Judæa, and Cappadocia, in Pontus, and Aſia, Phrygia, and Pamphylia, in Egypt, and in the parts of Libya about Cyrene, and ſtrangers of Rome, Jews, and Proſelytes, Cretes, and Arabians, we do hear them ſpeak in our tongues the wonderful works of God.

The Goſpel. St. John xiv. 15.

JESUS ſaid unto his diſciples, If ye love me, keep my commandments. And I will pray the Father, and he ſhall give you another Comforter, that he may abide with you for ever; even the Spirit of truth, whom the world cannot receive, becauſe it ſeeth him not, neither knoweth him: but ye know him; for he dwelleth with you, and ſhall be in you. I will not leave you comfortleſs; I will come to you. Yet a little while, and the world ſeeth me no more; but ye ſee me: becauſe I live, ye ſhall live alſo. At that day ye ſhall know, that I am in my Father, and ye in me, and I in you. He that hath my commandments, and keepeth them, he it is that loveth me; and he that loveth me ſhall be loved of my Father, and I will love him, and will manifeſt myſelf to him. Judas ſaith unto him, (not Iſcariot,) Lord, how is it that thou wilt manifeſt thyſelf unto us, and not unto the world? Jeſus anſwered and ſaid unto him, If a man love me, he will keep my words, and my Father will love him, and we will come unto him, and make our abode with him. He that loveth me not keepeth not my ſayings: and the word which ye hear is not mine, but the Father's which ſent me. Theſe things have I ſpoken unto you, being yet preſent with you. But the Comforter, which is the Holy Ghoſt, whom

the Father will ſend in my Name, he ſhall teach you all things, and bring all things to your remembrance, whatſoever I have ſaid unto you. Peace I leave with you, my peace I give unto you: not as the world giveth, give I unto you. Let not your heart be troubled, neither let it be afraid. Ye have heard how I ſaid unto you, I go away, and come again unto you. If ye loved me, ye would rejoice, becauſe I ſaid, I go unto the Father: for my Father is greater than I. And now I have told you before it come to paſs, that, when it is come to paſs, ye might believe. Hereafter I will not talk much with you: for the prince of this world cometh, and hath nothing in me. But that the world may know that I love the Father; and as the Father gave me commandment, even ſo I do.

Monday in Whitſun-week.

The Collect.

GOD, who as at this time didſt teach the hearts of thy faithful people, by the ſending to them the light of thy Holy Spirit; Grant us by the ſame Spirit to have a right judgement in all things, and evermore to rejoice in his holy comfort; through the merits of Chriſt Jeſus our Saviour, who liveth and reigneth with thee, in the unity of the ſame Spirit, one God, world without end. *Amen.*

Monday in Whitſun-week.

For the Epiſtle. Acts x. 34.

THEN Peter opened his mouth, and ſaid, Of a truth I perceive that God is no reſpecter of perſons; but in every nation he that feareth him, and worketh righteouſneſs, is accepted with him. The Word which God ſent unto the children of Iſrael, preaching peace by Jeſus Chriſt; (he is Lord of all;) that Word, I ſay, ye know, which was publiſhed throughout all Judæa, and began from Galilee, after the baptiſm which John preached: how God anointed Jeſus of Nazareth with the Holy Ghoſt, and with power; who went about doing good, and healing all that were oppreſſed of the devil: for God was with him. And we are witneſſes of all things which he did, both in the land of the Jews, and in Jeruſalem; whom they ſlew, and hanged on a tree: Him God raiſed up the third day, and ſhewed him openly; not to all the people, but unto witneſſes choſen before of God; even to us who did eat and drink with him after he roſe from the dead. And he commanded us to preach unto the people, and to teſtify that it is he which was ordained of God to be the Judge of quick and dead. To him give all the prophets witneſs, that through his Name whoſoever believeth in him ſhall receive remiſſion of ſins. While Peter yet ſpake theſe words, the Holy Ghoſt fell on all them which heard

the word. And they of the circumciſion, which believed, were aſtoniſhed, as many as came with Peter, becauſe that on the Gentiles alſo was poured out the gift of the Holy Ghoſt. For they heard them ſpeak with tongues, and magnify God. Then anſwered Peter, Can any man forbid water, that theſe ſhould not be baptized, which have received the Holy Ghoſt as well as we? And he commanded them to be baptized in the Name of the Lord. Then prayed they him to tarry certain days.

The Goſpel. St. John iii. 16.

GOD ſo loved the world, that he gave his only-begotten Son, that whoſoever believeth in him ſhould not periſh, but have everlaſting life. For God ſent not his Son into the world to condemn the world, but that the world through him might be ſaved. He that believeth on him is not condemned: but he that believeth not is condemned already; becauſe he hath not believed in the Name of the only-begotten Son of God. And this is the condemnation, that light is come into the world, and men loved darkneſs rather than light, becauſe their deeds were evil. For every one that doeth evil hateth the light, neither cometh to the light, leſt his deeds ſhould be reproved. But he that doeth truth cometh to the light, that his deeds may be made manifeſt, that they are wrought in God.

Tuesday in Whitsun-week.

The Collect.

GOD, who as at this time didst teach the hearts of thy faithful people, by the sending to them the light of thy Holy Spirit; Grant us by the same Spirit to have a right judgement in all things, and evermore to rejoice in his holy comfort; through the merits of Christ Jesus our Saviour, who liveth and reigneth with thee, in the unity of the same Spirit, one God, world without end. *Amen.*

For the Epistle. Acts viii. 14.

WHEN the Apostles, which were at Jerusalem, heard that Samaria had received the word of God, they sent unto them Peter and John; who, when they were come down, prayed for them, that they might receive the Holy Ghost: (for as yet he was fallen upon none of them; only they were baptized in the Name of the Lord Jesus.) Then laid they their hands on them, and they received the Holy Ghost.

The Gospel. St. John x. 1.

VERILY, verily I say unto you, He that entereth not by the door into the sheepfold, but climbeth up some other way, the same is a thief and a robber. But he that entereth in by the door is the shepherd of the sheep: to him the porter openeth; and the sheep hear his voice, and he calleth his own sheep by name, and leadeth them out. And,

when he putteth forth his own ſheep, he goeth before them, and the ſheep follow him; for they know his voice. And a ſtranger will they not follow; but will flee from him; for they know not the voice of ſtrangers. This parable ſpake Jeſus unto them: but they underſtood not what things they were which he ſpake unto them. Then ſaid Jeſus unto them again; Verily, verily I ſay unto you, I am the door of the ſheep. All that ever came before me are thieves and robbers; but the ſheep did not hear them. I am the door; by me if any man enter in, he ſhall be ſaved, and ſhall go in and out, and find paſture. The thief cometh not but for to ſteal, and to kill, and to deſtroy: I am come that they might have life, and that they might have it more abundantly.

TRINITY-SUNDAY.

The Collect.

ALMIGHTY and everlaſting God, who haſt given unto us thy ſervants grace by the confeſſion of a true faith to acknowledge the glory of the eternal Trinity, and in the power of the Divine Majeſty to worſhip the Unity; We beſeech thee, that thou wouldeſt keep us ſtedfaſt in this faith, and evermore defend us from all adverſities, who liveſt and reigneſt, one God, world without end. *Amen.*

TRINITY-SUNDAY.

For the Epiſtle. Rev. iv. 1.

AFTER this I looked, and behold, a door was opened in heaven: and the firſt voice which I heard was as it were of a trumpet talking with me; which ſaid, Come up hither, and I will ſhew thee things which muſt be hereafter. And immediately I was in the Spirit; and behold, a throne was ſet in heaven, and one ſat on the throne: and he that ſat was to look upon like a jaſper and a ſardine ſtone: and there was a rainbow round about the throne, in ſight like unto an emerald. And round about the throne were four and twenty ſeats; and upon the ſeats I ſaw four and twenty elders ſitting, clothed in white raiment; and they had on their heads crowns of gold: And out of the throne proceeded lightnings, and thunderings, and voices. And there were ſeven lamps of fire burning before the throne, which are the ſeven ſpirits of God. And before the throne there was a ſea of glaſs like unto cryſtal: and in the midſt of the throne, and round about the throne, were four beaſts full of eyes before and behind. And the firſt beaſt was like a lion, and the ſecond beaſt like a calf, and the third beaſt had a face as a man, and the fourth beaſt was like a flying eagle. And the four beaſts had each of them ſix wings about him; and they were full of eyes within: and they reſt not day

and night, saying, Holy, holy, holy, Lord God Almighty, which was, and is, and is to come. And when those beasts give glory, and honour, and thanks, to him that sat on the throne, who liveth for ever and ever, the four and twenty elders fall down before him that sat on the throne, and worship him that liveth for ever and ever, and cast their crowns before the throne, saying, Thou art worthy, O Lord, to receive glory, and honour, and power; for thou hast created all things, and for thy pleasure they are and were created.

The Gospel. St. John iii. 1.

THERE was a man of the Pharisees, named Nicodemus, a ruler of the Jews: the same came to Jesus by night, and said unto him, Rabbi, we know that thou art a teacher come from God: for no man can do these miracles that thou doest, except God be with him. Jesus answered and said unto him, Verily, verily I say unto thee, Except a man be born again, he cannot see the Kingdom of God. Nicodemus saith unto him, How can a man be born when he is old? can he enter the second time into his mother's womb, and be born? Jesus answered, Verily, verily I say unto thee, Except a man be born of water, and of the Spirit, he cannot enter into the Kingdom of God. That which is born of the flesh is flesh; and that which is born of the

Spirit is ſpirit. Marvel not that I ſaid unto thee, Ye muſt be born again. The wind bloweth where it liſteth, and thou heareſt the ſound thereof, but canſt not tell whence it cometh, and whither it goeth; ſo is every one that is born of the Spirit. Nicodemus anſwered and ſaid unto him, How can theſe things be? Jeſus anſwered and ſaid unto him, Art thou a maſter of Iſrael, and knoweſt not theſe things? Verily, verily I ſay unto thee, We ſpeak that we do know, and teſtify that we have ſeen; and ye receive not our witneſs. If I have told you earthly things, and ye believe not; how ſhall ye believe, if I tell you of heavenly things? And no man hath aſcended up to heaven, but he that came down from heaven, even the Son of man, who is in heaven. And as Moſes lifted up the ſerpent in the wilderneſs, even ſo muſt the Son of man be lifted up: that whoſoever believeth in him ſhould not periſh, but have eternal life.

The firſt Sunday after Trinity.

The Collect.

O God, the ſtrength of all them that put their truſt in thee, mercifully accept our prayers; and becauſe through the weakneſs of our mortal nature we can do no good thing without thee, grant us the help of thy grace, that in keeping of thy commandments we may

pleaſe thee, both in will and deed; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. 1 St. John iv. 7.

BELOVED, let us love one another: for love is of God, and every one that loveth is born of God, and knoweth God. He that loveth not knoweth not God; for God is love. In this was manifeſted the love of God towards us, becauſe that God ſent his only-begotten Son into the world, that we might live through him. Herein is love, not that we loved God, but that he loved us, and ſent his Son to be the propitiation for our ſins. Beloved, if God ſo loved us, we ought alſo to love one another. No man hath ſeen God at any time. If we love one another, God dwelleth in us, and his love is perfected in us. Hereby know we that we dwell in him, and he in us; becauſe he hath given us of his Spirit. And we have ſeen, and do teſtify, that the Father ſent the Son to be the Saviour of the world. Whoſoever ſhall confeſs that Jeſus is the Son of God, God dwelleth in him, and he in God. And we have known and believed the love that God hath to us. God is love; and he that dwelleth in love dwelleth in God, and God in him. Herein is our love made perfect, that we may have boldneſs in the day of judgement; becauſe as he is, ſo are we in this world. There is no fear in love; but per-

fect love caſteth out fear; becauſe fear hath torment: He that feareth is not made perfect in love. We love him, becauſe he firſt loved us. If a man ſay, I love God, and hateth his brother, he is a liar: for he that loveth not his brother, whom he hath ſeen, how can he love God, whom he hath not ſeen? And this commandment have we from him, That he who loveth God love his brother alſo.

The Goſpel. St. Luke xvi. 19.

THERE was a certain rich man, which was clothed in purple, and fine linen, and fared ſumptuouſly every day. And there was a certain beggar named Lazarus, which was laid at his gate full of ſores, and deſiring to be fed with the crumbs, which fell from the rich man's table: moreover, the dogs came and licked his ſores. And it came to paſs, that the beggar died, and was carried by the angels into Abraham's boſom. The rich man alſo died, and was buried; and in hell he lift up his eyes being in torments, and ſeeth Abraham afar off, and Lazarus in his boſom. And he cried and ſaid, Father Abraham, have mercy on me, and ſend Lazarus, that he may dip the tip of his finger in water, and cool my tongue; for I am tormented in this flame. But Abraham ſaid, Son, remember that thou in thy life-time receivedſt thy good things, and likewiſe Lazarus evil things; but now he

is comforted, and thou art tormented. And beſides all this, between us and you there is a great gulf fixed: ſo that they who would paſs from hence to you cannot; neither can they paſs to us, that would come from thence. Then he ſaid, I pray thee therefore, father, that thou wouldeſt ſend him to my father's houſe: for I have five brethren; that he may teſtify unto them, leſt they alſo come into this place of torment. Abraham ſaith unto him, They have Moſes and the prophets; let them hear them. And he ſaid, Nay, father Abraham; but if one went unto them from the dead, they will repent. And he ſaid unto him, If they hear not Moſes and the prophets, neither will they be perſuaded, though one roſe from the dead.

The ſecond Sunday after Trinity.

The Collect.

O Lord, who never faileſt to help and govern them whom thou doſt bring up in thy ſtedfaſt fear and love; Keep us, we beſeech thee, under the protection of thy good providence, and make us to have a perpetual fear and love of thy holy Name; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. 1 St. John iii. 13.

MARVEL not, my brethren, if the world hate you. We know that we have paſſ-

ed from death unto life, becauſe we love the brethren. He that loveth not his brother abideth in death. Whoſoever hateth his brother is a murderer: and ye know that no murderer hath eternal life abiding in him. Hereby perceive we the love of God, becauſe he laid down his life for us: and we ought to lay down our lives for the brethren. But whoſo hath this world's good, and ſeeth his brother have need, and ſhutteth up his bowels of compaſſion from him; how dwelleth the love of God in him? My little children, let us not love in word, neither in tongue; but in deed, and in truth. And hereby we know that we are of the truth, and ſhall aſſure our hearts before him. For if our heart condemn us, God is greater than our heart, and knoweth all things. Beloved, if our heart condemn us not, then have we confidence towards God. And whatſoever we aſk, we receive of him, becauſe we keep his commandments, and do thoſe things that are pleaſing in his ſight. And this is his commandment, That we ſhould believe on the Name of his Son Jeſus Chriſt, and love one another, as he gave us commandment. And he that keepeth his commandments dwelleth in him, and he in him: and hereby we know that he abideth in us, by the Spirit which he hath given us.

The third Sunday after Trinity.

The Goſpel. St. Luke xiv. 16.

A Certain man made a great ſupper, and bade many; and ſent his ſervant at ſupper-time to ſay to them that were bidden, Come, for all things are now ready. And they all with one conſent began to make excuſe. The firſt ſaid unto him, I have bought a piece of ground, and I muſt needs go and ſee it; I pray thee have me excuſed. And another ſaid, I have bought five yoke of oxen, and I go to prove them; I pray thee have me excuſed. And another ſaid, I have married a wife, and therefore I cannot come. So that ſervant came, and ſhewed his lord theſe things. Then the maſter of the houſe being angry ſaid to his ſervant, Go out quickly into the ſtreets and lanes of the city, and bring in hither the poor, and the maimed, and the halt, and the blind. And the ſervant ſaid, Lord, it is done as thou haſt commanded, and yet there is room. And the Lord ſaid unto the ſervant, Go out into the high-ways and hedges, and compel them to come in, that my houſe may be filled. For I ſay unto you, That none of thoſe men which were bidden ſhall taſte of my ſupper.

The third Sunday after Trinity.

The Collect.

O Lord, we beſeech thee mercifully to hear us; and grant that we, to whom thou

haſt given an hearty deſire to pray, may by thy mighty aid be defended and comforted in all dangers and adverſities; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. 1 St. Peter v. 5.

ALL of you be ſubject one to another, and be clothed with humility: for God reſiſteth the proud, and giveth grace to the humble. Humble yourſelves therefore under the mighty hand of God, that he may exalt you in due time; caſting all your care upon him, for he careth for you. Be ſober, be vigilant; becauſe your adverſary the devil, as a roaring lion, walketh about ſeeking whom he may devour: whom reſiſt ſtedfaſt in the faith, knowing that the ſame afflictions are accompliſhed in your brethren that are in the world. But the God of all grace, who hath called us into his eternal glory by Chriſt Jeſus, after that ye have ſuffered a while, make you perfect, ſtabliſh, ſtrengthen, ſettle you. To him be glory and dominion for ever and ever. Amen.

The Goſpel. St. Luke xv. 1.

THEN drew near unto him all the publicans and ſinners for to hear him. And the Phariſees and Scribes murmured, ſaying, This man receiveth ſinners, and eateth with them. And he ſpake this parable unto them, ſaying, What man of you having an hundred ſheep, if he loſe one of them, doth not leave

the ninety and nine in the wilderneſs, and go after that which is loſt, until he find it? And when he hath found it, he layeth it on his ſhoulders, rejoicing. And when he cometh home, he calleth together his friends and neighbours, ſaying unto them, Rejoice with me, for I have found my ſheep which was loſt. I ſay unto you, That likewiſe joy ſhall be in heaven over one ſinner that repenteth, more than over ninety and nine juſt perſons, which need no repentance. Either what woman having ten pieces of ſilver, if ſhe loſe one piece, doth not light a candle, and ſweep the houſe, and ſeek diligently till ſhe find it? And when ſhe hath found it, ſhe calleth her friends and her neighbours together, ſaying, Rejoice with me, for I have found the piece which I had loſt. Likewiſe, I ſay unto you, There is joy in the preſence of the angels of God over one ſinner that repenteth.

The fourth Sunday after Trinity.

The Collect.

O God, the protector of all that truſt in thee, without whom nothing is ſtrong, nothing is holy; Increaſe and multiply upon us thy mercy; that, thou being our ruler and guide, we may ſo paſs through things temporal, that we finally loſe not the things eternal:

Grant this, O heavenly Father, for Jeſus Chriſt's ſake our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Rom. viii. 18.

I Reckon that the ſufferings of this preſent time are not worthy to be compared with the glory which ſhall be revealed in us. For the earneſt expectation of the creature waiteth for the manifeſtation of the ſons of God. For the creature was made ſubject to vanity, not willingly, but by reaſon of him who hath ſubjected the ſame in hope: becauſe the creature itſelf alſo ſhall be delivered from the bondage of corruption, into the glorious liberty of the children of God. For we know that the whole creation groaneth, and travaileth in pain together until now. And not only they, but ourſelves alſo, which have the firſt-fruits of the Spirit, even we ourſelves groan within ourſelves, waiting for the adoption, to wit, the redemption of our body.

The Goſpel. St. Luke vi. 36.

BE ye therefore merciful, as your Father alſo is merciful. Judge not, and ye ſhall not be judged: condemn not, and ye ſhall not be condemned: forgive, and ye ſhall be forgiven: give, and it ſhall be given unto you; good meaſure, preſſed down, and ſhaken together, and running over, ſhall men give into your boſom. For with the ſame meaſure that ye mete withal, it ſhall be meaſured to you

again. And he ſpake a parable unto them, Can the blind lead the blind? ſhall they not both fall into the ditch? The diſciple is not above his maſter; but every one that is perfect ſhall be as his maſter. And why beholdeſt thou the mote that is in thy brother's eye, but perceiveſt not the beam that is in thine own eye? Either how canſt thou ſay to thy brother, Brother, let me pull out the mote that is in thine eye, when thou thyſelf beholdeſt not the beam that is in thine own eye? Thou hypocrite, caſt out firſt the beam out of thine own eye, and then ſhalt thou ſee clearly to pull out the mote that is in thy brother's eye.

The fifth Sunday after Trinity.

The Collect.

GRANT, O Lord, we beſeech thee, that the courſe of this world may be ſo peaceably ordered by thy governance, that thy Church may joyfully ſerve thee in all godly quietneſs; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. 1 St. Peter iii. 8.

BE ye all of one mind, having compaſſion one of another, love as brethren, be pitiful, be courteous; not rendering evil for evil, or railing for railing; but contrariwiſe bleſſing; knowing that ye are thereunto call-

ed, that ye ſhould inherit a bleſſing. For he that will love life, and ſee good days, let him refrain his tongue from evil, and his lips that they ſpeak no guile: let him eſchew evil, and do good; let him ſeek peace, and enſue it. For the eyes of the Lord are over the righteous, and his ears are open unto their prayers: but the face of the Lord is againſt them that do evil. And who is he that will harm you, if ye be followers of that which is good? But and if ye ſuffer for righteouſneſs' ſake, happy are ye: and be not afraid of their terror, neither be troubled; but ſanctify the Lord God in your hearts.

The Goſpel. St. Luke v. 1.

IT came to paſs, that as the people preſſed upon him to hear the Word of God he ſtood by the lake of Genneſareth, and ſaw two ſhips ſtanding by the lake; but the fiſhermen were gone out of them, and were waſhing their nets. And he entered into one of the ſhips, which was Simon's, and prayed him that he would thruſt out a little from the land: and he ſat down, and taught the people out of the ſhip. Now when he had left ſpeaking, he ſaid unto Simon, Launch out into the deep, and let down your nets for a draught. And Simon anſwering ſaid unto him, Maſter, we have toiled all the night, and have taken nothing; nevertheleſs, at thy word I will let down the

net. And when they had this done, they incloſed a great multitude of fiſhes and their net brake. And they beckoned unto their partners which were in the other ſhip, that they ſhould come and help them. And they came, and filled both the ſhips, ſo that they began to ſink. When Simon Peter ſaw it, he fell down at Jeſus' knees, ſaying, Depart from me, for I am a ſinful man, O Lord. For he was aſtoniſhed, and all that were with him, at the draught of the fiſhes which they had taken; and ſo was alſo James, and John, the ſons of Zebedee, which were partners with Simon. And Jeſus ſaid unto Simon, Fear not, from henceforth thou ſhalt catch men. And when they had brought their ſhips to land, they forſook all, and followed him.

The ſixth Sunday after Trinity.

The Collect.

O God, who haſt prepared for them that love thee ſuch good things as paſs man's underſtanding; Pour into our hearts ſuch love toward thee, that we, loving thee above all things, may obtain thy promiſes, which exceed all that we can deſire; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Rom. vi. 3.

KNOW ye not, that ſo many of us as were baptized into Jeſus Chriſt were baptized

into his death? Therefore we are buried with him by baptiſm into death; that like as Chriſt was raiſed up from the dead by the glory of the Father, even ſo we alſo ſhould walk in newneſs of life. For if we have been planted together in the likeneſs of his death, we ſhall be alſo in the likeneſs of his reſurrection: knowing this, that our old man is crucified with him, that the body of ſin might be deſtroyed, that henceforth we ſhould not ſerve ſin. For he that is dead is freed from ſin. Now if we be dead with Chriſt, we believe that we ſhall alſo live with him; knowing that Chriſt being raiſed from the dead dieth no more; death hath no more dominion over him. For in that he died, he died unto ſin once; but in that he liveth, he liveth unto God. Likewiſe reckon ye alſo yourſelves to be dead indeed unto ſin, but alive unto God through Jeſus Chriſt our Lord.

The Goſpel. St. Matth. v. 20.

JESUS ſaid unto his diſciples, Except your righteouſneſs ſhall exceed the righteouſneſs of the Scribes and Phariſees, ye ſhall in no caſe enter into the Kingdom of heaven. Ye have heard that it was ſaid by them of old time, Thou ſhalt not kill: and whoſoever ſhall kill, ſhall be in danger of the judgement. But I ſay unto you, that whoſoever is angry with his brother without a cauſe ſhall be in dan-

ger of the judgement: and whoſoever ſhall ſay to his brother, Raca, ſhall be in danger of the council: but whoſoever ſhall ſay, Thou fool, ſhall be in danger of hell-fire. Therefore if thou bring thy gift to the altar, and there remembereſt that thy brother hath ought againſt thee; leave there thy gift before the altar, and go thy way, firſt be reconciled to thy brother, and then come and offer thy gift. Agree with thine adverſary quickly, whiles thou art in the way with him; leſt at any time the adverſary deliver thee to the judge, and the judge deliver thee to the officer, and thou be caſt into priſon. Verily I ſay unto thee, Thou ſhalt by no means come out thence, till thou haſt paid the uttermoſt farthing.

The ſeventh Sunday after Trinity.

The Collect.

LORD of all power and might, who art the author and giver of all good things; Graft in our hearts the love of thy Name, increaſe in us true religion, nouriſh us with all goodneſs, and of thy great mercy keep us in the ſame; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Rom. vi. 19.

I Speak after the manner of men, becauſe of the infirmity of your fleſh: for as ye

have yielded your members servants to uncleanness, and to iniquity, unto iniquity; even so now yield your members servants to righteousness, unto holiness. For when ye were the servants of sin, ye were free from righteousness. What fruit had ye then in those things whereof ye are now ashamed? for the end of those things is death. But now being made free from sin, and become servants to God, ye have your fruit unto holiness, and the end everlasting life. For the wages of sin is death: but the gift of God is eternal life, through Jesus Christ our Lord.

The Gospel. St. Mark viii. 1.

IN those days the multitude being very great, and having nothing to eat, Jesus called his disciples unto him, and saith unto them, I have compassion on the multitude, because they have now been with me three days, and have nothing to eat: and if I send them away fasting to their own houses, they will faint by the way; for divers of them came from far. And his disciples answered him, From whence can a man satisfy these men with bread here in the wilderness? And he asked them, How many loaves have ye? And they said, Seven. And he commanded the people to sit down on the ground. And he took the seven loaves, and gave thanks, and brake, and gave to his disciples to set before

them; and they did ſet them before the people. And they had a few ſmall fiſhes; and he bleſſed, and commanded to ſet them alſo before them. So they did eat, and were filled: and they took up of the broken meat that was left ſeven baſkets. And they that had eaten were about four thouſand. And he ſent them away.

The eighth Sunday after Trinity.

The Collect.

O God, whoſe never-failing providence ordereth all things both in heaven and earth; We humbly beſeech thee to put away from us all hurtful things, and to give us thoſe things which be profitable for us; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Rom. viii. 12.

BRETHREN, we are debtors, not to the fleſh, to live after the fleſh. For if ye live after the fleſh, ye ſhall die; but if ye through the Spirit do mortify the deeds of the body, ye ſhall live. For as many as are led by the Spirit of God, they are the ſons of God. For ye have not received the ſpirit of bondage again to fear; but ye have received the ſpirit of adoption, whereby we cry, Abba, Father. The Spirit itſelf beareth witneſs with our ſpirit, that we are the children of God: and if children, then heirs; heirs of God, and

joint-heirs with Chriſt: if ſo be that we ſuffer with him, that we may be alſo glorified together.

The Goſpel. St. Matth. vii. 15.

BEWARE of falſe prophets, which come to you in ſheep's clothing, but inwardly they are ravening wolves. Ye ſhall know them by their fruits: do men gather grapes of thorns, or figs of thiſtles? Even ſo every good tree bringeth forth good fruit; but a corrupt tree bringeth forth evil fruit. A good tree cannot bring forth evil fruit; neither can a corrupt tree bring forth good fruit. Every tree that bringeth not forth good fruit is hewn down, and caſt into the fire. Wherefore by their fruits ye ſhall know them. Not every one that ſaith unto me, Lord, Lord, ſhall enter into the Kingdom of heaven; but he that doeth the will of my Father which is in heaven.

The ninth Sunday after Trinity.

The Collect.

GRANT to us, Lord, we beſeech thee, the ſpirit to think and do always ſuch things as be rightful; that we, who cannot do any thing that is good without thee, may by thee be enabled to live according to thy will; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The ninth Sunday after Trinity.

The Epiſtle. 1 Cor. x. 1.

BRETHREN, I would not that ye ſhould be ignorant, how that all our fathers were under the cloud, and all paſſed through the ſea; and were all baptized unto Moſes in the cloud, and in the ſea; and did all eat the ſame ſpiritual meat, and did all drink the ſame ſpiritual drink: (for they drank of that ſpiritual Rock that followed them; and that Rock was Chriſt.) But with many of them God was not well pleaſed; for they were overthrown in the wilderneſs. Now theſe things were our examples, to the intent we ſhould not luſt after evil things, as they alſo luſted. Neither be ye idolaters, as were ſome of them; as it is written, The people ſat down to eat and drink, and roſe up to play. Neither let us commit fornication, as ſome of them committed, and fell in one day three and twenty thouſand. Neither let us tempt Chriſt, as ſome of them alſo tempted, and were deſtroyed of ſerpents. Neither murmur ye, as ſome of them alſo murmured, and were deſtroyed of the deſtroyer. Now all theſe things happened unto them for enſamples: and they are written for our admonition, upon whom the ends of the world are come. Wherefore let him that thinketh he ſtandeth take heed leſt he fall. There hath no temptation taken you, but ſuch as is common to man: but God is faithful, who will

not ſuffer you to be tempted above that ye are able; but will with the temptation alſo make a way to eſcape, that ye may be able to bear it.

The Goſpel. St. Luke xvi. 1.

JESUS ſaid unto his diſciples, There was a certain rich man which had a ſteward; and the ſame was accuſed unto him that he had waſted his goods. And he called him, and ſaid unto him, How is it that I hear this of thee? Give an account of thy ſtewardſhip; for thou mayeſt be no longer ſteward. Then the ſteward ſaid within himſelf, What ſhall I do? for my lord taketh away from me the ſtewardſhip: I cannot dig, to beg I am aſhamed. I am reſolved what to do, that, when I am put out of the ſtewardſhip, they may receive me into their houſes. So he called every one of his lord's debtors unto him, and ſaid unto the firſt, How much oweſt thou unto my lord? And he ſaid, An hundred meaſures of oil. And he ſaid unto him, Take thy bill, and ſit down quickly, and write fifty. Then ſaid he to another, And how much oweſt thou? And he ſaid, An hundred meaſures of wheat. And he ſaid unto him, Take thy bill, and write fourſcore. And the lord commended the unjuſt ſteward, becauſe he had done wiſely: for the children of this

world are in their generation wiſer than the children of light. And I ſay unto you, Make to yourſelves friends of the mammon of unrighteouſneſs; that when ye fail, they may receive you into everlaſting habitations.

The tenth Sunday after Trinity.

The Collect.

LET thy merciful ears, O Lord, be open to the prayers of thy humble ſervants; and that they may obtain their petitions make them to aſk ſuch things as ſhall pleaſe thee; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. 1 Cor. xii. 1.

CONCERNING ſpiritual gifts, brethren, I would not have you ignorant. Ye know that ye were Gentiles, carried away unto theſe dumb idols, even as ye were led. Wherefore I give you to underſtand, that no man ſpeaking by the Spirit of God calleth Jeſus accurſed; and that no man can ſay that Jeſus is the Lord, but by the Holy Ghoſt. Now there are diverſities of gifts, but the ſame Spirit. And there are differences of adminiſtrations, but the ſame Lord. And there are diverſities of operations, but it is the ſame God, who worketh all in all. But the manifeſtation of the Spirit is given to every man to profit withal.

For to one is given by the Spirit the word of wiſdom; to another the word of knowledge by the ſame Spirit; to another faith by the ſame Spirit; to another the gifts of healing by the ſame Spirit; to another the working of miracles; to another prophecy; to another diſcerning of ſpirits; to another divers kinds of tongues; to another the interpretation of tongues. But all theſe worketh that one and the ſelf-ſame Spirit, dividing to every man ſeverally as he will.

The Goſpel. St. Luke xix. 41.

AND when he was come near, he beheld the city, and wept over it, ſaying, If thou hadſt known, even thou, at leaſt in this thy day, the things which belong unto thy peace! but now they are hid from thine eyes. For the days ſhall come upon thee, that thine enemies ſhall caſt a trench about thee, and compaſs thee round, and keep thee in on every ſide, and ſhall lay thee even with the ground, and thy children within thee; and they ſhall not leave in thee one ſtone upon another; becauſe thou kneweſt not the time of thy viſitation. And he went into the temple, and began to caſt out them that ſold therein, and them that bought, ſaying unto them, It is written, My houſe is the houſe of prayer: but ye have made it a den of thieves. And he taught daily in the temple.

The eleventh Sunday after Trinity.

The Collect.

O God, who declareſt thy almighty power moſt chiefly in ſhewing mercy and pity; Mercifully grant unto us ſuch a meaſure of thy grace, that we, running the way of thy commandments, may obtain thy gracious promiſes, and be made partakers of thy heavenly treaſure; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. 1 Cor. xv. 1.

BRETHREN, I declare unto you the Goſpel which I preached unto you, which alſo ye have received, and wherein ye ſtand: by which alſo ye are ſaved, if ye keep in memory what I preached unto you, unleſs ye have believed in vain. For I delivered unto you firſt of all, that which I alſo received, how that Chriſt died for our ſins, according to the Scriptures; and that he was buried; and that he roſe again the third day, according to the Scriptures; and that he was ſeen of Cephas, then of the twelve: after that, he was ſeen of above five hundred brethren at once; of whom the greater part remain unto this preſent; but ſome are fallen aſleep: after that, he was ſeen of James; then of all the Apoſtles: and laſt of all, he was ſeen of me alſo, as of one born out of due time. For I am the leaſt of the Apoſtles, that am not meet to be called an Apoſtle, becauſe I perſecuted the Church

of God. But by the grace of God I am what I am: and his grace which was beſtowed upon me was not in vain; but I laboured more abundantly than they all; yet not I, but the grace of God which was with me. Therefore whether it were I or they, ſo we preach, and ſo ye believed.

The Goſpel. St. Luke xviii. 9.

JESUS ſpake this parable unto certain which truſted in themſelves that they were righteous, and deſpiſed others: Two men went up into the temple to pray; the one a Phariſee, and the other a Publican. The Phariſee ſtood and prayed thus with himſelf, God, I thank thee, that I am not as other men are, extortioners, unjuſt, adulterers, or even as this Publican: I faſt twice in the week, I give tithes of all that I poſſeſs. And the Publican, ſtanding afar off, would not lift up ſo much as his eyes unto heaven, but ſmote upon his breaſt, ſaying, God be merciful to me a ſinner. I tell you, this man went down to his houſe juſtified rather than the other: for every one that exalteth himſelf ſhall be abaſed; and he that humbleth himſelf ſhall be exalted.

The twelfth Sunday after Trinity.

The Collect.

ALMIGHTY and everlaſting God, who art always more ready to hear than we

to pray, and art wont to give more than either we desire, or deserve; Pour down upon us the abundance of thy mercy; forgiving us those things whereof our conscience is afraid, and giving us those good things which we are not worthy to ask, but through the merits and mediation of Jesus Christ, thy Son, our Lord. *Amen.*

The Epistle. 2 Cor. iii. 4.

SUCH trust have we through Christ to Godward: not that we are sufficient of ourselves to think any thing as of ourselves; but our sufficiency is of God. Who also hath made us able ministers of the New Testament; not of the letter, but of the Spirit: for the letter killeth, but the Spirit giveth life. But if the ministration of death written and engraven in stones was glorious, so that the children of Israel could not stedfastly behold the face of Moses for the glory of his countenance, which glory was to be done away; how shall not the ministration of the Spirit be rather glorious? For if the ministration of condemnation be glory, much more doth the ministration of righteousness exceed in glory.

The Gospel. St. Mark vii. 31.

JESUS, departing from the coasts of Tyre and Sidon, came unto the sea of Galilee, through the midst of the coasts of Decapolis. And they bring unto him one that was deaf,

and had an impediment in his ſpeech; and they beſeech him to put his hand upon him. And he took him aſide from the multitude, and put his fingers into his ears, and he ſpit, and touched his tongue; and looking up to heaven, he ſighed, and ſaith unto him, *Ephphatha*, that is, Be opened. And ſtraightway his ears were opened, and the ſtring of his tongue was looſed, and he ſpake plain. And he charged them that they ſhould tell no man: but the more he charged them, ſo much the more a great deal they publiſhed it; and were beyond meaſure aſtoniſhed, ſaying, He hath done all things well; he maketh both the deaf to hear, and the dumb to ſpeak.

The thirteenth Sunday after Trinity.

The Collect.

ALMIGHTY and merciful God, of whoſe only gift it cometh that thy faithful people do unto thee true and laudable ſervice; Grant, we beſeech thee, that we may ſo faithfully ſerve thee in this life, that we fail not finally to attain thy heavenly promiſes; through the merits of Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Gal. iii. 16.

TO Abraham and his ſeed were the promiſes made. He ſaith not, And to ſeeds, as of many; but as of one; And to thy ſeed, which is Chriſt. And this I ſay, That the

covenant that was confirmed before of God in Chriſt, the Law, which was four hundred and thirty years after, cannot diſannul, that it ſhould make the promiſe of none effect. For if the inheritance be of the Law, it is no more of promiſe; but God gave it to Abraham by promiſe. Wherefore then ſerveth the Law? It was added becauſe of tranſgreſſions, till the ſeed ſhould come, to whom the promiſe was made; and it was ordained by angels in the hand of a mediator. Now a mediator is not a mediator of one; but God is one. Is the Law then againſt the promiſes of God? God forbid: for if there had been a law given which could have given life, verily righteouſneſs ſhould have been by the Law. But the Scripture hath concluded all under ſin, that the promiſe by faith of Jeſus Chriſt might be given to them that believe.

The Goſpel. St. Luke x. 23.

BLESSED are the eyes which ſee the things that ye ſee. For I tell you, That many prophets and kings have deſired to ſee thoſe things which ye ſee, and have not ſeen them; and to hear thoſe things which ye hear, and have not heard them. And behold, a certain Lawyer ſtood up, and tempted him, ſaying, Maſter, what ſhall I do to inherit eternal life? He ſaid unto him, What is written in the Law? how readeſt thou? And he an-

ſwering ſaid, Thou ſhalt love the Lord thy God with all thy heart, and with all thy ſoul, and with all thy ſtrength, and with all thy mind; and thy neighbour as thyſelf. And he ſaid unto him, Thou haſt anſwered right; this do, and thou ſhalt live. But he, willing to juſtify himſelf, ſaid unto Jeſus, And who is my neighbour? And Jeſus anſwering ſaid, A certain man went down from Jeruſalem to Jericho, and fell among thieves, which ſtripped him of his raiment, and wounded him, and departed, leaving him half dead. And by chance there came down a certain Prieſt that way, and, when he ſaw him, he paſſed by on the other ſide. And likewiſe a Levite, when he was at the place, came and looked on him, and paſſed by on the other ſide. But a certain Samaritan, as he journeyed, came where he was; and, when he ſaw him, he had compaſſion on him, and went to him, and bound up his wounds, pouring in oil and wine, and ſet him on his own beaſt, and brought him to an inn, and took care of him. And on the morrow, when he departed, he took out two pence, and gave them to the hoſt, and ſaid unto him, Take care of him; and whatſoever thou ſpendeſt more, when I come again, I will repay thee. Which now of theſe three, thinkeſt thou, was neighbour unto him that fell among the thieves? And he ſaid, He that

ſhewed mercy on him. Then ſaid Jeſus unto him, Go, and do thou likewiſe.

The fourteenth Sunday after Trinity.

The Collect.

ALMIGHTY and everlaſting God, give unto us the increaſe of faith, hope, and charity; and, that we may obtain that which thou doſt promiſe, make us to love that which thou doſt command; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Gal. v. 16.

I Say then, Walk in the Spirit, and ye ſhall not fulfil the luſt of the fleſh. For the fleſh luſteth againſt the Spirit, and the Spirit againſt the fleſh; and theſe are contrary the one to the other; ſo that ye cannot do the things that ye would. But if ye be led by the Spirit, ye are not under the law. Now the works of the fleſh are manifeſt, which are theſe, adultery, fornication, uncleanneſs, laſciviouſneſs, idolatry, witchcraft, hatred, variance, emulations, wrath, ſtrife, ſeditions, hereſies, envyings, murders, drunkenneſs, revellings, and ſuch like: of the which I tell you before, as I have alſo told you in time paſt, That they who do ſuch things ſhall not inherit the kingdom of God. But the fruit of the Spirit is love, joy, peace, long-ſuffering, gentleneſs, goodneſs, faith, meekneſs, temperance: againſt

ſuch there is no law. And they that are Chriſt's have crucified the fleſh, with the affections and luſts.

The Goſpel. St. Luke xvii. 11.

AND it came to paſs, as Jeſus went to Jeruſalem, that he paſſed through the midſt of Samaria, and Galilee. And as he entered into a certain village, there met him ten men that were lepers, which ſtood afar off. And they lifted up their voices, and ſaid, Jeſus, Maſter, have mercy on us. And when he ſaw them, he ſaid unto them, Go, ſhew yourſelves unto the prieſts. And it came to paſs, that, as they went, they were cleanſed. And one of them, when he ſaw that he was healed, turned back, and with a loud voice glorified God, and fell down on his face at his feet, giving him thanks; and he was a Samaritan. And Jeſus anſwering ſaid, Were there not ten cleanſed? but where are the nine? There are not found that returned to give glory to God, ſave this ſtranger. And he ſaid unto him, Ariſe, go thy way, thy faith hath made thee whole.

The fifteenth Sunday after Trinity.

The Collect.

KEEP, we beſeech thee, O Lord, thy Church with thy perpetual mercy: and, becauſe the frailty of man without thee can-

not but fall, keep us ever by thy help from all things hurtful, and lead us to all things profitable to our salvation; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

The Epistle. Gal. vi. 11.

YE see how large a letter I have written unto you with mine own hand. As many as desire to make a fair shew in the flesh, they constrain you to be circumcised; only lest they should suffer persecution for the cross of Christ. For neither they themselves who are circumcised keep the law; but desire to have you circumcised, that they may glory in your flesh. But God forbid that I should glory, save in the cross of our Lord Jesus Christ, by whom the world is crucified unto me, and I unto the world. For in Christ Jesus neither circumcision availeth any thing, nor uncircumcision, but a new creature. And as many as walk according to this rule, peace be on them, and mercy, and upon the Israel of God. From henceforth let no man trouble me; for I bear in my body the marks of the Lord Jesus. Brethren, the grace of our Lord Jesus Christ be with your spirit. Amen.

The Gospel. St. Matth. vi. 24.

NO man can serve two masters: for either he will hate the one, and love the other; or else he will hold to the one, and despise the other. Ye cannot serve God and Mammon.

Therefore I ſay unto you, Take no thought for your life, what ye ſhall eat, or what ye ſhall drink; nor yet for your body, what ye ſhall put on: Is not the life more than meat, and the body than raiment? Behold the fowls of the air; for they ſow not, neither do they reap, nor gather into barns; yet your heavenly Father feedeth them. Are ye not much better than they? Which of you by taking thought can add one cubit unto his ſtature? And why take ye thought for raiment? Conſider the lilies of the field how they grow: they toil not, neither do they ſpin: and yet I ſay unto you, That even Solomon in all his glory was not arrayed like one of theſe. Wherefore, if God ſo clothe the graſs of the field, which to-day is, and to-morrow is caſt into the oven; ſhall he not much more clothe you, O ye of little faith? Therefore take no thought, ſaying, What ſhall we eat? or what ſhall we drink? or wherewithal ſhall we be clothed? (for after all theſe things do the Gentiles ſeek:) for your heavenly Father knoweth that ye have need of all theſe things. But ſeek ye firſt the kingdom of God, and his righteouſneſs, and all theſe things ſhall be added unto you. Take therefore no thought for the morrow; for the morrow ſhall take thought for the things of itſelf: ſufficient unto the day is the evil thereof.

The ſixteenth Sunday after Trinity.

The Collect.

O Lord, we beſeech thee, let thy continual pity cleanſe and defend thy Church; and, becauſe it cannot continue in ſafety without thy ſuccour, preſerve it evermore by thy help and goodneſs; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Epheſ. iii. 13.

I Deſire that ye faint not at my tribulations for you, which is your glory. For this cauſe I bow my knees unto the Father of our Lord Jeſus Chriſt, of whom the whole family in heaven and earth is named, that he would grant you, according to the riches of his glory, to be ſtrengthened with might by his Spirit in the inner man; that Chriſt may dwell in your hearts by faith; that ye, being rooted and grounded in love, may be able to comprehend with all ſaints, what is the breadth, and length, and depth, and height; and to know the love of Chriſt, which paſſeth knowledge, that ye might be filled with all the fulneſs of God. Now unto him that is able to do exceeding abundantly above all that we aſk or think, according to the power that worketh in us, unto him be glory in the Church by Chriſt Jeſus, throughout all ages, world without end. Amen.

The Goſpel. St. Luke vii. 11.

AND it came to paſs the day after, that Jeſus went into a city called Naim; and

many of his disciples went with him, and much people. Now when he came nigh to the gate of the city, behold, there was a dead man carried out, the only son of his mother, and she was a widow; and much people of the city was with her. And when the Lord saw her, he had compassion on her, and said unto her, Weep not. And he came and touched the bier, (and they that bare him stood still,) and he said, Young man, I say unto thee, Arise. And he that was dead sat up, and began to speak: and he delivered him to his mother. And there came a fear on all, and they glorified God, saying, That a great Prophet is risen up among us, and that God hath visited his people. And this rumour of him went forth throughout all Judæa, and throughout all the region round about.

The seventeenth Sunday after Trinity.

The Collect.

LORD, we pray thee that thy grace may always prevent and follow us, and make us continually to be given to all good works; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

The Epistle. Ephes. iv. 1.

I Therefore the prisoner of the Lord beseech you, that ye walk worthy of the vocation wherewith ye are called, with all lowliness and meekness, with long-suffering, for-

bearing one another in love; endeavouring to keep the unity of the ſpirit in the bond of peace. There is one body, and one Spirit, even as ye are called in one hope of your calling; one Lord, one faith, one baptiſm, one God and Father of all, who is above all, and through all, and in you all.

The Goſpel. St. Luke xiv. 1.

IT came to paſs, as Jeſus went into the houſe of one of the chief Phariſees to eat bread on the ſabbath-day, that they watched him. And behold, there was a certain man before him which had the dropſy. And Jeſus anſwering ſpake unto the Lawyers and Phariſees, ſaying, Is it lawful to heal on the ſabbath-day? And they held their peace. And he took him, and healed him, and let him go; and anſwered them, ſaying, Which of you ſhall have an ass, or an ox, fallen into a pit, and will not ſtraightway pull him out on the ſabbath-day? And they could not anſwer him again to theſe things. And he put forth a parable to thoſe which were bidden, when he marked how they choſe out the chief rooms, ſaying unto them, When thou art bidden of any man to a wedding, ſit not down in the higheſt room; leſt a more honourable man than thou be bidden of him; and he that bade thee and him come and ſay to thee, Give this man place; and thou begin with ſhame to

take the loweſt room. But when thou art bidden, go and ſit down in the loweſt room; that, when he that bade thee cometh, he may ſay unto thee, Friend, go up higher: then ſhalt thou have worſhip in the preſence of them that ſit at meat with thee. For whoſoever exalteth himſelf ſhall be abaſed; and he that humbleth himſelf ſhall be exalted.

The eighteenth Sunday after Trinity.

The Collect.

LORD, we beſeech thee, grant thy people grace to withſtand the temptations of the world, the fleſh, and the devil, and with pure hearts and minds to follow thee the only God; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. 1 Cor. i. 4.

I Thank my God always on your behalf, for the grace of God which is given you by Jeſus Chriſt; that in every thing ye are enriched by him, in all utterance, and in all knowledge; even as the teſtimony of Chriſt was confirmed in you; ſo that ye come behind in no gift; waiting for the coming of our Lord Jeſus Chriſt, who ſhall alſo confirm you unto the end, that ye may be blameleſs in the day of our Lord Jeſus Chriſt.

The Goſpel. St. Matth. xxii. 34.

WHEN the Phariſees had heard that Jeſus had put the Sadducees to ſilence,

they were gathered together. Then one of them, who was a Lawyer, aſked him a queſtion, tempting him, and ſaying, Maſter, which is the great commandment in the Law? Jeſus ſaid unto him, Thou ſhalt love the Lord thy God with all thy heart, and with all thy ſoul, and with all thy mind. This is the firſt and great commandment. And the ſecond is like unto it, Thou ſhalt love thy neighbour as thyſelf. On theſe two commandments hang all the Law and the Prophets. While the Phariſees were gathered together, Jeſus aſked them, ſaying, What think ye of Chriſt? whoſe ſon is he? They ſay unto him, The ſon of David. He ſaith unto them, How then doth David in ſpirit call him Lord, ſaying, The Lord ſaid unto my Lord, Sit thou on my right hand, till I make thine enemies thy foot-ſtool? If David then call him Lord, how is he his Son? And no man was able to anſwer him a word; neither durſt any man from that day forth aſk him any more queſtions.

The nineteenth Sunday after Trinity.

The Collect.

O God, foraſmuch as without thee we are not able to pleaſe thee; Mercifully grant, that thy Holy Spirit may in all things direct and rule our hearts; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The nineteenth Sunday after Trinity.

The Epiſtle. Epheſ. iv. 17.

THIS I ſay therefore, and teſtify in the Lord, that ye henceforth walk not as other Gentiles walk, in the vanity of their mind; having the underſtanding darkened, being alienated from the life of God through the ignorance that is in them, becauſe of the blindneſs of their heart: who, being paſt feeling, have given themſelves over unto laſciviouſneſs, to work all uncleanneſs with greedineſs. But ye have not ſo learned Chriſt; if ſo be that ye have heard him, and have been taught by him, as the truth is in Jeſus: that ye put off, concerning the former converſation, the old man, which is corrupt according to the deceitful luſts; and be renewed in the ſpirit of your mind; and that ye put on the new man, which after God is created in righteouſneſs and true holineſs. Wherefore, putting away lying, ſpeak every man truth with his neighbour: for we are members one of another. Be ye angry and ſin not: let not the ſun go down upon your wrath: neither give place to the devil. Let him that ſtole ſteal no more; but rather let him labour, working with his hands the thing which is good, that he may have to give to him that needeth. Let no corrupt communication proceed out of your mouth, but that which is good to the uſe of edifying, that it may mi-

niſter grace unto the hearers. And grieve not the Holy Spirit of God, whereby ye are ſealed unto the day of redemption. Let all bitterneſs, and wrath, and anger, and clamour, and evil-ſpeaking, be put away from you, with all malice. And be ye kind one to another, tender-hearted, forgiving one another, even as God for Chriſt's ſake hath forgiven you.

The Goſpel. St. Matth. ix. 1.

JESUS entered into a ſhip, and paſſed over, and came into his own city. And behold, they brought to him a man ſick of the palſy, lying on a bed. And Jeſus, ſeeing their faith, ſaid unto the ſick of the palſy, Son, be of good cheer, thy ſins be forgiven thee. And behold, certain of the Scribes ſaid within themſelves, This man blaſphemeth. And Jeſus, knowing their thoughts, ſaid, Wherefore think ye evil in your hearts? For whether is eaſier to ſay, Thy ſins be forgiven thee? or to ſay, Ariſe, and walk? But that ye may know that the Son of man hath power on earth to forgive ſins, (then ſaith he to the ſick of the palſy,) Ariſe, take up thy bed, and go unto thine houſe. And he aroſe, and departed to his houſe. But when the multitude ſaw it, they marvelled, and glorified God, who had given ſuch power unto men.

The Collect.

O Almighty and moſt merciful God, of thy bountiful goodneſs keep us, we beſeech thee, from all things that may hurt us; that we, being ready both in body and ſoul, may cheerfully accompliſh thoſe things that thou wouldeſt have done; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Epheſ. v. 15.

SEE then that ye walk circumſpectly, not as fools, but as wiſe, redeeming the time, becauſe the days are evil. Wherefore be ye not unwiſe, but underſtanding what the will of the Lord is. And be not drunk with wine, wherein is exceſs; but be filled with the Spirit; ſpeaking to yourſelves in pſalms, and hymns, and ſpiritual ſongs; ſinging and making melody in your heart to the Lord; giving thanks always for all things unto God and the Father, in the Name of our Lord Jeſus Chriſt; ſubmitting yourſelves one to another in the fear of God.

The Goſpel. St. Matth. xxii. 1.

JESUS ſaid, The Kingdom of heaven is like unto a certain king, who made a marriage for his ſon; and ſent forth his ſervants to call them that were bidden to the wedding;

and they would not come. Again, he ſent forth other ſervants, ſaying, Tell them which are bidden, Behold, I have prepared my dinner; my oxen and my fatlings are killed, and all things are ready; come unto the marriage. But they made light of it, and went their ways, one to his farm, another to his merchandiſe: and the remnant took his ſervants, and entreated them ſpitefully, and ſlew them. But when the king heard thereof, he was wroth; and he ſent forth his armies, and deſtroyed thoſe murderers, and burnt up their city. Then ſaith he to his ſervants, The wedding is ready, but they who were bidden were not worthy. Go ye therefore into the high-ways, and as many as ye ſhall find bid to the marriage. So thoſe ſervants went out into the high-ways, and gathered together all, as many as they found, both bad and good; and the wedding was furniſhed with gueſts. And when the king came in to ſee the gueſts, he ſaw there a man which had not on a wedding-garment. And he ſaith unto him, Friend, how cameſt thou in hither, not having a wedding-garment? And he was ſpeechleſs. Then ſaid the king to the ſervants, Bind him hand and foot, and take him away, and caſt him into outer darkneſs: there ſhall be weeping and gnaſhing of teeth. For many are called, but few are choſen.

The one and twentieth Sunday after Trinity.

The Collect.

GRANT, we beſeech thee, merciful Lord, to thy faithful people pardon and peace, that they may be cleanſed from all their ſins, and ſerve thee with a quiet mind; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Epheſ. vi. 10.

MY brethren, be ſtrong in the Lord, and in the power of his might. Put on the whole armour of God, that ye may be able to ſtand againſt the wiles of the devil. For we wreſtle not againſt fleſh and blood, but againſt principalities, againſt powers, againſt the rulers of the darkneſs of this world, againſt ſpiritual wickedneſs in high places. Wherefore take unto you the whole armour of God, that ye may be able to withſtand in the evil day, and, having done all, to ſtand. Stand therefore, having your loins girt about with truth; and having on the breaſt-plate of righteouſneſs; and your feet ſhod with the preparation of the Goſpel of peace; above all, taking the ſhield of faith, wherewith ye ſhall be able to quench all the fiery darts of the wicked; and take the helmet of ſalvation, and the ſword of the Spirit, which is the Word of God: praying always with all prayer and ſupplication in the Spirit, and watching thereunto with all perſeverance, and ſupplication

for all ſaints; and for me, that utterance may be given unto me, that I may open my mouth boldly, to make known the myſtery of the Goſpel, for which I am an ambaſſador in bonds; that therein I may ſpeak boldly, as I ought to ſpeak.

The Goſpel. St. John iv. 46.

THERE was a certain nobleman, whoſe ſon was ſick at Capernaum. When he heard that Jeſus was come out of Judæa into Galilee, he went unto him, and beſought him that he would come down and heal his ſon; for he was at the point of death. Then ſaid Jeſus unto him, Except ye ſee ſigns and wonders, ye will not believe. The nobleman ſaith unto him, Sir, come down ere my child die. Jeſus ſaith unto him, Go thy way, thy ſon liveth. And the man believed the word that Jeſus had ſpoken unto him, and he went his way. And, as he was now going down, his ſervants met him, and told him, ſaying, Thy ſon liveth. Then enquired he of them the hour when he began to amend: and they ſaid unto him, Yeſterday at the ſeventh hour the fever left him. So the father knew that it was at the ſame hour, in the which Jeſus ſaid unto him, Thy ſon liveth; and himſelf believed, and his whole houſe. This is again the ſecond miracle that Jeſus did, when he was come out of Judæa into Galilee.

The two and twentieth Sunday after Trinity.

The Collect.

LORD, we beſeech thee to keep thy houſhold the Church in continual godlineſs; that through thy protection it may be free from all adverſities, and devoutly given to ſerve thee in good works, to the glory of thy Name; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Phil. i. 3.

I Thank my God upon every remembrance of you, (always in every prayer of mine for you all making requeſt with joy,) for your fellowſhip in the Goſpel from the firſt day until now; being confident of this very thing, that he who hath begun a good work in you will perform it until the day of Jeſus Chriſt; even as it is meet for me to think this of you all, becauſe I have you in my heart, inaſmuch as both in my bonds, and in the defence and confirmation of the Goſpel, ye all are partakers of my grace. For God is my record, how greatly I long after you all in the bowels of Jeſus Chriſt. And this I pray, that your love may abound yet more and more in knowledge, and in all judgement: that ye may approve things that are excellent, that ye may be ſincere, and without offence, till the day of Chriſt: being filled with the fruits of righteouſneſs, which are by Jeſus Chriſt, unto the glory and praiſe of God.

The two and twentieth Sunday after Trinity.

The Goſpel. St. Matth. xviii. 21.

PETER ſaid unto Jeſus, Lord, how oft ſhall my brother ſin againſt me, and I forgive him? till ſeven times? Jeſus ſaith unto him, I ſay not unto thee, until ſeven times; but until ſeventy times ſeven. Therefore is the Kingdom of heaven likened unto a certain king, which would take account of his ſervants. And when he had begun to reckon, one was brought unto him, which owed him ten thouſand talents. But foraſmuch as he had not to pay, his lord commanded him to be ſold, and his wife and children, and all that he had, and payment to be made. The ſervant therefore fell down and worſhipped him, ſaying, Lord, have patience with me, and I will pay thee all. Then the lord of that ſervant was moved with compaſſion, and looſed him, and forgave him the debt. But the ſame ſervant went out, and found one of his fellow-ſervants, which owed him an hundred pence; and he laid hands on him, and took him by the throat, ſaying, Pay me that thou oweſt. And his fellow-ſervant fell down at his feet, and beſought him, ſaying, Have patience with me, and I will pay thee all. And he would not; but went and caſt him into priſon, till he ſhould pay the debt. So when his fellow-ſervants ſaw what was done, they were very ſorry, and came and told unto their

lord all that was done. Then his lord, after that he had called him, ſaid unto him, O thou wicked ſervant, I forgave thee all that debt, becauſe thou deſiredſt me: ſhouldeſt not thou alſo have had compaſſion on thy fellow-ſervant, even as I had pity on thee? And his lord was wroth, and delivered him to the tormentors, till he ſhould pay all that was due unto him. So likewiſe ſhall my heavenly Father do alſo unto you, if ye from your hearts forgive not every one his brother their treſpaſſes.

The three and twentieth Sunday after Trinity.

The Collect.

O God, our refuge and ſtrength, who art the author of all godlineſs; Be ready, we beſeech thee, to hear the devout prayers of thy Church; and grant that thoſe things which we aſk faithfully we may obtain effectually; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Phil. iii. 17.

BRETHREN, be followers together of me, and mark them which walk ſo as ye have us for an enſample. (For many walk, of whom I have told you often, and now tell you even weeping, that they are the enemies of the croſs of Chriſt; whoſe end is deſtruction,

whoſe god is their belly, and whoſe glory is in their ſhame, who mind earthly things.) For our converſation is in heaven; from whence alſo we look for the Saviour, the Lord Jeſus Chriſt; who ſhall change our vile body, that it may be faſhioned like unto his glorious body, according to the working whereby he is able even to ſubdue all things unto himſelf.

The Goſpel. St. Matth. xxii. 15.

THEN went the Phariſees and took counſel how they might entangle him in his talk. And they ſent out unto him their diſciples, with the Herodians, ſaying, Maſter, we know that thou art true, and teacheſt the way of God in truth, neither careſt thou for any man: for thou regardeſt not the perſon of men. Tell us therefore, What thinkeſt thou? Is it lawful to give tribute unto Cæſar, or not? But Jeſus perceived their wickedneſs, and ſaid, Why tempt ye me, ye hypocrites? ſhew me the tribute-money. And they brought unto him a peny. And he ſaith unto them, Whoſe is this image and ſuperſcription? They ſay unto him, Cæſar's. Then ſaith he unto them, Render therefore unto Cæſar the things which are Cæſar's; and unto God the things that are God's. When they had heard theſe words, they marvelled, and left him, and went their way.

The four and twentieth Sunday after Trinity.

The Collect.

O Lord, we beſeech thee, abſolve thy people from their offences; that through thy bountiful goodneſs we may all be delivered from the bands of thoſe ſins, which by our frailty we have committed: Grant this, O heavenly Father, for Jeſus Chriſt's ſake, our bleſſed Lord and Saviour. *Amen.*

The Epiſtle. Col. i. 3.

WE give thanks to God and the Father of our Lord Jeſus Chriſt, praying always for you, ſince we heard of your faith in Chriſt Jeſus, and of the love which ye have to all the ſaints; for the hope which is laid up for you in heaven, whereof ye heard before in the word of the truth of the Goſpel; which is come unto you, as it is in all the world, and bringeth forth fruit, as it doth alſo in you, ſince the day ye heard of it, and knew the grace of God in truth. As ye alſo learned of Epaphras, our dear fellow-ſervant, who is for you a faithful miniſter of Chriſt; who alſo declared unto us your love in the Spirit. For this cauſe we alſo, ſince the day we heard it, do not ceaſe to pray for you, and to deſire that ye might be filled with the knowledge of his will in all wiſdom and ſpiritual underſtanding: that ye might walk worthy of the Lord unto all pleaſing, being fruitful in every good work, and increaſing in the knowledge of God;

ſtrengthened with all might, according to his glorious power, unto all patience and long-ſuffering with joyfulneſs; giving thanks unto the Father, which hath made us meet to be partakers of the inheritance of the ſaints in light.

The Goſpel. St. Matth. ix. 18.

WHILE Jeſus ſpake theſe things unto John's diſciples, behold, there came a certain ruler, and worſhipped him, ſaying, My daughter is even now dead; but come and lay thy hand upon her, and ſhe ſhall live. And Jeſus aroſe, and followed him, and ſo did his diſciples. (And behold, a woman, which was diſeaſed with an iſſue of blood twelve years, came behind him, and touched the hem of his garment; for ſhe ſaid within herſelf, If I may but touch his garment, I ſhall be whole. But Jeſus turned him about, and, when he ſaw her, he ſaid, Daughter, be of good comfort, thy faith hath made thee whole. And the woman was made whole from that hour.) And when Jeſus came into the ruler's houſe, and ſaw the minſtrels and the people making a noiſe, he ſaid unto them, Give place; for the maid is not dead, but ſleepeth. And they laughed him to ſcorn. But when the people were put forth, he went in, and took her by the hand, and the maid aroſe. And the fame hereof went abroad into all that land.

The five and twentieth Sunday after Trinity.

The Collect.

STIR up, we beſeech thee, O Lord, the wills of thy faithful people; that they, plenteouſly bringing forth the fruit of good works, may of thee be plenteouſly rewarded; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For the Epiſtle. Jer. xxiii. 5.

BEHOLD, the days come, ſaith the Lord, that I will raiſe unto David a righteous Branch, and a King ſhall reign, and proſper, and ſhall execute judgement and juſtice in the earth. In his days Judah ſhall be ſaved, and Iſrael ſhall dwell ſafely: and this is his Name whereby he ſhall be called, THE LORD OUR RIGHTEOUSNESS. Therefore behold, the days come, ſaith the Lord, that they ſhall no more ſay, The Lord liveth, which brought up the children of Iſrael out of the land of Egypt; but, The Lord liveth, which brought up, and which led the ſeed of the houſe of Iſrael out of the north-country, and from all countries whither I had driven them; and they ſhall dwell in their own land.

The Goſpel. St. John vi. 5.

WHEN Jeſus then lift up his eyes, and ſaw a great company come unto him, he ſaith unto Philip, Whence ſhall we buy bread that theſe may eat? (And this he ſaid

to prove him; for he himſelf knew what he would do.) Philip anſwered him, Two hundred peny-worth of bread is not ſufficient for them, that every one of them may take a little. One of his diſciples, Andrew, Simon Peter's brother, ſaith unto him, There is a lad here, which hath five barley-loaves, and two ſmall fiſhes; but what are they among ſo many? And Jeſus ſaid, Make the men ſit down. Now there was much graſs in the place. So the men ſat down, in number about five thouſand. And Jeſus took the loaves, and, when he had given thanks, he diſtributed to the diſciples, and the diſciples to them that were ſet down, and likewiſe of the fiſhes, as much as they would. When they were filled, he ſaid unto his diſciples, Gather up the fragments that remain, that nothing be loſt. Therefore they gathered them together, and filled twelve baſkets with the fragments of the five barley-loaves, which remained over and above unto them that had eaten. Then thoſe men, when they had ſeen the miracle that Jeſus did, ſaid, This is of a truth that Prophet that ſhould come into the world.

¶ *If there be any more Sundays before Advent-Sunday, the Service of some of those Sundays that were omitted after the Epiphany shall be taken in to supply so many as are here wanting. And if there be fewer, the overplus may be omitted: Provided that this last Collect, Epistle, and Gospel shall always be used upon the Sunday next before Advent.*

Saint Andrew's Day.

The Collect.

ALMIGHTY God, who didſt give ſuch grace unto thy holy Apoſtle Saint Andrew, that he readily obeyed the calling of thy Son Jeſus Chriſt, and followed him without delay; Grant unto us all, that we, being called by thy holy Word, may forthwith give up ourſelves obediently to fulfil thy holy commandments; through the ſame Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Rom. x. 9.

IF thou ſhalt confeſs with thy mouth the Lord Jeſus, and ſhalt believe in thine heart that God hath raiſed him from the dead, thou ſhalt be ſaved. For with the heart man believeth unto righteouſneſs, and with the mouth confeſſion is made unto ſalvation. For the Scripture ſaith, Whoſoever believeth on him ſhall not be aſhamed. For there is no difference between the Jew and the Greek: for the ſame Lord over all is rich unto all that call upon him. For whoſoever ſhall call upon the Name of the Lord ſhall be ſaved. How then ſhall they call on him, in whom they have not believed? And how ſhall they believe in him, of whom they have not heard? And how ſhall they hear without a preacher? And how ſhall they preach, except they be ſent? As it is written, How beautiful are the feet of them that preach the Goſpel of peace, and

bring glad tidings of good things! But they have not all obeyed the Goſpel. For Eſaias ſaith, Lord, who hath believed our report? So then faith cometh by hearing, and hearing by the Word of God. But I ſay, Have they not heard? Yes verily, their ſound went into all the earth, and their words unto the ends of the world. But I ſay, Did not Iſrael know? Firſt Moſes ſaith, I will provoke you to jealouſy by them that are no people, and by a fooliſh nation I will anger you. But Eſaias is very bold, and ſaith, I was found of them that ſought me not; I was made manifeſt unto them that aſked not after me. But to Iſrael he ſaith, All day long I have ſtretched forth my hands unto a diſobedient and gainſaying people.

The Goſpel. St. Matth. iv. 18.

JESUS, walking by the ſea of Galilee, ſaw two brethren, Simon called Peter, and Andrew his brother, caſting a net into the ſea, (for they were fiſhers;) and he ſaith unto them, Follow me; and I will make you fiſhers of men. And they ſtraightway left their nets, and followed him. And going on from thence he ſaw other two brethren, James the ſon of Zebedee, and John his brother, in a ſhip with Zebedee their father, mending their nets; and he called them. And they immediately left the ſhip and their father, and followed him.

Saint Thomas the Apoſtle.

The Collect.

ALMIGHTY and everliving God, who for the more confirmation of the faith didſt ſuffer thy holy Apoſtle Thomas to be doubtful in thy Son's reſurrection; Grant us ſo perfectly, and without all doubt, to believe in thy Son Jeſus Chriſt, that our faith in thy ſight may never be reproved. Hear us, O Lord, through the ſame Jeſus Chriſt, to whom, with thee and the Holy Ghoſt, be all honour and glory, now and for evermore. *Amen.*

The Epiſtle. Epheſ. ii. 19.

NOW therefore ye are no more ſtrangers and foreigners, but fellow-citizens with the ſaints, and of the houſhold of God; and are built upon the foundation of the Apoſtles and Prophets, Jeſus Chriſt himſelf being the chief corner-ſtone; in whom all the building, fitly framed together, groweth unto an holy temple in the Lord; in whom ye alſo are builded together for an habitation of God, through the Spirit.

The Goſpel. St. John xx. 24.

THOMAS, one of the twelve, called Didymus, was not with them when Jeſus came. The other diſciples therefore ſaid unto him, We have ſeen the Lord. But he ſaid unto them, Except I ſhall ſee in his hands the print of the nails, and put my finger into

the print of the nails, and thruſt my hand into his ſide, I will not believe. And after eight days again his diſciples were within, and Thomas with them: then came Jeſus, the doors being ſhut, and ſtood in the midſt, and ſaid, Peace be unto you. Then ſaith he to Thomas, Reach hither thy finger, and behold my hands; and reach hither thy hand, and thruſt it into my ſide; and be not faithleſs, but believing. And Thomas anſwered and ſaid unto him, My Lord, and my God. Jeſus ſaith unto him, Thomas, becauſe thou haſt ſeen me, thou haſt believed; bleſſed are they that have not ſeen, and yet have believed. And many other ſigns truly did Jeſus in the preſence of his diſciples, which are not written in this book. But theſe are written, that ye might believe that Jeſus is the Chriſt, the Son of God; and that believing ye might have life through his Name.

The Converſion of Saint Paul.

The Collect.

O God, who, through the preaching of the bleſſed Apoſtle Saint Paul, haſt cauſed the light of the Goſpel to ſhine throughout the world; Grant, we beſeech thee, that we, having his wonderful converſion in remembrance, may ſhew forth our thankfulneſs unto

thee for the ſame, by following the holy doctrine which he taught; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For the Epiſtle. Acts ix. 1.

AND Saul, yet breathing out threatenings and ſlaughter againſt the diſciples of the Lord, went unto the high prieſt, and deſired of him letters to Damaſcus to the ſynagogues, that, if he found any of this way, whether they were men or women, he might bring them bound unto Jeruſalem. And, as he journeyed, he came near Damaſcus, and ſuddenly there ſhined round about him a light from heaven. And he fell to the earth, and heard a voice ſaying unto him, Saul, Saul, why perſecuteſt thou me? And he ſaid, Who art thou, Lord? And the Lord ſaid, I am Jeſus whom thou perſecuteſt: it is hard for thee to kick againſt the pricks. And he, trembling and aſtoniſhed, ſaid, Lord, what wilt thou have me to do? And the Lord ſaid unto him, Ariſe, and go into the city, and it ſhall be told thee what thou muſt do. And the men which journeyed with him ſtood ſpeechleſs, hearing a voice, but ſeeing no man. And Saul aroſe from the earth, and when his eyes were opened he ſaw no man; but they led him by the hand, and brought him into Damaſcus. And he was three days without ſight

and neither did eat nor drink. And there was a certain diſciple at Damaſcus, named Ananias, and to him ſaid the Lord in a viſion, Ananias. And he ſaid, Behold, I am here, Lord. And the Lord ſaid unto him, Ariſe, and go into the ſtreet which is called Straight, and enquire in the houſe of Judas for one called Saul, of Tarſus: for behold, he prayeth, and hath ſeen in a viſion a man named Ananias, coming in, and putting his hand on him, that he might receive his ſight. Then Ananias anſwered, Lord, I have heard by many of this man, how much evil he hath done to thy ſaints at Jeruſalem; and here he hath authority from the chief prieſts to bind all that call on thy Name. But the Lord ſaid unto him, Go thy way; for he is a choſen veſſel unto me, to bear my Name before the Gentiles, and kings, and the children of Iſrael: for I will ſhew him how great things he muſt ſuffer for my Name's ſake. And Ananias went his way, and entered into the houſe; and, putting his hands on him, ſaid, Brother Saul, the Lord, (even Jeſus that appeared unto thee in the way as thou cameſt,) hath ſent me, that thou mighteſt receive thy ſight, and be filled with the holy Ghoſt. And immediately there fell from his eyes as it had been ſcales; and he received ſight forthwith, and aroſe, and was baptized. And when he had

received meat, he was ſtrengthened. Then was Saul certain days with the diſciples which were at Damaſcus. And ſtraightway he preached Chriſt in the ſynagogues, that he is the Son of God. But all that heard him were amazed, and ſaid, Is not this he that deſtroyed them which called on this Name in Jeruſalem, and came hither for that intent, that he might bring them bound unto the chief prieſts? But Saul increaſed the more in ſtrength, and confounded the Jews which dwelt at Damaſcus, proving that this is very Chriſt.

The Goſpel. St. Matth xix. 27.

PETER anſwered and ſaid unto Jeſus, Behold, we have forſaken all, and followed thee; what ſhall we have therefore? And Jeſus ſaid unto them, Verily I ſay unto you, That ye which have followed me, in the regeneration when the Son of man ſhall ſit in the throne of his glory, ye alſo ſhall ſit upon twelve thrones, judging the twelve tribes of Iſrael. And every one that hath forſaken houſes, or brethren, or ſiſters, or father, or mother, or wife, or children, or lands, for my Name's ſake, ſhall receive an hundred-fold, and ſhall inherit everlaſting life. But many that are firſt ſhall be laſt, and the laſt ſhall be firſt.

The Purification of Saint Mary.

The Preſentation of Chriſt in the Temple, commonly called, The Purification of Saint Mary the Virgin.

The Collect.

ALMIGHTY and everliving God, we humbly beſeech thy Majeſty, that, as thy only-begotten Son was this day preſented in the temple in ſubſtance of our fleſh, ſo we may be preſented unto thee with pure and clean hearts, by the ſame thy Son Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For the Epiſtle. Mal. iii. 1.

BEHOLD, I will ſend my meſſenger, and he ſhall prepare the way before me: and the Lord, whom ye ſeek, ſhall ſuddenly come to his temple; even the meſſenger of the covenant, whom ye delight in; behold, he ſhall come, ſaith the Lord of hoſts. But who may abide the day of his coming? and who ſhall ſtand when he appeareth? for he is like a refiner's fire, and like fullers' ſoap. And he ſhall ſit as a refiner and purifier of ſilver; and he ſhall purify the ſons of Levi, and purge them as gold and ſilver, that they may offer unto the Lord an offering in righteouſneſs. Then ſhall the offerings of Judah and Jeruſalem be pleaſant unto the Lord, as in the days of old, and as in former years. And I will come near to you to judgement, and I will be a ſwift witneſs againſt the ſorcerers, and

againſt the adulterers, and againſt falſe ſwearers, and againſt thoſe that oppreſs the hireling in his wages, the widow, and the fatherleſs, and that turn aſide the ſtranger from his right, and fear not me, ſaith the Lord of hoſts.

The Goſpel. St. Luke ii. 22.

AND when the days of her purification, according to the Law of Moſes, were accompliſhed, they brought him to Jeruſalem, to preſent him to the Lord; (as it is written in the Law of the Lord, Every male that openeth the womb ſhall be called holy to the Lord;) and to offer a ſacrifice, according to that which is ſaid in the Law of the Lord, A pair of turtle-doves, or two young pigeons. And behold, there was a man in Jeruſalem, whoſe name was Symeon; and the ſame man was juſt and devout, waiting for the conſolation of Iſrael: and the Holy Ghoſt was upon him. And it was revealed unto him by the Holy Ghoſt, that he ſhould not ſee death, before he had ſeen the Lord's Chriſt. And he came by the Spirit into the temple; and when the parents brought in the child Jeſus, to do for him after the cuſtom of the Law, then took he him up in his arms, and bleſſed God, and ſaid, Lord, now letteſt thou thy ſervant depart in peace, according to thy word: for mine eyes have ſeen thy ſalvation, which thou haſt prepared before the face of all peo-

ple; a light to lighten the Gentiles, and the glory of thy people Iſrael. And Joſeph and his mother marvelled at thoſe things which were ſpoken of him. And Symeon bleſſed them, and ſaid unto Mary his mother, Behold, this child is ſet for the fall and riſing again of many in Iſrael; and for a ſign which ſhall be ſpoken againſt; (yea, a ſword ſhall pierce through thy own ſoul alſo;) that the thoughts of many hearts may be revealed. And there was one Anna a propheteſs, the daughter of Phanuel, of the tribe of Aſer; ſhe was of a great age, and had lived with an huſband ſeven years from her virginity: and ſhe was a widow of about fourſcore and four years; which departed not from the temple, but ſerved God with faſtings and prayers night and day. And ſhe coming in that inſtant gave thanks likewiſe unto the Lord, and ſpake of him to all them that looked for redemption in Jeruſalem. And when they had performed all things according to the law of the Lord, they returned into Galilee to their own city Nazareth. And the child grew, and waxed ſtrong in ſpirit, filled with wiſdom; and the grace of God was upon him.

Saint Matthias's Day.
The Collect.

O Almighty God, who into the place of the traitor Judas didſt chooſe thy faithful

ſervant Matthias to be of the number of the twelve Apoſtles; Grant that thy Church, being alway preſerved from falſe Apoſtles, may be ordered and guided by faithful and true paſtors; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For the Epiſtle. Acts i. 15.

IN thoſe days Peter ſtood up in the midſt of the diſciples, and ſaid, (the number of the names together were about an hundred and twenty,) Men and brethren, this Scripture muſt needs have been fulfilled, which the Holy Ghoſt by the mouth of David ſpake before concerning Judas, which was guide to them that took Jeſus: for he was numbered with us, and had obtained part of this miniſtry. Now this man purchaſed a field with the reward of iniquity; and falling headlong he burſt aſunder in the midſt, and all his bowels guſhed out. And it was known unto all the dwellers at Jeruſalem, inſomuch as that field is called in their proper tongue, Aceldama, that is to ſay, The field of blood. For it is written in the book of Pſalms, Let his habitation be deſolate, and let no man dwell therein; and, His biſhoprick let another take. Wherefore, of theſe men which have companied with us all the time that the Lord Jeſus went in and out among us, beginning from the baptiſm of John, unto that ſame day

that he was taken up from us, muſt one be ordained to be a witneſs with us of his reſurrection. And they appointed two, Joſeph called Barſabas, who was ſurnamed Juſtus, and Matthias. And they prayed, and ſaid, Thou, Lord, which knoweſt the hearts of all men, ſhew whether of theſe two thou haſt choſen; that he may take part of this miniſtry and apoſtleſhip, from which Judas by tranſgreſſion fell, that he might go to his own place. And they gave forth their lots; and the lot fell upon Matthias, and he was numbered with the eleven Apoſtles.

The Goſpel. St. Matth. xi. 25.

AT that time Jeſus anſwered and ſaid, I thank thee, O Father, Lord of heaven and earth, becauſe thou haſt hid theſe things from the wiſe and prudent, and haſt revealed them unto babes. Even ſo, Father, for ſo it ſeemed good in thy ſight. All things are delivered unto me of my Father: and no man knoweth the Son, but the Father; neither knoweth any man the Father, ſave the Son, and he to whomſoever the Son will reveal him. Come unto me, all ye that labour and are heavy laden, and I will give you reſt. Take my yoke upon you, and learn of me; for I am meek and lowly in heart: and ye ſhall find reſt unto your ſouls. For my yoke is eaſy, and my burden is light.

The Annunciation of the bleſſed Virgin Mary.

The Collect.

WE beſeech thee, O Lord, pour thy grace into our hearts; that, as we have known the incarnation of thy Son Jeſus Chriſt by the meſſage of an angel, ſo by his croſs and paſſion we may be brought unto the glory of his reſurrection; through the ſame Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For the Epiſtle. Iſaiah vii. 10.

MOREOVER, the Lord ſpake again unto Ahaz, ſaying, Aſk thee a ſign of the Lord thy God; aſk it either in the depth, or in the height above. But Ahaz ſaid, I will not aſk, neither will I tempt the Lord. And he ſaid, Hear ye now, O houſe of David; Is it a ſmall thing for you to weary men, but will ye weary my God alſo? Therefore the Lord himſelf ſhall give you a ſign; Behold, a Virgin ſhall conceive, and bear a ſon, and ſhall call his name Immanuel. Butter and honey ſhall he eat, that he may know to refuſe the evil, and chooſe the good.

The Goſpel. St. Luke i. 26.

AND in the ſixth month the angel Gabriel was ſent from God unto a city of Galilee named Nazareth, to a Virgin eſpouſed to a man whoſe name was Joſeph, of the houſe of David; and the Virgin's name was Mary.

And the angel came in unto her, and ſaid, Hail, thou that art highly favoured, the Lord is with thee; bleſſed art thou among women. And when ſhe ſaw him ſhe was troubled at his ſaying, and caſt in her mind what manner of ſalutation this ſhould be. And the angel ſaid unto her, Fear not, Mary; for thou haſt found favour with God. And behold, thou ſhalt conceive in thy womb, and bring forth a Son, and ſhalt call his name JESUS. He ſhall be great, and ſhall be called the Son of the Higheſt; and the Lord God ſhall give unto him the throne of his father David. And he ſhall reign over the houſe of Jacob for ever; and of his kingdom there ſhall be no end. Then ſaid Mary unto the angel, How ſhall this be, ſeeing I know not a man? And the angel anſwered and ſaid unto her, The Holy Ghoſt ſhall come upon thee, and the power of the Higheſt ſhall overſhadow thee: therefore alſo that holy thing which ſhall be born of thee ſhall be called the Son of God. And behold, thy couſin Elizabeth, ſhe hath alſo conceived a ſon in her old age; and this is the ſixth month with her who was called barren: for with God nothing ſhall be impoſſible. And Mary ſaid, Behold the handmaid of the Lord; be it unto me according to thy word. And the angel departed from her.

Saint Mark's Day.

The Collect.

O Almighty God, who haſt inſtructed thy holy Church with the heavenly doctrine of thy Evangeliſt Saint Mark; Give us grace, that, being not like children carried away with every blaſt of vain doctrine, we may be eſtabliſhed in the truth of thy holy Goſpel; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. Epheſ. iv. 7.

UNTO every one of us is given grace, according to the meaſure of the gift of Chriſt. Wherefore he ſaith, When he aſcended up on high, he led captivity captive, and gave gifts unto men. (Now that he aſcended, what is it but that he alſo deſcended firſt into the lower parts of the earth? He that deſcended is the ſame alſo that aſcended up far above all heavens, that he might fill all things.) And he gave ſome Apoſtles, and ſome Prophets, and ſome Evangeliſts, and ſome Paſtors and Teachers; for the perfecting of the ſaints, for the work of the miniſtry, for the edifying of the body of Chriſt; till we all come in the unity of the faith, and of the knowledge of the Son of God, unto a perfect man, unto the meaſure of the ſtature of the fulneſs of Chriſt; that we henceforth be no more children, toſſed to and fro, and carried about with every wind of doctrine, by the ſleight of men, and cunning craftineſs, whereby they lie in wait

to deceive; but ſpeaking the truth in love, may grow up into him in all things, which is the head, even Chriſt: from whom the whole body fitly joined together, and compacted by that which every joint ſupplieth, according to the effectual working in the meaſure of every part, maketh increaſe of the body, unto the edifying of itſelf in love.

The Goſpel. St. John xv. 1.

I Am the true vine, and my Father is the huſbandman. Every branch in me that beareth not fruit he taketh away; and every branch that beareth fruit, he purgeth it, that it may bring forth more fruit. Now ye are clean through the word which I have ſpoken unto you. Abide in me, and I in you. As the branch cannot bear fruit of itſelf, except it abide in the vine; no more can ye, except ye abide in me. I am the vine, ye are the branches. He that abideth in me, and I in him, the ſame bringeth forth much fruit; for without me ye can do nothing. If a man abide not in me, he is caſt forth as a branch, and is withered; and men gather them, and caſt them into the fire, and they are burned. If ye abide in me, and my words abide in you, ye ſhall aſk what ye will, and it ſhall be done unto you. Herein is my Father glorified, that ye bear much fruit; ſo ſhall ye be my diſciples. As the Father hath loved me,

ſo have I loved you: continue ye in my love. If ye keep my commandments, ye ſhall abide in my love; even as I have kept my Father's commandments, and abide in his love. Theſe things have I ſpoken unto you, that my joy might remain in you, and that your joy might be full.

Saint Philip and Saint James's Day.

The Collect.

O Almighty God, whom truly to know is everlaſting life; Grant us perfectly to know thy Son Jeſus Chriſt to be the way, the truth, and the life; that, following the ſteps of thy holy Apoſtles, Saint Philip and Saint James, we may ſtedfaſtly walk in the way that leadeth to eternal life; through the ſame thy Son Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. St. James i. 1.

JAMES, a ſervant of God and of the Lord Jeſus Chriſt, to the twelve tribes which are ſcattered abroad, greeting. My brethren, count it all joy when ye fall into divers temptations; knowing this, that the trying of your faith worketh patience. But let patience have her perfect work, that ye may be perfect and entire, wanting nothing. If any of you lack wiſdom, let him aſk of God, that giveth to all men liberally, and upbraideth not, and it ſhall be given him. But let him aſk in faith, nothing

wavering; for he that wavereth is like a wave of the ſea, driven with the wind, and toſſed. For let not that man think that he ſhall receive any thing of the Lord. A double-minded man is unſtable in all his ways. Let the brother of low degree rejoice in that he is exalted; but the rich in that he is made low; becauſe as the flower of the graſs he ſhall paſs away. For the ſun is no ſooner riſen with a burning heat, but it withereth the graſs, and the flower thereof falleth, and the grace of the faſhion of it periſheth: ſo alſo ſhall the rich man fade away in his ways. Bleſſed is the man that endureth temptation; for when he is tried, he ſhall receive the crown of life, which the Lord hath promiſed to them that love him.

The Goſpel. St. John xiv. 1.

AND Jeſus ſaid unto his diſciples, Let not your heart be troubled; ye believe in God, believe alſo in me. In my Father's houſe are many manſions; if it were not ſo, I would have told you. I go to prepare a place for you: and if I go and prepare a place for you, I will come again, and receive you unto myſelf, that where I am, there ye may be alſo. And whither I go ye know, and the way ye know. Thomas ſaith unto him, Lord, we know not whither thou goeſt, and how can we know the way? Jeſus ſaith unto him, I

am the way, the truth, and the life: no man cometh unto the Father but by me. If ye had known me, ye ſhould have known my Father alſo: and from henceforth ye know him, and have ſeen him. Philip ſaith unto him, Lord, ſhew us the Father, and it ſufficeth us. Jeſus ſaith unto him, Have I been ſo long time with you, and yet haſt thou not known me, Philip? He that hath ſeen me hath ſeen the Father; and how ſayeſt thou then, Shew us the Father? Believeſt thou not that I am in the Father, and the Father in me? The words that I ſpeak unto you I ſpeak not of myſelf; but the Father that dwelleth in me, he doeth the works. Believe me, that I am in the Father, and the Father in me; or elſe believe me for the very works' ſake. Verily, verily I ſay unto you, He that believeth on me, the works that I do ſhall he do alſo; and greater works than theſe ſhall he do; becauſe I go unto my Father. And whatſoever ye ſhall aſk in my Name, that will I do, that the Father may be glorified in the Son. If ye ſhall aſk any thing in my Name, I will do it.

Saint Barnabas the Apoſtle.

The Collect.

O Lord God Almighty, who didſt endue thy holy Apoſtle Barnabas with ſingular

gifts of the Holy Ghoſt; Leave us not, we beſeech thee, deſtitute of thy manifold gifts, nor yet of grace to uſe them alway to thy honour and glory; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For the Epiſtle. Acts xi. 22.

TIDINGS of theſe things came unto the ears of the Church which was in Jeruſalem; and they ſent forth Barnabas, that he ſhould go as far as Antioch. Who, when he came, and had ſeen the grace of God, was glad; and exhorted them all, that with purpoſe of heart they would cleave unto the Lord. For he was a good man, and full of the holy Ghoſt, and of faith: and much people was added unto the Lord. Then departed Barnabas to Tarſus, for to ſeek Saul. And when he had found him, he brought him unto Antioch. And it came to paſs, that a whole year they aſſembled themſelves with the Church, and taught much people; and the diſciples were called Chriſtians firſt in Antioch. And in theſe days came prophets from Jeruſalem unto Antioch. And there ſtood up one of them named Agabus, and ſignified by the Spirit, that there ſhould be great dearth throughout all the world; which came to paſs in the days of Claudius Cæſar. Then the diſciples, every man according to his ability, determined to ſend relief unto the brethren

which dwelt in Judæa. Which alſo they did, and ſent it to the elders by the hands of Barnabas and Saul.

The Goſpel. St. John xv. 12.

THIS is my commandment, That ye love one another, as I have loved you. Greater love hath no man than this, that a man lay down his life for his friends. Ye are my friends, if ye do whatſoever I command you. Henceforth I call you not ſervants; for the ſervant knoweth not what his lord doeth: but I have called you friends; for all things that I have heard of my Father I have made known unto you. Ye have not choſen me, but I have choſen you, and ordained you, that ye ſhould go and bring forth fruit, and that your fruit ſhould remain: that whatſoever ye ſhall aſk of the Father in my Name, he may give it you.

Saint John Baptiſt's Day.

The Collect.

ALMIGHTY God, by whoſe providence thy ſervant John Baptiſt was wonderfully born, and ſent to prepare the way of thy Son our Saviour, by preaching of repentance; Make us ſo to follow his doctrine and holy life, that we may truly repent according to his preaching; and after his example conſtantly ſpeak the truth, boldly rebuke vice,

and patiently ſuffer for the truth's ſake; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For the Epiſtle. Iſaiah xl. 1.

COMFORT ye, comfort ye my people, ſaith your God. Speak ye comfortably to Jeruſalem, and cry unto her, That her warfare is accompliſhed; that her iniquity is pardoned: for ſhe hath received of the Lord's hand double for all her ſins. The voice of him that crieth in the wilderneſs, Prepare ye the way of the Lord, make ſtraight in the deſert a high-way for our God. Every valley ſhall be exalted, and every mountain and hill ſhall be made low, and the crooked ſhall be made ſtraight, and the rough places plain. And the glory of the Lord ſhall be revealed, and all fleſh ſhall ſee it together: for the mouth of the Lord hath ſpoken it. The voice ſaid, Cry. And he ſaid, What ſhall I cry? All fleſh is graſs, and all the goodlineſs thereof is as the flower of the field. The graſs withereth, the flower fadeth, becauſe the Spirit of the Lord bloweth upon it: ſurely the people is graſs. The graſs withereth, the flower fadeth; but the word of our God ſhall ſtand for ever. O Zion, that bringeſt good tidings, get thee up into the high mountain: O Jeruſalem, that bringeſt good tidings, lift up thy voice with ſtrength; lift it up, be not afraid: ſay unto the cities of Judah, Behold your God.

Behold, the Lord God will come with ſtrong hand, and his arm ſhall rule for him: behold, his reward is with him, and his work before him. He ſhall feed his flock like a ſhepherd; he ſhall gather the lambs with his arm, and carry them in his boſom, and ſhall gently lead thoſe that are with young.

The Goſpel. St. Luke i. 57.

ELISABETH's full time came that ſhe ſhould be delivered; and ſhe brought forth a ſon. And her neighbours and her couſins heard how the Lord had ſhewed great mercy upon her; and they rejoiced with her. And it came to paſs, that on the eighth day they came to circumciſe the child; and they called him Zacharias, after the name of his father. And his mother anſwered and ſaid, Not ſo; but he ſhall be called John. And they ſaid unto her, There is none of thy kindred that is called by this name. And they made ſigns to his father, how he would have him called. And he aſked for a writing-table, and wrote, ſaying, His name is John. And they marvelled all. And his mouth was opened immediately, and his tongue looſed, and he ſpake, and praiſed God. And fear came on all that dwelt round about them; and all theſe ſayings were noiſed abroad throughout all the hill-country of Judæa. And all they

that had heard them laid them up in their hearts, ſaying, What manner of child ſhall this be? And the hand of the Lord was with him. And his father Zacharias was filled with the holy Ghoſt, and propheſied, ſaying, Bleſſed be the Lord God of Iſrael: for he hath viſited and redeemed his people, and hath raiſed up an horn of ſalvation for us in the houſe of his ſervant David; as he ſpake by the mouth of his holy prophets, which have been ſince the world began; that we ſhould be ſaved from our enemies, and from the hand of all that hate us; to perform the mercy promiſed to our fathers, and to remember his holy covenant; the oath which he ſware to our father Abraham, that he would grant unto us, that we, being delivered out of the hands of our enemies, might ſerve him without fear, in holineſs and righteouſneſs before him all the days of our life. And thou, Child, ſhalt be called the Prophet of the Higheſt: for thou ſhalt go before the face of the Lord to prepare his ways; to give knowledge of ſalvation unto his people, by the remiſſion of their ſins, through the tender mercy of our God, whereby the day-ſpring from on high hath viſited us; to give light to them that ſit in darkneſs and in the ſhadow of death, to guide our feet into the way of peace. And the child grew, and waxed ſtrong in ſpirit;

and was in the deſerts till the day of his ſhewing unto Iſrael.

Saint Peter's Day.

The Collect.

O Almighty God, who by thy Son Jeſus Chriſt didſt give to thy Apoſtle Saint Peter many excellent gifts, and commandedſt him earneſtly to feed thy flock; Make, we beſeech thee, all Biſhops and Paſtors diligently to preach thy holy Word, and the people obediently to follow the ſame, that they may receive the crown of everlaſting glory; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For the Epiſtle. Acts xii. 1.

ABOUT that time Herod the king ſtretched forth his hands to vex certain of the Church. And he killed James the brother of John with the ſword. And, becauſe he ſaw it pleaſed the Jews, he proceeded further to take Peter alſo. (Then were the days of unleavened bread.) And when he had apprehended him, he put him in priſon, and delivered him to four quaternions of ſoldiers to keep him, intending after Eaſter to bring him forth to the people. Peter therefore was kept in priſon; but prayer was made without ceaſing of the Church unto God for him. And when Herod would have brought him forth, the ſame night Peter was ſleeping between

two ſoldiers, bound with two chains; and the keepers before the door kept the priſon. And behold, the angel of the Lord came upon him, and a light ſhined in the priſon; and he ſmote Peter on the ſide, and raiſed him up, ſaying, Ariſe up quickly. And his chains fell off from his hands. And the angel ſaid unto him, Gird thyſelf, and bind on thy ſandals: and ſo he did. And he ſaith unto him, Caſt thy garment about thee, and follow me. And he went out and followed him; and wiſt not that it was true which was done by the angel; but thought he ſaw a viſion. When they were paſt the firſt and the ſecond ward, they came unto the iron gate that leadeth unto the city, which opened to them of his own accord; and they went out, and paſſed on through one ſtreet, and forthwith the angel departed from him. And when Peter was come to himſelf, he ſaid, Now I know of a ſurety, that the Lord hath ſent his angel, and hath delivered me out of the hand of Herod, and from all the expectation of the people of the Jews.

The Goſpel. St. Matth. xvi. 13.

WHEN Jeſus came into the coaſts of Cæſarea Philippi, he aſked his diſciples, ſaying, Whom do men ſay that I, the Son of man, am? And they ſaid, Some ſay that thou art John the Baptiſt, ſome Elias, and others Jeremias, or one of the prophets. He ſaith

unto them, But whom ſay ye that I am? And Simon Peter anſwered and ſaid, Thou art Chriſt, the Son of the living God. And Jeſus anſwered and ſaid unto him, Bleſſed art thou, Simon Bar-jona: for fleſh and blood hath not revealed it unto thee, but my Father which is in heaven. And I ſay alſo unto thee, That thou art Peter, and upon this rock I will build my Church; and the gates of hell ſhall not prevail againſt it. And I will give unto thee the keys of the kingdom of heaven: and whatſoever thou ſhalt bind on earth ſhall be bound in heaven; and whatſoever thou ſhalt looſe on earth ſhall be looſed in heaven.

Saint James the Apoſtle.

The Collect.

GRANT, O merciful God, that as thine holy Apoſtle Saint James, leaving his father and all that he had, without delay was obedient unto the calling of thy Son Jeſus Chriſt, and followed him; ſo we, forſaking all worldly and carnal affections, may be evermore ready to follow thy holy commandments; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For the Epiſtle. Acts xi. 27, *and part of Chap.* xii.

IN thoſe days came prophets from Jeruſalem unto Antioch. And there ſtood up one of them named Agabus, and ſignified by

the Spirit, that there ſhould be great dearth throughout all the world; which came to paſs in the days of Claudius Cæſar. Then the diſciples, every man according to his ability, determined to ſend relief unto the brethren which dwelt in Judæa. Which alſo they did, and ſent it to the elders by the hands of Barnabas and Saul. Now about that time Herod the king ſtretched forth his hands to vex certain of the Church. And he killed James the brother of John with the ſword. And, becauſe he ſaw it pleaſed the Jews, he proceeded further to take Peter alſo.

The Goſpel. St. Matth. xx. 20.

THEN came to him the mother of Zebedee's children with her ſons, worſhipping him, and deſiring a certain thing of him. And he ſaid unto her, What wilt thou? She ſaith unto him, Grant that theſe my two ſons may ſit, the one on thy right hand, and the other on the left, in thy kingdom. But Jeſus anſwered and ſaid, Ye know not what ye aſk. Are ye able to drink of the cup that I ſhall drink of, and to be baptized with the baptiſm that I am baptized with? They ſay unto him, We are able. And he ſaith unto them, Ye ſhall drink indeed of my cup, and be baptized with the baptiſm that I am baptized with: but to ſit on my right hand, and on my left, is not mine to give; but it ſhall be given to

them for whom it is prepared of my Father. And when the ten heard it, they were moved with indignation againſt the two brethren. But Jeſus called them unto him, and ſaid, Ye know that the princes of the Gentiles exerciſe dominion over them, and they that are great exerciſe authority upon them. But it ſhall not be ſo among you: but whoſoever will be great among you, let him be your miniſter; and whoſoever will be chief among you, let him be your ſervant: even as the Son of man came not to be miniſtered unto, but to miniſter, and to give his life a ranſom for many.

Saint Bartholomew the Apoſtle.

The Collect.

O Almighty and everlaſting God, who didſt give to thine Apoſtle Bartholomew grace truly to believe and to preach thy Word; Grant, we beſeech thee, unto thy Church, to love that Word which he believed, and both to preach and receive the ſame; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For the Epiſtle. Acts v. 12.

BY the hands of the Apoſtles were many ſigns and wonders wrought among the people: (and they were all with one accord in Solomon's porch: and of the reſt durſt no man join himſelf to them: but the people

magnified them: and believers were the more added to the Lord, multitudes both of men and women:) inſomuch that they brought forth the ſick into the ſtreets, and laid them on beds and couches, that at the leaſt the ſhadow of Peter paſſing by might overſhadow ſome of them. There came alſo a multitude out of the cities round about unto Jeruſalem, bringing ſick folks, and them which were vexed with unclean ſpirits; and they were healed every one.

The Goſpel. St. Luke xxii. 24.

AND there was alſo a ſtrife among them, which of them ſhould be accounted the greateſt. And he ſaid unto them, The kings of the Gentiles exerciſe lordſhip over them; and they that exerciſe authority upon them are called benefactors. But ye ſhall not be ſo: but he that is greateſt among you, let him be as the younger; and he that is chief, as he that doth ſerve. For whether is greater, he that ſitteth at meat, or he that ſerveth? is not he that ſitteth at meat? but I am among you as he that ſerveth. Ye are they which have continued with me in my temptations. And I appoint unto you a kingdom, as my Father hath appointed unto me; that ye may eat and drink at my table in my kingdom, and ſit on thrones judging the twelve tribes of Iſrael.

Saint Matthew the Apoſtle.

The Collect.

O Almighty God, who by thy bleſſed Son didſt call Matthew from the receipt of cuſtom to be an Apoſtle and Evangeliſt; Grant us grace to forſake all covetous deſires, and inordinate love of riches, and to follow the ſame thy Son Jeſus Chriſt, who liveth and reigneth with thee and the Holy Ghoſt, one God, world without end. *Amen.*

The Epiſtle. 2 Cor. iv. 1.

THEREFORE ſeeing we have this miniſtry, as we have received mercy, we faint not; but have renounced the hidden things of diſhoneſty, not walking in craftineſs, nor handling the Word of God deceitfully, but by manifeſtation of the truth commending ourſelves to every man's conſcience in the ſight of God. But if our goſpel be hid, it is hid to them that are loſt: in whom the God of this world hath blinded the minds of them which believe not, leſt the light of the glorious Goſpel of Chriſt, who is the image of God, ſhould ſhine unto them. For we preach not ourſelves, but Chriſt Jeſus the Lord; and ourſelves your ſervants for Jeſus' ſake. For God, who commanded the light to ſhine out of darkneſs, hath ſhined in our hearts, to give the light of the knowledge of the glory of God, in the face of Jeſus Chriſt.

Saint Michael and all Angels.

The Goſpel. St. Matth. ix. 9.

AND as Jeſus paſſed forth from thence, he ſaw a man named Matthew, ſitting at the receipt of cuſtom: and he ſaith unto him, Follow me. And he aroſe, and followed him. And it came to paſs, as Jeſus ſat at meat in the houſe, behold, many Publicans and ſinners came, and ſat down with him and his diſciples. And when the Phariſees ſaw it, they ſaid unto his diſciples, Why eateth your Maſter with Publicans and ſinners? But when Jeſus heard that, he ſaid unto them, They that be whole need not a phyſician, but they that are ſick. But go ye and learn what that meaneth, I will have mercy, and not ſacrifice; for I am not come to call the righteous, but ſinners to repentance.

Saint Michael and all Angels.

The Collect.

O Everlaſting God, who haſt ordained and conſtituted the ſervices of Angels and men in a wonderful order; Mercifully grant, that as thy holy Angels alway do thee ſervice in heaven, ſo by thy appointment they may ſuccour and defend us on earth; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For the Epiſtle. Rev. xii. 7.

THERE was war in heaven: Michael and his angels fought againſt the dragon, and

the dragon fought and his angels; and prevailed not, neither was their place found any more in heaven. And the great dragon was caſt out, that old ſerpent, called the devil and Satan, which deceiveth the whole world; he was caſt out into the earth, and his angels were caſt out with him. And I heard a loud voice ſaying in heaven, Now is come ſalvation, and ſtrength, and the kingdom of our God, and the power of his Chriſt: for the accuſer of our brethren is caſt down, which accuſed them before our God day and night. And they overcame him by the blood of the Lamb, and by the word of their teſtimony; and they loved not their lives unto the death. Therefore rejoice, ye heavens, and ye that dwell in them. Wo to the inhabiters of the earth, and of the ſea: for the devil is come down unto you, having great wrath, becauſe he knoweth that he hath but a ſhort time.

The Goſpel. St. Matth. xviii. 1.

AT the ſame time came the diſciples unto Jeſus, ſaying, Who is the greateſt in the Kingdom of heaven? And Jeſus called a little child unto him, and ſet him in the midſt of them, and ſaid, Verily I ſay unto you, Except ye be converted, and become as little children, ye ſhall not enter into the Kingdom of heaven. Whoſoever therefore ſhall humble

himſelf as this little child, the ſame is greateſt in the Kingdom of heaven. And whoſo ſhall receive one ſuch little child in my Name, receiveth me. But whoſo ſhall offend one of theſe little ones which believe in me, it were better for him that a milſtone were hanged about his neck, and that he were drowned in the depth of the ſea. Wo unto the world becauſe of offences: for it muſt needs be that offences come: but wo to that man by whom the offence cometh. Wherefore if thy hand or thy foot offend thee, cut them off, and caſt them from thee: it is better for thee to enter into life halt or maimed, rather than having two hands or two feet to be caſt into everlaſting fire. And if thine eye offend thee, pluck it out, and caſt it from thee: it is better for thee to enter into life with one eye, rather than having two eyes to be caſt into hell-fire. Take heed that ye deſpiſe not one of theſe little ones; for I ſay unto you, That in heaven their angels do always behold the face of my Father which is in heaven.

Saint Luke the Evangeliſt.

The Collect.

ALMIGHTY God, who calledſt Luke the Phyſician, whoſe praiſe is in the Goſpel, to be an Evangeliſt, and Phyſician of the ſoul;

May it pleaſe thee, that, by the wholſome medicines of the doctrine delivered by him, all the diſeaſes of our ſouls may be healed; through the merits of thy Son Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. 2 Tim. iv. 5.

WATCH thou in all things, endure afflictions, do the work of an Evangeliſt, make full proof of thy miniſtry. For I am now ready to be offered, and the time of my departure is at hand. I have fought a good fight, I have finiſhed my courſe, I have kept the faith. Henceforth there is laid up for me a crown of righteouſneſs, which the Lord, the righteous Judge, ſhall give me at that day: and not to me only, but unto all them alſo that love his appearing. Do thy diligence to come ſhortly unto me: for Demas hath forſaken me, having loved this preſent world, and is departed unto Theſſalonica; Creſcens to Galatia, Titus unto Dalmatia. Only Luke is with me. Take Mark and bring him with thee: for he is profitable to me for the miniſtry. And Tychicus have I ſent to Epheſus. The cloke that I left at Troas with Carpus, when thou comeſt, bring with thee; and the books, but eſpecially the parchments. Alexander the copper-ſmith did me much evil: the Lord reward him according to his works. Of

whom be thou ware alſo, for he hath greatly withſtood our words.

The Goſpel. St. Luke x. 1.

THE Lord appointed other ſeventy alſo, and ſent them two and two before his face into every city and place whither he himſelf would come. Therefore ſaid he unto them, The harveſt truly is great, but the labourers are few; pray ye therefore the Lord of the harveſt, that he would ſend forth labourers into his harveſt. Go your ways; behold, I ſend you forth as lambs among wolves. Carry neither purſe, nor ſcrip, nor ſhoes, and ſalute no man by the way. And into whatſoever houſe ye enter, firſt ſay, Peace be to this houſe. And if the ſon of peace be there, your peace ſhall reſt upon it: if not, it ſhall turn to you again. And in the ſame houſe remain, eating and drinking ſuch things as they give: for the labourer is worthy of his hire.

Saint Simon and Saint Jude, Apoſtles.

The Collect.

O Almighty God, who haſt built thy Church upon the foundation of the Apoſtles and Prophets, Jeſus Chriſt himſelf being the head corner-ſtone; Grant us ſo to be joined together in unity of ſpirit by their doctrine, that we may be made an holy temple acceptable

unto thee; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Epiſtle. St. Jude 1.

JUDE, the ſervant of Jeſus Chriſt, and brother of James, to them that are ſanctified by God the Father, and preſerved in Jeſus Chriſt, and called: Mercy unto you, and peace, and love be multiplied. Beloved, when I gave all diligence to write unto you of the common ſalvation, it was needful for me to write unto you, and exhort you, that ye ſhould earneſtly contend for the faith which was once delivered unto the ſaints. For there are certain men crept in unawares, who were before of old ordained to this condemnation; ungodly men, turning the grace of our God into laſciviouſneſs, and denying the only Lord God, and our Lord Jeſus Chriſt. I will therefore put you in remembrance, though ye once knew this, how that the Lord, having ſaved the people out of the land of Egypt, afterward deſtroyed them that believed not. And the angels which kept not their firſt eſtate, but left their own habitation, he hath reſerved in everlaſting chains under darkneſs unto the judgement of the great day. Even as Sodom and Gomorrha, and the cities about them in like manner giving themſelves over to fornication, and going after ſtrange fleſh, are ſet forth for an example, ſuffering the

vengeance of eternal fire. Likewiſe alſo theſe filthy dreamers defile the fleſh, deſpiſe dominion, and ſpeak evil of dignities.

The Goſpel. St. John xv. 17.

THESE things I command you, that ye love one another. If the world hate you, ye know that it hated me before it hated you. If ye were of the world, the world would love his own: but becauſe ye are not of the world, but I have choſen you out of the world, therefore the world hateth you. Remember the word that I ſaid unto you, The ſervant is not greater than the lord: if they have perſecuted me, they will alſo perſecute you; if they have kept my ſaying, they will keep your's alſo. But all theſe things will they do unto you for my Name's ſake, becauſe they know not him that ſent me. If I had not come and ſpoken unto them, they had not had ſin: but now they have no cloke for their ſin. He that hateth me hateth my Father alſo. If I had not done among them the works which none other man did, they had not had ſin; but now have they both ſeen, and hated, both me and my Father. But this cometh to paſs, that the word might be fulfilled that is written in their law, They hated me without a cauſe. But when the Comforter is come, whom I will ſend unto you from the Father,

even the Spirit of truth, which proceedeth from the Father, he ſhall teſtify of me. And ye alſo ſhall bear witneſs, becauſe ye have been with me from the beginning.

All Saints' Day.

The Collect.

O Almighty God, who haſt knit together thine elect in one communion and fellowſhip, in the myſtical body of thy Son Chriſt our Lord; Grant us grace ſo to follow thy bleſſed Saints in all virtuous and godly living, that we may come to thoſe unſpeakable joys, which thou haſt prepared for them that unfeignedly love thee; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

For the Epiſtle. Rev. vii. 2.

AND I ſaw another angel aſcending from the eaſt, having the ſeal of the living God; and he cried with a loud voice to the four angels, to whom it was given to hurt the earth, and the ſea, ſaying, Hurt not the earth, neither the ſea, nor the trees, till we have ſealed the ſervants of our God in their foreheads. And I heard the number of them which were ſealed; and there were ſealed an hundred and forty and four thouſand, of all the tribes of the children of Iſrael.

Of the tribe of Juda were ſealed twelve thouſand.

Of the tribe of Reuben were ſealed twelve thouſand.

Of the tribe of Gad were ſealed twelve thouſand.

Of the tribe of Aſer were ſealed twelve thouſand.

Of the tribe of Nephthali were ſealed twelve thouſand.

Of the tribe of Manaſſes were ſealed twelve thouſand.

Of the tribe of Symeon were ſealed twelve thouſand.

Of the tribe of Levi were ſealed twelve thouſand.

Of the tribe of Iſachar were ſealed twelve thouſand.

Of the tribe of Zabulon were ſealed twelve thouſand.

Of the tribe of Joſeph were ſealed twelve thouſand.

Of the tribe of Benjamin were ſealed twelve thouſand.

After this I beheld, and lo, a great multitude, which no man could number, of all nations, and kindreds, and people, and tongues, ſtood before the throne, and before the Lamb, clothed with white robes, and palms in their hands; and cried with a loud voice, ſaying, Salvation to our God which ſitteth upon the throne, and unto the Lamb. And all the an-

gels ſtood round about the throne, and about the elders, and the four beaſts, and fell before the throne on their faces, and worſhipped God, ſaying, Amen; Bleſſing, and glory, and wiſdom, and thankſgiving, and honour, and power, and might, be unto our God for ever and ever. Amen.

The Goſpel. St. Matth. v. 1.

JESUS, ſeeing the multitudes, went up into a mountain; and when he was ſet, his diſciples came unto him. And he opened his mouth, and taught them, ſaying, Bleſſed are the poor in ſpirit: for their's is the kingdom of heaven. Bleſſed are they that mourn: for they ſhall be comforted. Bleſſed are the meek: for they ſhall inherit the earth. Bleſſed are they which do hunger and thirſt after righteouſneſs: for they ſhall be filled. Bleſſed are the merciful: for they ſhall obtain mercy. Bleſſed are the pure in heart: for they ſhall ſee God. Bleſſed are the peace-makers: for they ſhall be called the children of God. Bleſſed are they which are perſecuted for righteouſneſs' ſake, for their's is the kingdom of heaven. Bleſſed are ye, when men ſhall revile you, and perſecute you, and ſhall ſay all manner of evil againſt you falſely for my ſake. Rejoice, and be exceeding glad; for great is your reward in heaven: for ſo perſecuted they the prophets which were before you.

THE ORDER OF THE

ADMINISTRATION OF THE LORD'S SUPPER,

OR

HOLY COMMUNION.

¶ *So many as intend to be partakers of the holy Communion shall signify their names to the Curate, at least some time the day before.*

¶ *And if any of those be an open and notorious evil liver, or have done any wrong to his neighbours by word or deed, so that the Congregation be thereby offended; the Curate, having knowledge thereof, shall call him and advertise him, that in any wise he presume not to come to the Lord's Table, until he hath openly declared himself to have truly repented and amended his former naughty life, that the Congregation may thereby be satisfied, which before were offended; and that he hath recompensed the parties, to whom he hath done wrong; or at least declare himself to be in full purpose so to do, as soon as he conveniently may.*

¶ *The same order shall the Curate use with those betwixt whom he perceiveth malice and hatred to reign; not suffering them to be partakers of the Lord's Table, until he know them to be reconciled. And if one of the parties so at variance be content to forgive from the bottom of his heart all that the other hath trespassed against him, and to make amends for that he himself hath offended; and the other party will not be persuaded to a godly unity, but remain still in his frowardness and malice: the Minister in that case ought to admit the penitent person to the holy Communion, and not him that is obstinate. Provided that every Minister so repelling any, as is specified in this, or the next precedent Paragraph of this Rubrick, shall be obliged to give an account of the same to the Ordinary within fourteen days after at the farthest. And the Ordinary shall proceed against the offending person according to the Canon.*

¶ *The Table, at the Communion-time having a fair white linen cloth upon it, shall stand in the Body of the Church, or in the Chancel, where Morning and Evening Prayer are appointed to be said. And the Priest standing at the North-side of the Table shall say the Lord's Prayer, with the Collect following, the people kneeling.*

OUR Father which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our treſpaſſes, As we forgive them that treſpaſs againſt us. And lead us not into temptation; But deliver us from evil. Amen.

The Collect.

ALMIGHTY God, unto whom all hearts be open, all deſires known, and from

whom no ſecrets are hid; Cleanſe the thoughts of our hearts by the inſpiration of thy Holy Spirit, that we may perfectly love thee, and worthily magnify thy holy Name; through Chriſt our Lord. *Amen.*

¶ *Then ſhall the Priest, turning to the people, rehearse distinctly all the* TEN COMMANDMENTS; *and the people ſtill kneeling ſhall, after every Commandment, ask God mercy for their transgression thereof for the time paſt, and grace to keep the ſame for the time to come, as followeth.*

Miniſter.

GOD ſpake theſe words, and ſaid; I am the Lord thy God: Thou ſhalt have none other gods but me.

People. Lord, have mercy upon us, and incline our hearts to keep this law.

Miniſter. Thou ſhalt not make to thyſelf any graven image, nor the likeneſs of any thing that is in heaven above, or in the earth beneath, or in the water under the earth. Thou ſhalt not bow down to them, nor worſhip them: for I the Lord thy God am a jealous God, and viſit the ſins of the fathers upon the children, unto the third and fourth generation of them that hate me, and ſhew mercy unto thouſands in them that love me, and keep my commandments.

People. Lord, have mercy upon us, and incline our hearts to keep this law.

Miniſter. Thou ſhalt not take the Name of the Lord thy God in vain: for the Lord

will not hold him guiltleſs, that taketh his Name in vain.

People. Lord, have mercy upon us, and incline our hearts to keep this law.

Miniſter. Remember that thou keep holy the Sabbath-day. Six days ſhalt thou labour, and do all that thou haſt to do; but the ſeventh day is the Sabbath of the Lord thy God. In it thou ſhalt do no manner of work, thou, and thy ſon, and thy daughter, thy man-ſervant, and thy maid-ſervant, thy cattle, and the ſtranger that is within thy gates. For in ſix days the Lord made heaven and earth, the ſea, and all that in them is, and reſted the ſeventh day: wherefore the Lord bleſſed the ſeventh day, and hallowed it.

People. Lord, have mercy upon us, and incline our hearts to keep this law.

Miniſter. Honour thy father and thy mother; that thy days may be long in the land, which the Lord thy God giveth thee.

People. Lord, have mercy upon us, and incline our hearts to keep this law.

Miniſter. Thou ſhalt do no murder.

People. Lord, have mercy upon us, and incline our hearts to keep this law.

Miniſter. Thou ſhalt not commit adultery.

People. Lord, have mercy upon us, and incline our hearts to keep this law.

Miniſter. Thou ſhalt not ſteal.

People. Lord, have mercy upon us, and incline our hearts to keep this law.

Minister. Thou shalt not bear false witness against thy neighbour.

People. Lord, have mercy upon us, and incline our hearts to keep this law.

Minister. Thou shalt not covet thy neighbour's house, thou shalt not covet thy neighbour's wife, nor his servant, nor his maid, nor his ox, nor his ass, nor any thing that is his.

People. Lord, have mercy upon us, and write all these thy laws in our hearts, we beseech thee.

¶ *Then shall follow one of these two Collects for the King, the Priest standing as before, and saying,*

Let us pray.

ALMIGHTY God, whose kingdom is everlasting, and power infinite; Have mercy upon the whole Church; and so rule the heart of thy chosen servant *GEORGE*, our King and Governour, that he (knowing whose minister he is) may above all things seek thy honour and glory: and that we, and all his subjects (duly considering whose authority he hath) may faithfully serve, honour, and humbly obey him, in thee, and for thee, according to thy blessed Word and ordinance; through Jesus Christ our Lord, who with thee and the Holy Ghost liveth and reigneth, ever one God, world without end. *Amen.*

Or,

ALMIGHTY and everlaſting God, we are taught by thy holy Word, that the hearts of Kings are in thy rule and governance, and that thou doſt diſpoſe and turn them as it ſeemeth beſt to thy godly wiſdom: We humbly beſeech thee ſo to diſpoſe and govern the heart of *GEORGE* thy Servant, our King and Governour, that, in all his thoughts, words, and works, he may ever ſeek thy honour and glory, and ſtudy to preſerve thy people committed to his charge, in wealth, peace, and godlineſs: Grant this, O merciful Father, for thy dear Son's ſake, Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

¶ *Then ſhall be ſaid the Collect of the Day. And immediately after the Collect the Priest ſhall read the Epiſtle, ſaying,* The Epiſtle [*or,* The portion of Scripture appointed for the Epiſtle] is written in the — Chapter of — beginning at the — Verſe. *And the Epiſtle ended, he ſhall ſay,* Here endeth the Epiſtle. *Then ſhall he read the Goſpel* (*the people all ſtanding up*) *ſaying,* The holy Goſpel is written in the — Chapter of — beginning at the — Verſe. *And the Goſpel ended, ſhall be ſung or ſaid the Creed following, the people ſtill ſtanding, as before.*

I Believe in one God the Father Almighty, Maker of heaven and earth, And of all things viſible and inviſible:

And in one Lord Jeſus Chriſt, the only-begotten Son of God, Begotten of his Father before all worlds, God of God, Light of Light, Very God of very God, Begotten, not made, Being of one ſubſtance with the Father, By whom all things were made: Who

for us men, and for our ſalvation came down from heaven, And was incarnate by the Holy Ghoſt of the Virgin Mary, And was made man, and was crucified alſo for us under Pontius Pilate. He ſuffered and was buried, And the third day he roſe again according to the Scriptures, And aſcended into heaven, And ſitteth on the right hand of the Father. And he ſhall come again with glory to judge both the quick and the dead: Whoſe kingdom ſhall have no end.

And I believe in the Holy Ghoſt, The Lord and Giver of life, Who proceedeth from the Father and the Son, Who with the Father and the Son together is worſhipped and glorified, Who ſpake by the Prophets. And I believe one Catholick and Apoſtolick Church. I acknowledge one Baptiſm for the remiſſion of ſins, And I look for the Reſurrection of the dead, And the life of the world to come. Amen.

¶ *Then the Curate ſhall declare unto the people what Holy-days, or Faſting-days, are in the week following to be obſerved. And then alſo (if occaſion be) ſhall notice be given of the Communion; and Briefs, Citations, and Excommunications read. And nothing ſhall be proclaimed or publiſhed in the Church, during the time of Divine Service, but by the Miniſter: nor by him any thing, but what is preſcribed in the Rules of this Book, or enjoined by the King, or by the Ordinary of the place.*

¶ *Then ſhall follow the Sermon, or one of the Homilies already ſet forth, or hereafter to be ſet forth, by authority.*

¶ *Then ſhall the Prieſt return to the Lord's Table, and begin the Offertory, ſaying one or more of theſe Sentences following, as he thinketh moſt convenient in his diſcretion.*

LET your light ſo ſhine before men, that they may ſee your good works, and

glorify your Father which is in heaven. *St. Matth.* v.

Lay not up for yourſelves treaſure upon the earth; where the ruſt and moth doth corrupt, and where thieves break through and ſteal: but lay up for yourſelves treaſures in heaven; where neither ruſt nor moth doth corrupt, and where thieves do not break through and ſteal. *St. Matth.* vi.

Whatſoever ye would that men ſhould do unto you, even ſo do unto them; for this is the Law and the Prophets. *St. Matth.* vii.

Not every one that ſaith unto me, Lord, Lord, ſhall enter into the Kingdom of heaven; but he that doeth the will of my Father which is in heaven. *St. Matth.* vii.

Zacchæus ſtood forth, and ſaid unto the Lord, Behold, Lord, the half of my goods I give to the poor; and if I have done any wrong to any man, I reſtore four-fold. *St. Luke* xix.

Who goeth a warfare at any time of his own coſt? Who planteth a vineyard, and eateth not of the fruit thereof? Or who feedeth a flock, and eateth not of the milk of the flock? 1 *Cor.* ix.

If we have ſown unto you ſpiritual things, is it a great matter if we ſhall reap your worldly things? 1 *Cor.* ix.

Do ye not know, that they who miniſter

about holy things, live of the ſacrifice; and they who wait at the altar are partakers with the altar? Even ſo hath the Lord alſo ordained, that they who preach the Goſpel ſhould live of the Goſpel. 1 *Cor.* ix.

He that ſoweth little ſhall reap little; and he that ſoweth plenteouſly ſhall reap plenteouſly. Let every man do according as he is diſpoſed in his heart, not grudgingly, or of neceſſity; for God loveth a cheerful giver. 2 *Cor.* ix.

Let him that is taught in the Word miniſter unto him that teacheth, in all good things. Be not deceived, God is not mocked: for whatſoever a man ſoweth that ſhall he reap. *Gal.* vi.

While we have time, let us do good unto all men; and ſpecially unto them that are of the houſhold of faith. *Gal.* vi.

Godlineſs is great riches, if a man be content with that he hath: for we brought nothing into the world, neither may we carry any thing out. 1 *Tim.* vi.

Charge them who are rich in this world, that they be ready to give, and glad to diſtribute; laying up in ſtore for themſelves a good foundation againſt the time to come, that they may attain eternal life. 1 *Tim.* vi.

God is not unrighteous, that he will forget your works, and labour that proceedeth of

love; which love ye have ſhewed for his Name's ſake, who have miniſtered unto the ſaints, and yet do miniſter. *Heb.* vi.

To do good, and to diſtribute, forget not; for with ſuch ſacrifices God is well pleaſed. *Heb.* xiii.

Whoſo hath this world's good, and ſeeth his brother have need, and ſhutteth up his compaſſion from him, how dwelleth the love of God in him? 1 *St. John* iii.

Give alms of thy goods, and never turn thy face from any poor man; and then the face of the Lord ſhall not be turned away from thee. *Tobit* iv.

Be merciful after thy power. If thou haſt much, give plenteouſly: if thou haſt little, do thy diligence gladly to give of that little: for ſo gathereſt thou thyſelf a good reward in the day of neceſſity. *Tobit* iv.

He that hath pity upon the poor lendeth unto the Lord: and look, what he layeth out, it ſhall be paid him again. *Prov.* xix.

Bleſſed be the man that provideth for the ſick and needy: the Lord ſhall deliver him in the time of trouble. *Pſalm* xli.

¶ *Whilſt these Sentences are in reading, the Deacons, Church-wardens, or other fit person appointed for that purpose, shall receive the Alms for the Poor, and other devotions of the people, in a decent bason to be provided by the Parish for that purpose; and reverently bring it to the Priest, who shall humbly present and place it upon the holy Table.*

¶ *And when there is a Communion, the Priest shall then place upon the Table so much Bread and Wine, as he shall think sufficient.*

After which done, the Priest shall say,

Let us pray for the whole ſtate of Chriſt's Church militant here in earth.

ALMIGHTY and everliving God, who by thy holy Apoſtle haſt taught us to make prayers, and ſupplications, and to give thanks, for all men; We humbly beſeech thee moſt mercifully [*to accept our alms and oblations, and*] to receive theſe our prayers, which we offer unto thy Divine Majeſty; beſeeching thee to inſpire continually the univerſal Church with the ſpirit of truth, unity, and concord: And grant, that all they that do confeſs thy holy Name may agree in the truth of thy holy Word, and live in unity, and godly love. We beſeech thee alſo to ſave and defend all Chriſtian Kings, Princes, and Governours; and ſpecially thy Servant *GEORGE* our King; that under him we may be godly and quietly governed: And grant unto his whole Council, and to all that are put in authority under him, that they may truly and indifferently miniſter juſtice, to the puniſhment of wickedneſs and vice, and to the maintenance of thy true religion, and virtue. Give grace, O heavenly Father, to all Biſhops and Curates, that they may both by their life and doctrine ſet forth thy true and lively Word, and rightly and duly adminiſter thy holy Sacraments: And

If there be no alms or oblations, then ſhall the words [of accepting our alms and oblations] *be left out unſaid.*

to all thy people give thy heavenly grace; and especially to this congregation here present; that, with meek heart and due reverence, they may hear, and receive thy holy Word; truly serving thee in holiness and righteousness all the days of their life. And we most humbly beseech thee of thy goodness, O Lord, to comfort and succour all them, who in this transitory life are in trouble, sorrow, need, sickness, or any other adversity. And we also bless thy holy Name for all thy servants departed this life in thy faith and fear; beseeching thee to give us grace so to follow their good examples, that with them we may be partakers of thy heavenly kingdom: Grant this, O Father, for Jesus Christ's sake, our only Mediator and Advocate. *Amen.*

¶ *When the Minister giveth warning for the celebration of the holy Communion, (which he shall always do upon the Sunday, or some Holy-day, immediately preceding,) after the Sermon or Homily ended, he shall read this Exhortation following.*

DEARLY beloved, on ——day next I purpose, through God's assistance, to administer to all such as shall be religiously and devoutly disposed the most comfortable Sacrament of the Body and Blood of Christ; to be by them received in remembrance of his meritorious Cross and Passion; whereby alone we obtain remission of our sins, and are made partakers of the Kingdom of heaven. Wherefore it is our duty to render most humble and hearty thanks to Almighty God our

heavenly Father, for that he hath given his Son our Saviour Jeſus Chriſt, not only to die for us, but alſo to be our ſpiritual food and ſuſtenance in that holy Sacrament. Which being ſo divine and comfortable a thing to them who receive it worthily, and ſo dangerous to them that will preſume to receive it unworthily; my duty is to exhort you in the mean ſeaſon to conſider the dignity of that holy myſtery, and the great peril of the unworthy receiving thereof; and ſo to ſearch and examine your own conſciences, (and that not lightly, and after the manner of diſſemblers with God; but ſo) that ye may come holy and clean to ſuch a heavenly Feaſt, in the marriage-garment required by God in holy Scripture, and be received as worthy partakers of that holy Table.

The way and means thereto is; Firſt, to examine your lives and converſations by the rule of God's commandments; and whereinſoever ye ſhall perceive yourſelves to have offended, either by will, word, or deed, there to bewail your own ſinfulneſs, and to confeſs yourſelves to Almighty God, with full purpoſe of amendment of life. And if ye ſhall perceive your offences to be ſuch as are not only againſt God, but alſo againſt your neighbours; then ye ſhall reconcile yourſelves unto them; being ready to make reſtitution and

ſatisfaction, according to the uttermoſt of your powers, for all injuries and wrongs done by you to any other; and being likewiſe ready to forgive others that have offended you, as ye would have forgiveneſs of your offences at God's hand: for otherwiſe the receiving of the holy Communion doth nothing elſe but increaſe your damnation. Therefore if any of you be a blaſphemer of God, an hinderer or ſlanderer of his Word, an adulterer, or be in malice, or envy, or in any other grievous crime, repent you of your ſins, or elſe come not to that holy Table; leſt, after the taking of that holy Sacrament, the devil enter into you, as he entered into Judas, and fill you full of all iniquities, and bring you to deſtruction both of body and ſoul.

And becauſe it is requiſite, that no man ſhould come to the holy Communion, but with a full truſt in God's mercy, and with a quiet conſcience; therefore if there be any of you, who by this means cannot quiet his own conſcience herein, but requireth further comfort or counſel, let him come to me, or to ſome other diſcreet and learned Miniſter of God's Word, and open his grief; that by the miniſtry of God's holy Word he may receive the benefit of abſolution, together with ghoſtly counſel and advice, to the quieting of his conſcience, and avoiding of all ſcruple and doubtfulneſs.

¶ Or, in case he shall see the people negligent to come to the holy Communion, instead of the former, he shall use this Exhortation.

DEARLY beloved brethren, on —— I intend, by God's grace, to celebrate the Lord's Supper: unto which, in God's behalf, I bid you all that are here preſent; and beſeech you, for the Lord Jeſus Chriſt's ſake, that ye will not refuſe to come thereto, being ſo lovingly called and bidden by God himſelf. Ye know how grievous and unkind a thing it is, when a man hath prepared a rich feaſt, decked his table with all kind of proviſion, ſo that there lacketh nothing but the gueſts to ſit down; and yet they who are called (without any cauſe) moſt unthankfully refuſe to come. Which of you in ſuch a caſe would not be moved? Who would not think a great injury and wrong done unto him? Wherefore, moſt dearly beloved in Chriſt, take ye good heed, leſt ye, withdrawing yourſelves from this holy Supper, provoke God's indignation againſt you. It is an eaſy matter for a man to ſay, I will not communicate, becauſe I am otherwiſe hindered with worldly buſineſs. But ſuch excuſes are not ſo eaſily accepted and allowed before God. If any man ſay, I am a grievous ſinner, and therefore am afraid to come: wherefore then do ye not repent and amend? When God calleth you, are ye not aſhamed to ſay ye will not come?

When ye ſhould return to God, will ye excuſe yourſelves, and ſay ye are not ready? Conſider earneſtly with yourſelves how little ſuch feigned excuſes will avail before God. They that refuſed the feaſt in the Goſpel, becauſe they had bought a farm, or would try their yokes of oxen, or becauſe they were married, were not ſo excuſed, but counted unworthy of the heavenly feaſt. I, for my part, ſhall be ready; and, according to mine Office, I bid you in the Name of God, I call you in Chriſt's behalf, I exhort you, as ye love your own ſalvation, that ye will be partakers of this holy Communion. And as the Son of God did vouchſafe to yield up his ſoul by death upon the Croſs for your ſalvation; ſo it is your duty to receive the Communion in remembrance of the ſacrifice of his death, as he himſelf hath commanded: which if ye ſhall neglect to do, conſider with yourſelves how great injury ye do unto God, and how ſore puniſhment hangeth over your heads for the ſame; when ye wilfully abſtain from the Lord's Table, and ſeparate from your brethren, who come to feed on the banquet of that moſt heavenly food. Theſe things if ye earneſtly conſider, ye will by God's grace return to a better mind: for the obtaining whereof we ſhall not ceaſe to make our humble petitions unto Almighty God our heavenly Father.

¶ *At the time of the Celebration of the Communion, the Communicants being conveniently placed for the receiving of the holy Sacrament, the Priest shall say this Exhortation.*

DEARLY beloved in the Lord, ye that mind to come to the holy Communion of the Body and Blood of our Saviour Chriſt, muſt conſider how Saint Paul exhorteth all perſons diligently to try and examine themſelves, before they preſume to eat of that Bread, and drink of that Cup. For as the benefit is great, if with a true penitent heart and lively faith we receive that holy Sacrament; (for then we ſpiritually eat the fleſh of Chriſt, and drink his blood; then we dwell in Chriſt, and Chriſt in us; we are one with Chriſt, and Chriſt with us;) ſo is the danger great, if we receive the ſame unworthily. For then we are guilty of the Body and Blood of Chriſt our Saviour; we eat and drink our own damnation, not conſidering the Lord's Body; we kindle God's wrath againſt us; we provoke him to plague us with divers diſeaſes, and ſundry kinds of death. Judge therefore yourſelves, brethren, that ye be not judged of the Lord; repent you truly for your ſins paſt; have a lively and ſtedfaſt faith in Chriſt our Saviour; amend your lives, and be in perfect charity with all men; ſo ſhall ye be meet partakers of thoſe holy myſteries. And above all things ye muſt give moſt humble and hearty thanks to God, the Father, the Son, and the

Holy Ghoſt, for the redemption of the world by the death and paſſion of our Saviour Chriſt, both God and man; who did humble himſelf, even to the death upon the Croſs, for us, miſerable ſinners, who lay in darkneſs and the ſhadow of death; that he might make us the children of God, and exalt us to everlaſting life. And to the end that we ſhould alway remember the exceeding great love of our Maſter, and only Saviour, Jeſus Chriſt, thus dying for us, and the innumerable benefits which by his precious blood-ſhedding he hath obtained to us; he hath inſtituted and ordained holy myſteries, as pledges of his love, and for a continual remembrance of his death, to our great and endleſs comfort. To him therefore, with the Father and the Holy Ghoſt, let us give (as we are moſt bounden) continual thanks; ſubmitting ourſelves wholly to his holy will and pleaſure, and ſtudying to ſerve him in true holineſs and righteouſneſs all the days of our life. *Amen.*

¶ *Then ſhall the Priest say to them that come to receive the holy Communion,*

YE that do truly and earneſtly repent you of your ſins, and are in love and charity with your neighbours, and intend to lead a new life, following the commandments of God, and walking from henceforth in his holy ways; Draw near with faith, and take this holy Sacrament to your comfort; and

make your humble confeſſion to Almighty God, meekly kneeling upon your knees.

¶ *Then ſhall this general Confeſſion be made, in the name of all thoſe that are minded to receive the holy Communion, by one of the Miniſters; both he and all the people kneeling humbly upon their knees, and ſaying,*

ALMIGHTY God, Father of our Lord Jeſus Chriſt, Maker of all things, Judge of all men; We acknowledge and bewail our manifold ſins and wickedneſs, Which we, from time to time, moſt grievouſly have committed, By thought, word, and deed, Againſt thy Divine Majeſty, Provoking moſt juſtly thy wrath and indignation againſt us. We do earneſtly repent, And are heartily ſorry for theſe our miſdoings; The remembrance of them is grievous unto us; The burden of them is intolerable. Have mercy upon us, Have mercy upon us, moſt merciful Father; For thy Son our Lord Jeſus Chriſt's ſake, Forgive us all that is paſt; And grant that we may ever hereafter Serve and pleaſe thee In newneſs of life, To the honour and glory of thy Name; Through Jeſus Chriſt our Lord. Amen.

¶ *Then ſhall the Prieſt (or the Biſhop, being preſent,) ſtand up, and turning himſelf to the people, pronounce this Abſolution.*

ALMIGHTY God, our heavenly Father, who of his great mercy hath promiſed forgiveneſs of ſins to all them that with hearty repentance and true faith turn unto him; Have mercy upon you; pardon and deliver you from all your ſins; confirm and

ſtrengthen you in all goodneſs; and bring you to everlaſting life; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

¶ *Then ſhall the Priest say,*

Hear what comfortable words our Saviour Chriſt ſaith unto all that truly turn to him.

COME unto me all that travail and are heavy laden, and I will refreſh you. *St. Matth.* xi. 28.

So God loved the world, that he gave his only-begotten Son, to the end that all that believe in him ſhould not periſh, but have everlaſting life. *St. John* iii. 16.

Hear alſo what Saint Paul ſaith.

This is a true ſaying, and worthy of all men to be received, That Chriſt Jeſus came into the world to ſave ſinners. 1 *Tim.* i. 15.

Hear alſo what Saint John ſaith.

If any man ſin, we have an Advocate with the Father, Jeſus Chriſt the righteous; and he is the propitiation for our ſins. 1 *St. John* ii. 1.

¶ *After which the Priest shall proceed, saying,*

Lift up your hearts.

Anſwer. We lift them up unto the Lord.

Prieſt. Let us give thanks unto our Lord God.

Anſwer. It is meet and right ſo to do.

¶ *Then shall the Priest turn to the Lord's Table, and say,*

IT is very meet, right, and our bounden duty, that we ſhould at all times, and in

all places, give thanks unto thee, O Lord, Holy Father, Almighty, Everlaſting God.

These words [Holy Father] *must be omitted on* Trinity-Sunday.

¶ *Here ſhall follow the Proper Preface, according to the time, if there be any ſpecially appointed: or elſe immediately ſhall follow,*

THEREFORE with Angels and Archangels, and with all the company of heaven, we laud and magnify thy glorious Name; evermore praiſing thee, and ſaying, Holy, holy, holy, Lord God of hoſts, heaven and earth are full of thy glory: Glory be to thee, O Lord moſt High. *Amen.*

Proper Prefaces.

Upon Chriſtmas-day, *and ſeven days after.*

BECAUSE thou didſt give Jeſus Chriſt thine only Son to be born as at this time for us; who, by the operation of the Holy Ghoſt, was made very man of the ſubſtance of the Virgin Mary his mother; and that without ſpot of ſin, to make us clean from all ſin. Therefore with Angels, *&c.*

Upon Eaſter-day, *and ſeven days after.*

BUT chiefly we are bound to praiſe thee for the glorious Reſurrection of thy Son Jeſus Chriſt our Lord: for he is the very Paſchal Lamb, which was offered for us, and hath taken away the ſin of the world; who by his death hath deſtroyed death, and by his riſing to life again hath reſtored to us everlaſting life. Therefore with Angels, *&c.*

Upon Aſcenſion-day, *and ſeven days after.*

THROUGH thy moſt dearly beloved Son Jeſus Chriſt our Lord; who after his moſt glorious Reſurrection manifeſtly appeared to all his Apoſtles, and in their ſight aſcended up into heaven to prepare a place for us; that where he is, thither we might alſo aſcend, and reign with him in glory. Therefore with Angels, *&c.*

Upon Whit-ſunday, *and ſix days after.*

THROUGH Jeſus Chriſt our Lord; according to whoſe moſt true promiſe, the Holy Ghoſt came down as at this time from heaven with a ſudden great ſound, as it had been a mighty wind, in the likeneſs of fiery tongues, lighting upon the Apoſtles, to teach them, and to lead them to all truth; giving them both the gift of divers languages, and alſo boldneſs with fervent zeal conſtantly to preach the Goſpel unto all nations; whereby we have been brought out of darkneſs and error into the clear light and true knowledge of thee, and of thy Son Jeſus Chriſt. Therefore with Angels, *&c.*

Upon the Feaſt of Trinity *only.*

WHO art one God, one Lord; not one only Perſon, but three Perſons in one Subſtance. For that which we believe of the glory of the Father, the ſame we believe of the Son, and of the Holy Ghoſt, without any

difference or inequality. Therefore with Angels, &c.

¶ *After each of which Prefaces shall immediately be sung or said,*

THEREFORE with Angels and Archangels, and with all the company of heaven, we laud and magnify thy glorious Name; evermore praiſing thee, and ſaying, Holy, holy, holy, Lord God of hoſts, heaven and earth are full of thy glory: Glory be to thee, O Lord moſt High. *Amen.*

¶ *Then ſhall the Priest, kneeling down at the Lord's Table, say in the name of all them that ſhall receive the Communion this Prayer following.*

WE do not preſume to come to this thy Table, O merciful Lord, truſting in our own righteouſneſs, but in thy manifold and great mercies. We are not worthy ſo much as to gather up the crumbs under thy Table. But thou art the ſame Lord, whoſe property is always to have mercy: Grant us therefore, gracious Lord, ſo to eat the fleſh of thy dear Son Jeſus Chriſt, and to drink his blood, that our ſinful bodies may be made clean by his body, and our ſouls waſhed through his moſt precious blood, and that we may evermore dwell in him, and he in us. *Amen.*

¶ *When the Priest, standing before the Table, hath ſo ordered the Bread and Wine, that he may with the more readiness and decency break the Bread before the people, and take the Cup into his hands, he ſhall say the Prayer of Conſecration, as followeth.*

ALMIGHTY God, our heavenly Father, who of thy tender mercy didſt give thine only Son Jeſus Chriſt to ſuffer death upon the

croſs for our redemption; who made there (by his one oblation of himſelf once offered) a full, perfect, and ſufficient ſacrifice, oblation, and ſatisfaction, for the ſins of the whole world; and did inſtitute, and in his holy Goſpel command us to continue, a perpetual memory of that his precious death, until his coming again; Hear us, O merciful Father, we moſt humbly beſeech thee; and grant that we receiving theſe thy creatures of bread and wine, according to thy Son our Saviour Jeſus Chriſt's holy inſtitution, in remembrance of his death and paſſion, may be partakers of his moſt bleſſed Body and Blood: who, in the ſame night that he was betrayed, *took Bread; and, when he had given thanks, † he brake it, and gave it to his diſciples, ſaying, Take, eat, ‡ this is my Body which is given for you: Do this in remembrance of me. Likewiſe after ſupper he *took the Cup; and, when he had given thanks, he gave it to them, ſaying, Drink ye all of this; for this † is my Blood of the New Teſtament, which is ſhed for you and for many for the remiſſion of ſins: Do this, as oft as ye ſhall drink it, in remembrance of me. *Amen.*

* *Here the Prieſt is to take the Paten into his hands:*

† *And here to break the Bread:*

‡ *And here to lay his hand upon all the Bread.*

* *Here he is to take the Cup into his hand:*

† *And here to lay his hand upon every veſſel (be it Chalice or Flagon) in which there is any Wine to be conſecrated.*

¶ *Then ſhall the Minister firſt receive the Communion in both kinds himſelf, and then proceed to deliver the ſame to the Biſhops, Prieſts, and Deacons, in like manner, (if any be preſent,) and after that to the people alſo in order, into their hands, all meekly kneeling. And, when he delivereth the Bread to any one, he ſhall ſay,*

THE Body of our Lord Jeſus Chriſt, which was given for thee, preſerve thy body and ſoul unto everlaſting life. Take and eat this in remembrance that Chriſt died for thee, and feed on him in thy heart by faith with thankſgiving.

¶ *And the Minister that delivereth the Cup to any one shall say,*

THE Blood of our Lord Jeſus Chriſt, which was ſhed for thee, preſerve thy body and ſoul unto everlaſting life. Drink this in remembrance that Chriſt's Blood was ſhed for thee, and be thankful.

¶ *If the consecrated Bread or Wine be all spent before all have communicated, the Priest is to consecrate more according to the Form before prescribed; beginning at* [Our Saviour Christ in the same night, *&c.*] *for the blessing of the Bread; and at* [Likewise after Supper, *&c.*] *for the blessing of the Cup.*

¶ *When all have communicated, the Minister shall return to the Lord's Table, and reverently place upon it what remaineth of the consecrated Elements, covering the same with a fair linen cloth.*

¶ *Then shall the Priest say the Lord's Prayer, the people repeating after him every Petition.*

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our treſpaſſes, As we forgive them that treſpaſs againſt us. And lead us not into temptation; But deliver us from evil: For thine is the kingdom, The power, and the glory, For ever and ever. Amen.

¶ *After shall be said as followeth.*

O Lord and heavenly Father, we thy humble ſervants entirely deſire thy fatherly goodneſs mercifully to accept this our ſacri-

fice of praiſe and thankſgiving; moſt humbly beſeeching thee to grant, that by the merits and death of thy Son Jeſus Chriſt, and through faith in his blood, we and all thy whole Church may obtain remiſſion of our ſins, and all other benefits of his paſſion. And here we offer and preſent unto thee, O Lord, ourſelves, our ſouls and bodies, to be a reaſonable, holy, and lively ſacrifice unto thee; humbly beſeeching thee, that all we, who are partakers of this holy Communion, may be fulfilled with thy grace and heavenly benediction. And although we be unworthy, through our manifold ſins, to offer unto thee any ſacrifice, yet we beſeech thee to accept this our bounden duty and ſervice; not weighing our merits, but pardoning our offences, through Jeſus Chriſt our Lord; by whom, and with whom, in the unity of the Holy Ghoſt, all honour and glory be unto thee, O Father Almighty, world without end. *Amen.*

Or this.

ALMIGHTY and everliving God, we moſt heartily thank thee, for that thou doſt vouchſafe to feed us, who have duly received theſe holy myſteries, with the ſpiritual food of the moſt precious Body and Blood of thy Son our Saviour Jeſus Chriſt; and doſt aſſure us thereby of thy favour and goodneſs towards us; and that we are very members incorporate in the myſtical body of thy Son,

which is the bleſſed company of all faithful people; and are alſo heirs through hope of thy everlaſting kingdom, by the merits of the moſt precious death and paſſion of thy dear Son. And we moſt humbly beſeech thee, O heavenly Father, ſo to aſſiſt us with thy grace, that we may continue in that holy fellowſhip, and do all ſuch good works as thou haſt prepared for us to walk in; through Jeſus Chriſt our Lord, to whom, with thee and the Holy Ghoſt, be all honour and glory, world without end. *Amen.*

¶ *Then ſhall be ſaid or ſung,*

GLORY be to God on high, and in earth peace, goodwill towards men. We praiſe thee, we bleſs thee, we worſhip thee, we glorify thee, we give thanks to thee for thy great glory, O Lord God, heavenly King, God the Father Almighty.

O Lord, the only-begotten Son Jeſu Chriſt; O Lord God, Lamb of God, Son of the Father, that takeſt away the ſins of the world, have mercy upon us. Thou that takeſt away the ſins of the world, have mercy upon us. Thou that takeſt away the ſins of the world, receive our prayer. Thou that ſitteſt at the right hand of God the Father, have mercy upon us.

For thou only art holy; thou only art the Lord; thou only, O Chriſt, with the Holy Ghoſt, art moſt high in the glory of God the Father. *Amen.*

¶ *Then the Priest (or Bishop if he be present) shall let them depart with this Blessing.*

THE peace of God, which paſſeth all underſtanding, keep your hearts and minds in the knowledge and love of God, and of his Son Jeſus Chriſt our Lord: and the bleſſing of God Almighty, the Father, the Son, and the Holy Ghoſt, be amongſt you and remain with you always. *Amen.*

¶ *Collects to be said after the Offertory, when there is no Communion, every such day one or more; and the same may be said also, as often as occasion shall serve, after the Collects either of Morning or Evening Prayer, Communion, or Litany, by the discretion of the Minister.*

ASSIST us mercifully, O Lord, in theſe our ſupplications and prayers, and diſpoſe the way of thy ſervants towards the attainment of everlaſting ſalvation; that, among all the changes and chances of this mortal life, they may ever be defended by thy moſt gracious and ready help; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

O Almighty Lord, and everlaſting God, vouchſafe, we beſeech thee, to direct, ſanctify, and govern, both our hearts and bodies, in the ways of thy laws, and in the works of thy commandments; that through thy moſt mighty protection, both here and ever, we may be preſerved in body and ſoul; through our Lord and Saviour Jeſus Chriſt. *Amen.*

GRANT, we beſeech thee, Almighty God, that the words, which we have heard this day with our outward ears, may through

thy grace be ſo grafted inwardly in our hearts, that they may bring forth in us the fruit of good living, to the honour and praiſe of thy Name; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

PREVENT us, O Lord, in all our doings with thy moſt gracious favour, and further us with thy continual help; that in all our works begun, continued, and ended in thee, we may glorify thy holy Name, and finally by thy mercy obtain everlaſting life; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

ALMIGHTY God, the fountain of all wiſdom, who knoweſt our neceſſities before we aſk, and our ignorance in aſking; We beſeech thee to have compaſſion upon our infirmities; and thoſe things, which for our unworthineſs we dare not, and for our blindneſs we cannot aſk, vouchſafe to give us, for the worthineſs of thy Son Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

ALMIGHTY God, who haſt promiſed to hear the petitions of them that aſk in thy Son's Name; We beſeech thee mercifully to incline thine ears to us that have made now our prayers and ſupplications unto thee; and grant, that thoſe things, which we have faithfully aſked according to thy will, may effectually be obtained, to the relief of our neceſſity, and to the ſetting forth of thy glory; through Jeſus Chriſt our Lord. *Amen.*

The Communion.

¶ *Upon the Sundays and other Holy-days (if there be no Communion) shall be said all that is appointed at the Communion, until the end of the general Prayer* [For the whole state of Christ's Church militant here in earth] *together with one or more of these Collects last before rehearsed, concluding with the Blessing.*

¶ *And there shall be no celebration of the Lord's Supper, except there be a convenient number to communicate with the Priest, according to his discretion.*

¶ *And if there be not above twenty persons in the Parish of discretion to receive the Communion; yet there shall be no Communion, except four (or three at the least) communicate with the Priest.*

¶ *And in Cathedral and Collegiate Churches, and Colleges, where there are many Priests and Deacons, they shall all receive the Communion with the Priest every Sunday at the least, except they have a reasonable cause to the contrary.*

¶ *And to take away all occasion of dissention, and superstition, which any person hath or might have concerning the Bread and Wine, it shall suffice that the Bread be such as is usual to be eaten; but the best and purest Wheat Bread that conveniently may be gotten.*

¶ *And if any of the Bread and Wine remain unconsecrated, the Curate shall have it to his own use: but if any remain of that which was consecrated, it shall not be carried out of the Church, but the Priest and such other of the Communicants as he shall then call unto him, shall, immediately after the Blessing, reverently eat and drink the same.*

¶ *The Bread and Wine for the Communion shall be provided by the Curate and the Church-wardens at the charges of the Parish.*

¶ *And note, that every Parishioner shall communicate at the least three times in the year, of which Easter to be one. And yearly at Easter every Parishioner shall reckon with the Parson, Vicar, or Curate, or his or their Deputy or Deputies; and pay to them or him all Ecclesiastical Duties, accustomably due, then and at that time to be paid.*

¶ *After the Divine Service ended, the money given at the Offertory shall be disposed of to such pious and charitable uses, as the Minister and Church-wardens shall think fit. Wherein if they disagree, it shall be disposed of as the Ordinary shall appoint.*

" WHEREAS it is ordained in this Office for the Administration of the " Lord's Supper, that the Communicants should receive the same kneeling; " (which order is well meant, for a signification of our humble and grateful " acknowledgement of the benefits of Christ therein given to all worthy " Receivers, and for the avoiding of such profanation and disorder in the " holy Communion, as might otherwise ensue;) yet, lest the same kneeling " should by any persons, either out of ignorance and infirmity, or out of ma- " lice and obstinacy, be misconstrued and depraved; It is hereby declared, " That thereby no Adoration is intended, or ought to be done, either unto the " Sacramental Bread or Wine there bodily received, or unto any Corporal " Presence of Christ's natural Flesh and Blood. For the Sacramental Bread " and Wine remain still in their very natural substances, and therefore may " not be adored; (for that were Idolatry, to be abhorred of all faithful " Christians;) and the natural Body and Blood of our Saviour Christ are in " Heaven, and not here; it being against the truth of Christ's natural Body " to be at one time in more places than one."

THE MINISTRATION OF

PUBLICK BAPTISM OF INFANTS,

TO BE USED IN THE CHURCH.

¶ *The people are to be admonished, that it is most convenient that Baptism should not be administered but upon Sundays, and other Holy-days, when the most number of people come together; as well for that the Congregation there present may testify the receiving of them that be newly baptized into the number of Christ's Church; as also because in the Baptism of Infants every Man present may be put in remembrance of his own profession made to God in his Baptism. For which cause also it is expedient that Baptism be ministered in the vulgar tongue. Nevertheless, (if necessity so require,) Children may be baptized upon any other day.*

¶ *And note, that there shall be for every Male-child to be baptized two Godfathers and one Godmother; and for every Female, one Godfather and two Godmothers.*

¶ *When there are Children to be baptized, the Parents shall give knowledge thereof over night, or in the morning before the beginning of Morning Prayer, to the Curate. And then the Godfathers and Godmothers, and the people with the Children, must be ready at the Font, either immediately after the last Lesson at Morning Prayer, or else immediately after the last Lesson at Evening Prayer, as the Curate by his discretion shall appoint. And the Priest coming to the Font, (which is then to be filled with pure Water,) and standing there, shall say,*

HATH this Child been already baptized, or no?

¶ *If they answer,* No: *Then shall the Priest proceed as followeth.*

DEARLY beloved, forasmuch as all men are conceived and born in sin; and that our Saviour Christ saith, None can enter into the kingdom of God, except he be regenerate and born anew of Water and of the holy Ghost; I beseech you to call upon God the Father, through our Lord Jesus Christ, that of his bounteous mercy he will grant to *this Child* that thing which by nature *he* cannot have; that *he* may be baptized with Water and the holy Ghost, and received into Christ's holy Church, and be made *a lively member* of the same.

¶ *Then shall the Priest say,*

Let us pray.

ALMIGHTY and everlasting God, who of thy great mercy didst save Noah and his family in the ark from perishing by water; and also didst safely lead the children of Israel thy people through the Red Sea, figuring thereby thy holy Baptism; and by the Baptism of thy well-beloved Son Jesus Christ, in the river Jordan, didst sanctify Water to the mystical washing away of sin; We beseech thee, for thine infinite mercies, that thou wilt mercifully look upon *this Child;* wash *him* and sanctify *him* with the holy Ghost; that *he,* being delivered from thy wrath, may be received into the ark of Christ's Church; and being stedfast in faith, joyful through hope, and rooted in charity, may so pass the waves of this troublesome world, that finally *he* may come to the land of everlasting life, there to reign with thee world without end;

through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

ALMIGHTY and immortal God, the aid of all that need, the helper of all that flee to thee for succour, the life of them that believe, and the resurrection of the dead; We call upon thee for *this Infant*, that *he*, coming to thy holy Baptism, may receive remission of *his* sins by spiritual regeneration. Receive *him*, O Lord, as thou hast promised by thy well-beloved Son, saying, Ask, and ye shall have; seek, and ye shall find; knock, and it shall be opened unto you: So give now unto us that ask; let us that seek find; open the gate unto us that knock; that *this Infant* may enjoy the everlasting benediction of thy heavenly washing, and may come to the eternal kingdom which thou hast promised by Christ our Lord. *Amen.*

¶ *Then shall the people stand up, and the Priest shall say,*

Hear the words of the Gospel, written by Saint *Mark*, in the tenth Chapter, at the thirteenth Verse.

THEY brought young children to Christ, that he should touch them; and his disciples rebuked those that brought them. But when Jesus saw it, he was much displeased, and said unto them, Suffer the little children to come unto me, and forbid them not; for of such is the kingdom of God. Verily I say unto you, Whosoever shall not receive the kingdom of God as a little child, he shall not enter therein. And he took them up in his arms, put his hands upon them, and blessed them.

¶ *After the Gospel is read, the Minister shall make this brief Exhortation upon the words of the Gospel.*

BELOVED, ye hear in this Gospel the words of our Saviour Christ, that he commanded the children to be brought unto him; how he blamed those that would have kept them from him; how he exhorteth all men to follow their innocency. Ye perceive how by his outward gesture and deed he declared his good will toward them; for he embraced them in his arms, he laid his hands upon them, and blessed them. Doubt ye not therefore, but earnestly believe, that he will likewise favourably receive *this* present *Infant;* that he will embrace *him* with the arms of his mercy; that he will give unto *him* the blessing of eternal life, and make *him partaker* of his everlasting kingdom. Wherefore we being thus persuaded of the good will of our heavenly Father towards *this Infant*, declared by his Son Jesus Christ; and nothing doubt-

ing but that he favourably alloweth this charitable work of our's in bringing *this Infant* to his holy Baptism; let us faithfully and devoutly give thanks unto him, and say,

ALMIGHTY and everlasting God, heavenly Father, we give thee humble thanks, for that thou hast vouchsafed to call us to the knowledge of thy grace, and faith in thee: Increase this knowledge, and confirm this faith in us evermore. Give thy holy Spirit to *this Infant*, that *he* may be born again, and be made *an heir* of everlasting salvation; through our Lord Jesus Christ, who liveth and reigneth with thee and the Holy Spirit, now and for ever. *Amen.*

¶ *Then shall the Priest speak unto the Godfathers and Godmothers on this wise.*

DEARLY beloved, ye have brought *this Child* here to be baptized, ye have prayed that our Lord Jesus Christ would vouchsafe to receive *him*, to release *him* of *his* sins, to sanctify *him* with the holy Ghost, to give *him* the kingdom of heaven, and everlasting life. Ye have heard also that our Lord Jesus Christ hath promised in his Gospel to grant all these things that ye have prayed for: which promise he, for his part, will most surely keep and perform. Wherefore, after this promise made by Christ, *this Infant* must also faithfully, for *his* part, promise by you that are *his* sureties, (until *he* come of age to take it upon *himself*,) that *he* will renounce the devil and all his works, and constantly believe God's holy Word, and obediently keep his commandments.

I demand therefore,

DOST thou, in the Name of this Child, renounce the devil and all his works, the vain pomp and glory of the world, with all covetous desires of the same, and the carnal desires of the flesh, so that thou wilt not follow, nor be led by them?

Answer. I renounce them all.

Minister.

DOST thou believe in God the Father Almighty, Maker of heaven and earth?

And in Jesus Christ his only-begotten Son our Lord? And that he was conceived by the Holy Ghost; born of the Virgin Mary; that he suffered under Pontius Pilate, was crucified, dead, and buried; that he went down into hell, and also did rise again the third day; that he ascended into heaven, and sitteth at the right hand of God the Father Almighty; and from thence shall come again at the end of the world, to

judge the quick and the dead?

And dost thou believe in the Holy Ghost; the holy Catholick Church; the Communion of Saints; the Remission of sins; the Resurrection of the flesh; and everlasting life after death?

Answer. All this I stedfastly believe.

Minister.

WILT thou be baptized in this faith?

Answer. That is my desire.

Minister.

WILT thou then obediently keep God's holy will and commandments, and walk in the same all the days of thy life?

Answer. I will.

¶ *Then shall the Priest say,*

O Merciful God, grant that the old Adam in *this Child* may be so buried, that the new man may be raised up in *him. Amen.*

Grant that all carnal affections may die in *him*, and that all things belonging to the Spirit may live and grow in *him. Amen.*

Grant that *he* may have power and strength to have victory, and to triumph, against the devil, the world, and the flesh. *Amen.*

Grant that whosoever is here dedicated to thee by our office and ministry may also be endued with heavenly virtues, and everlastingly rewarded, through thy mercy, O blessed Lord God, who dost live, and govern all things, world without end. *Amen.*

ALMIGHTY, everliving God, whose most dearly beloved Son Jesus Christ, for the forgiveness of our sins, did shed out of his most precious side both water and blood; and gave commandment to his disciples, that they should go teach all nations, and baptize them In the Name of the Father, the Son, and the Holy Ghost; Regard, we beseech thee, the supplications of thy congregation; sanctify this Water to the mystical washing away of sin; and grant that *this Child*, now to be baptized therein, may receive the fulness of thy grace, and ever remain in the number of thy faithful and elect children; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *Then the Priest shall take the Child into his hands, and shall say to the Godfathers and Godmothers,*

Name this Child.

¶ *And then naming it after them (if they shall certify him that the Child may well endure it) he shall dip it in the Water discreetly and warily, saying,*

N. I baptize thee In the Name of the Father, and of the Son, and of the Holy Ghost. Amen.

¶ *But if they certify that the Child is weak, it shall suffice to pour Water upon it, saying the foresaid words,*

N. I baptize thee In the Name of the Father, and of the Son, and of the Holy Ghost. Amen.

¶ *Then the Priest shall say,*

WE receive this Child into the congregation of Christ's flock, * and do sign *him* with the sign of the Cross, in token that hereafter *he* shall not be ashamed to confess the faith of Christ crucified, and manfully to fight under his banner, against sin, the world, and the devil; and to continue Christ's faithful soldier and servant unto *his* life's end. Amen.

* *Here the Priest shall make a Cross upon the Child's forehead.*

¶ *Then shall the Priest say,*

SEEING now, dearly beloved brethren, that *this Child is* regenerate, and grafted into the body of Christ's Church, let us give thanks unto Almighty God for these benefits; and with one accord make our prayers unto him, that *this Child* may lead the rest of *his* life according to this beginning.

¶ *Then shall be said, all kneeling;*

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our trespasses, As we forgive them that trespass against us. And lead us not into temptation; But deliver us from evil. Amen.

¶ *Then shall the Priest say,*

WE yield thee hearty thanks, most merciful Father, that it hath pleased thee to regenerate *this Infant* with thy holy Spirit, to receive *him* for thine own *Child* by adoption, and to incorporate *him* into thy holy Church. And humbly we beseech thee to grant, that *he*, being dead unto sin, and living unto righteousness, and being buried with Christ in his death, may crucify the old man, and utterly abolish the whole body of sin; and that, as *he is* made *partaker* of the death of thy Son, *he* may also be *partaker* of his resurrection; so that finally, with the residue of thy holy Church, *he* may be *an inheritor* of thine everlasting kingdom; through Christ our Lord. *Amen.*

¶ *Then, all standing up, the Priest shall say to the Godfathers and Godmothers this Exhortation following.*

FORASMUCH as *this Child hath* promised by you *his* sureties to renounce the devil and all his works, to believe in God, and to serve him; ye must remember, that it is your parts and duties to see that *this Infant* be taught, so soon as *he* shall be able to learn, what a solemn vow, promise, and profession, *he hath* here made by you. And that *he* may know

these things the better, ye shall call upon *him* to hear Sermons; and chiefly ye shall provide, that *he* may learn the Creed, the Lord's Prayer, and the Ten Commandments, in the vulgar tongue, and all other things which a Christian ought to know and believe to his soul's health; and that *this Child* may be virtuously brought up to lead a godly and a Christian life; remembering always, that Baptism doth represent unto us our profession; which is, to follow the example of our Saviour Christ, and to be made like unto him; that, as he died, and rose again for us, so should we, who are baptized, die from sin, and rise again unto righteousness; continually mortifying all our evil and corrupt affections, and daily proceeding in all virtue and godliness of living.

¶ *Then shall he add and say,*

YE are to take care that *this Child* be brought to the Bishop to be confirmed by him, so soon as *he* can say the Creed, the Lord's Prayer, and the Ten Commandments, in the vulgar tongue, and be further instructed in the Church-Catechism set forth for that purpose.

IT is certain by God's Word, that Children which are baptized, dying before they commit actual sin, are undoubtedly saved.

To take away all scruple concerning the use of the sign of the Cross in Baptism; the true explication thereof, and the just reasons for the retaining of it, may be seen in the xxxth Canon, first published in the Year MDCIV.

THE MINISTRATION OF
PRIVATE BAPTISM OF CHILDREN
IN HOUSES.

¶ *The Curates of every Parish shall often admonish the people, that they defer not the Baptism of their Children longer than the first or second Sunday next after their birth, or other Holyday falling between, unless upon a great and reasonable cause, to be approved by the Curate.*

¶ *And also they shall warn them, that without like great cause and necessity they procure not their Children to be baptized at home in their houses. But when need shall compel them so to do, then Baptism shall be administered on this fashion:*

¶ *First, let the Minister of the Parish (or, in his absence, any other lawful Minister that can be procured) with them that are present call upon God, and say the Lord's Prayer, and so many of the Collects appointed to be said before in the Form of Publick Baptism, as the time and present exigence will suffer. And then, the Child being named by some one that is present, the Minister shall pour Water upon it, saying these words;*

NI baptize thee In the Name of the Father, and of the Son, and of the Holy Ghost. Amen.

¶ *Then, all kneeling down, the Minister shall give thanks unto God, and say,*

WE yield thee hearty thanks, most merciful Father, that it hath pleased thee to regenerate *this Infant* with thy holy Spirit, to receive *him* for thine own

Child by adoption, and to incorporate *him* into thy holy Church. And we humbly beseech thee to grant, that as *he is* now made *partaker* of the death of thy Son, so *he* may be also of his resurrection; and that finally, with the residue of thy Saints, *he* may inherit thine everlasting kingdom; through the same thy Son Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *And let them not doubt, but that the Child so baptized is lawfully and sufficiently baptized, and ought not to be baptized again. Yet nevertheless, if the Child, which is after this sort baptized, do afterward live, it is expedient that it be brought into the Church, to the intent that, if the Minister of the same Parish did himself baptize that Child, the Congregation may be certified of the true Form of Baptism, by him privately before used: In which case he shall say thus,*

I Certify you, that according to the due and prescribed Order of the Church, *at such a time*, and *at such a place*, before divers witnesses I baptized this Child.

¶ *But if the Child were baptized by any other lawful Minister; then the Minister of the Parish, where the Child was born or christened, shall examine and try whether the Child be lawfully baptized, or no. In which case, if those that bring any Child to the Church do answer, that the same Child is already baptized, then shall the Minister examine them further, saying,*

BY whom was this Child baptized?

Who was present when this Child was baptized?

Because some things essential to this Sacrament may happen to be omitted through fear or haste, in such times of extremity; therefore I demand further of you,

With what matter was this Child baptized?

With what words was this Child baptized?

¶ *And if the Minister shall find by the answers of such as bring the Child, that all things were done as they ought to be; then shall not he christen the Child again, but shall receive him as one of the flock of true Christian people, saying thus,*

I Certify you, that in this case all is well done, and according unto due order, concerning the baptizing of this Child; who being born in original sin, and in the wrath of God, is now, by the laver of Regeneration in Baptism, received into the number of the children of God, and heirs of everlasting life: for our Lord Jesus Christ doth not deny his grace and mercy unto such Infants, but most lovingly doth call them unto him, as the holy Gospel doth witness to our comfort on this wise.

St. *Mark* x. 13.

THEY brought young children to Christ, that he should touch them; and his disciples rebuked those that brought them. But when Jesus saw it, he was much displeased, and said unto them, Suffer the little children to come unto me, and forbid them not; for of such is the kingdom of God. Verily I say unto you, Whosoever shall not receive the kingdom of God as a little child, he shall not enter

therein. And he took them up in his arms, put his hands upon them, and blessed them.

¶ *After the Gospel is read, the Minister shall make this brief Exhortation upon the words of the Gospel.*

BELOVED, ye hear in this Gospel the words of our Saviour Christ, that he commanded the children to be brought unto him; how he blamed those that would have kept them from him; how he exhorted all men to follow their innocency. Ye perceive how by his outward gesture and deed he declared his good will toward them; for he embraced them in his arms, he laid his hands upon them, and blessed them. Doubt ye not therefore, but earnestly believe, that he hath likewise favourably received *this* present *Infant;* that he hath embraced *him* with the arms of his mercy; and (as he hath promised in his holy Word) will give unto *him* the blessing of eternal life, and make *him partaker* of his everlasting kingdom. Wherefore, we being thus persuaded of the good will of our heavenly Father, declared by his Son Jesus Christ, towards *this Infant*, let us faithfully and devoutly give thanks unto him, and say the Prayer which the Lord himself taught us:

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our trespasses, As we forgive them that trespass against us. And lead us not into temptation; But deliver us from evil. Amen.

ALMIGHTY and everlasting God, heavenly Father, we give thee humble thanks, that thou hast vouchsafed to call us to the knowledge of thy grace, and faith in thee; Increase this knowledge, and confirm this faith in us evermore. Give thy holy Spirit to *this Infant*, that *he*, being born again, and being made *an heir* of everlasting salvation, through our Lord Jesus Christ, may continue thy *servant*, and attain thy promise; through the same our Lord Jesus Christ thy Son, who liveth and reigneth with thee and the Holy Spirit, now and for ever. *Amen.*

¶ *Then shall the Priest demand the Name of the Child; which being by the Godfathers and Godmothers pronounced, the Minister shall say,*

DOST thou, in the Name of this Child, renounce the devil and all his works, the vain pomp and glory of this world, with all covetous desires of the same, and the carnal desires of the flesh, so that thou wilt not follow, nor be led by them?

Answer. I renounce them all.

Minister.

DOST thou believe in God the Father Almighty, Maker of heaven and earth?

And in Jesus Christ his only-begotten Son our Lord? And that he was conceived by the Holy Ghost; born of the Virgin Mary; that he suffered under Pontius Pilate, was crucified, dead, and buried; that he went down into hell, and also did rise again the third day; that he ascended into heaven, and sitteth at the right hand of God the Father Almighty; and from thence shall come again at the end of the world, to judge the quick and the dead?

And dost thou believe in the Holy Ghost; the holy Catholick Church; the Communion of Saints; the Remission of sins; the Resurrection of the flesh; and everlasting life after death?

Answer. All this I stedfastly believe.

Minister.

WILT thou then obediently keep God's holy will and commandments, and walk in the same all the days of thy life?

Answer. I will.

¶ *Then the Priest shall say,*

WE receive this Child into the congregation of Christ's flock,* and do sign *him* with the sign of the Cross, in token that hereafter *he* shall not be ashamed to confess the faith of Christ crucified, and manfully to fight under his banner, against sin, the world, and the devil; and to continue Christ's faithful soldier and servant unto *his* life's end. Amen.

* *Here the Priest shall make a Cross upon the Child's forehead.*

¶ *Then shall the Priest say,*

SEEING now, dearly beloved brethren, that *this Child is* by Baptism regenerate, and grafted into the body of Christ's Church, let us give thanks unto Almighty God for these benefits; and with one accord make our prayers unto him, that *he* may lead the rest of *his* life according to this beginning.

¶ *Then shall the Priest say,*

WE yield thee most hearty thanks, most merciful Father, that it hath pleased thee to regenerate *this Infant* with thy holy Spirit, to receive *him* for thine own *Child* by adoption, and to incorporate *him* into thy holy Church. And humbly we beseech thee to grant, that *he*, being dead unto sin, and living unto righteousness, and being buried with Christ in his death, may crucify the old man, and utterly abolish the whole body of sin; and that, as *he is* made *partaker* of the death of thy Son, *he* may also be *partaker* of his resurrection;

so that finally, with the residue of thy holy Church, *he* may be *an inheritor* of thine everlasting kingdom; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *Then, all standing up, the Minister shall make this Exhortation to the Godfathers and Godmothers.*

FORASMUCH as *this Child hath* promised by you *his* sureties to renounce the devil and all his works, to believe in God, and to serve him; ye must remember, that it is your parts and duties to see that *this Infant* be taught, so soon as *he* shall be able to learn, what a solemn vow, promise, and profession *he hath* made by you. And that *he* may know these things the better, ye shall call upon *him* to hear Sermons; and chiefly ye shall provide, that *he* may learn the Creed, the Lord's Prayer, and the Ten Commandments, in the vulgar tongue, and all other things which a Christian ought to know and believe to his soul's health; and that *this Child* may be virtuously brought up to lead a godly and a Christian life; remembering alway, that Baptism doth represent unto us our profession; which is, to follow the example of our Saviour Christ, and to be made like unto him; that, as he died, and rose again for us, so should we, who are baptized, die from sin, and rise again unto righteousness; continually mortifying all our evil and corrupt affections, and daily proceeding in all virtue and godliness of living.

¶ *But if they which bring the Infant to the Church do make such uncertain answers to the Priest's questions, as that it cannot appear that the Child was baptized with Water,* In the Name of the Father, and of the Son, and of the Holy Ghost, *(which are essential parts of Baptism,) then let the Priest baptize it in the form before appointed for Publick Baptism of Infants; saving that at the dipping of the Child in the Font, he shall use this form of words.*

IF thou art not already baptized, *N.* I baptize thee In the Name of the Father, and of the Son, and of the Holy Ghost. *Amen.*

THE MINISTRATION OF
BAPTISM TO SUCH AS ARE OF RIPER YEARS,
AND ABLE TO ANSWER FOR THEMSELVES.

¶ *When any such persons, as are of riper years, are to be baptized, timely notice shall be given to the Bishop, or whom he shall appoint for that purpose, a week before at the least, by the Parents, or some other discreet persons; that so due care may be taken for their Examination, whether they be sufficiently instructed in the Principles of the Christian Religion; and that they may be exhorted to prepare themselves with Prayers and Fasting for the receiving of this holy Sacrament.*

¶ *And if they shall be found fit, then the Godfathers and Godmothers (the people being assembled upon the Sunday or Holy-day appointed) shall be ready to present them at the Font*

Immediately after the second Lesson, either at Morning or Evening Prayer, as the Curate in his discretion shall think fit.

¶ *And standing there, the Priest shall ask, whether any of the persons here presented be baptized, or no: If they shall answer,* No; *then shall the Priest say thus,*

DEARLY beloved, forasmuch as all men are conceived and born in sin, (and that which is born of the flesh is flesh,) and they that are in the flesh cannot please God, but live in sin, committing many actual transgressions; and that our Saviour Christ saith, None can enter into the kingdom of God, except he be regenerate and born anew of Water and of the holy Ghost; I beseech you to call upon God the Father, through our Lord Jesus Christ, that of his bounteous goodness he will grant to *these persons* that which by nature *they* cannot have; that *they* may be baptized with Water and the holy Ghost, and received into Christ's holy Church, and be made lively *members* of the same.

¶ *Then shall the Priest say,*

Let us pray.

(¶ And here all the Congregation shall kneel.)

ALMIGHTY and everlasting God, who of thy great mercy didst save Noah and his family in the ark from perishing by water; and also didst safely lead the children of Israel thy people through the Red Sea, figuring thereby thy holy Baptism; and by the Baptism of thy well-beloved Son Jesus Christ, in the river Jordan, didst sanctify the element of Water to the mystical washing away of sin; We beseech thee, for thine infinite mercies, that thou wilt mercifully look upon *these* thy *servants;* wash *them* and sanctify *them* with the holy Ghost, that *they*, being delivered from thy wrath, may be received into the ark of Christ's Church; and being stedfast in faith, joyful through hope, and rooted in charity, may so pass the waves of this troublesome world, that finally *they* may come to the land of everlasting life, there to reign with thee world without end; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

ALMIGHTY and immortal God, the aid of all that need, the helper of all that flee to thee for succour, the life of them that believe, and the resurrection of the dead; We call upon thee for *these persons*, that *they*, coming to thy holy Baptism, may receive remission of *their* sins by spiritual regeneration. Receive *them*, O Lord, as thou hast promised by thy well-beloved Son, saying, Ask, and ye shall receive; seek, and ye shall find; knock, and it

shall be opened unto you: So give now unto us that ask; let us that seek find; open the gate unto us that knock; that *these persons* may enjoy the everlasting benediction of thy heavenly washing, and may come to the eternal kingdom which thou hast promised by Christ our Lord. *Amen.*

¶ *Then shall the people stand up, and the Priest shall say,*

Hear the words of the Gospel, written by Saint *John*, in the third Chapter, beginning at the first Verse.

THERE was a man of the Pharisees, named Nicodemus, a ruler of the Jews. The same came to Jesus by night, and said unto him, Rabbi, we know that thou art a teacher come from God; for no man can do these miracles that thou doest, except God be with him. Jesus answered and said unto him, Verily, verily I say unto thee, Except a man be born again, he cannot see the kingdom of God. Nicodemus saith unto him, How can a man be born when he is old? Can he enter the second time into his mother's womb, and be born? Jesus answered, Verily, verily I say unto thee, Except a man be born of water and of the Spirit, he cannot enter into the kingdom of God. That which is born of the flesh is flesh; and that which is born of the Spirit is spirit. Marvel not that I said unto thee, Ye must be born again. The wind bloweth where it listeth, and thou hearest the sound thereof; but canst not tell whence it cometh, and whither it goeth: so is every one that is born of the Spirit.

¶ *After which he shall say this Exhortation following.*

BELOVED, ye hear in this Gospel the express words of our Saviour Christ, that except a man be born of water and of the Spirit, he cannot enter into the kingdom of God. Whereby ye may perceive the great necessity of this Sacrament, where it may be had. Likewise, immediately before his ascension into heaven, (as we read in the last Chapter of Saint Mark's Gospel,) he gave command to his disciples, saying, Go ye into all the world, and preach the Gospel to every creature. He that believeth and is baptized shall be saved; but he that believeth not shall be damned. Which also sheweth unto us the great benefit we reap thereby. For which cause Saint Peter the Apostle, when upon his first preaching of the Gospel many were pricked at the heart, and said to him and the rest of the Apostles, Men and brethren, what shall we do?

replied and said unto them, Repent, and be baptized every one of you for the remission of sins, and ye shall receive the gift of the Holy Ghost. For the promise is to you and your children, and to all that are afar off, even as many as the Lord our God shall call. And with many other words exhorted he them, saying, Save yourselves from this untoward generation. For (as the same Apostle testifieth in another place) even Baptism doth also now save us, (not the putting away of the filth of the flesh, but the answer of a good conscience towards God,) by the resurrection of Jesus Christ. Doubt ye not therefore, but earnestly believe, that he will favourably receive *these* present *persons*, truly repenting, and coming unto him by faith; that he will grant *them* remission of *their* sins, and bestow upon *them* the holy Ghost; that he will give *them* the blessing of eternal life, and make *them partakers* of his everlasting kingdom.

Wherefore we being thus persuaded of the good will of our heavenly Father towards *these persons*, declared by his Son Jesus Christ; let us faithfully and devoutly give thanks to him, and say,

ALMIGHTY and everlasting God, heavenly Father, we give thee humble thanks, for that thou hast vouchsafed to call us to the knowledge of thy grace, and faith in thee: Increase this knowledge, and confirm this faith in us evermore. Give thy holy Spirit to *these persons*, that *they* may be born again, and be made *heirs* of everlasting salvation; through our Lord Jesus Christ, who liveth and reigneth with thee and the Holy Spirit, now and for ever. *Amen.*

¶ *Then the Priest shall speak to the* persons *to be baptized on this wise:*

WELL-BELOVED, who are come hither desiring to receive holy Baptism, *ye* have heard how the congregation hath prayed, that our Lord Jesus Christ would vouchsafe to receive you and bless you, to release you of your sins, to give you the kingdom of heaven, and everlasting life. *Ye* have heard also, that our Lord Jesus Christ hath promised in his holy Word to grant all those things that we have prayed for; which promise he, for his part, will most surely keep and perform.

Wherefore, after this promise made by Christ, *ye* must also faithfully, for your part, promise in the presence of these your Witnesses, and this whole congregation, that *ye* will renounce the devil and

all his works, and constantly believe God's holy Word, and obediently keep his commandments.

¶ *Then shall the Priest demand of each of the persons to be baptized, severally, these Questions following:*

Question.

DOST thou renounce the devil and all his works, the vain pomp and glory of the world, with all covetous desires of the same, and the carnal desires of the flesh, so that thou wilt not follow, nor be led by them?

Answer. I renounce them all.

Question.

DOST thou believe in God the Father Almighty, Maker of heaven and earth?

And in Jesus Christ his only-begotten Son our Lord? And that he was conceived by the Holy Ghost; born of the Virgin Mary; that he suffered under Pontius Pilate, was crucified, dead, and buried; that he went down into hell, and also did rise again the third day; that he ascended into heaven, and sitteth at the right hand of God the Father Almighty; and from thence shall come again at the end of the world, to judge the quick and the dead?

And dost thou believe in the Holy Ghost; the holy Catholick Church; the Communion of Saints; the Remission of sins; the Resurrection of the flesh; and everlasting life after death?

Answer. All this I stedfastly believe.

Question.

WILT thou be baptized in this faith?

Answer. That is my desire.

Question.

WILT thou then obediently keep God's holy will and commandments, and walk in the same all the days of thy life?

Answer. I will endeavour so to do, God being my helper.

¶ *Then shall the Priest say,*

O Merciful God, grant that the old Adam in *these persons* may be so buried, that the new man may be raised up in *them. Amen.*

Grant that all carnal affections may die in *them*, and that all things belonging to the Spirit may live and grow in *them. Amen.*

Grant that *they* may have power and strength to have victory, and to triumph, against the devil, the world, and the flesh. *Amen.*

Grant that *they*, being here dedicated to thee by our office and ministry, may also be endued with heavenly virtues, and everlastingly rewarded, through thy mercy, O blessed Lord God, who dost live, and govern all

things, world without end. *Amen.*

ALMIGHTY, everliving God, whose most dearly beloved Son Jesus Christ, for the forgiveness of our sins, did shed out of his most precious side both water and blood, and gave commandment to his disciples, that they should go teach all nations, and baptize them In the Name of the Father, the Son, and the Holy Ghost; Regard, we beseech thee, the supplications of this congregation; sanctify this Water to the mystical washing away of sin; and grant that the *persons* now to be baptized therein may receive the fulness of thy grace, and ever remain in the number of thy faithful and elect children, through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *Then shall the Priest take each person to be baptized by the right hand, and placing him conveniently by the Font, according to his discretion, shall ask the Godfathers and Godmothers the Name; and then shall dip him in the water, or pour water upon him, saying,*

NI baptize thee In the Name of the Father, and of the Son, and of the Holy Ghost. Amen.

¶ *Then shall the Priest say,*

WE receive this person into the congregation of Christ's flock; * and do sign *him* with the sign of the Cross, in token that hereafter *he* shall not be ashamed to confess the faith of Christ crucified, and manfully to fight under his banner, against sin, the world, and the devil; and to continue Christ's faithful soldier and servant unto *his* life's end. Amen.

* *Here the Priest shall make a Cross upon the person's forehead.*

¶ *Then shall the Priest say,*

SEEING now, dearly beloved brethren, that *these persons are* regenerate, and grafted into the body of Christ's Church, let us give thanks unto Almighty God for these benefits, and with one accord make our prayers unto him, that *they* may lead the rest of *their* life according to this beginning.

¶ *Then shall be said the Lord's Prayer, all kneeling.*

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our trespasses, As we forgive them that trespass against us. And lead us not into temptation; But deliver us from evil. Amen.

WE yield thee humble thanks, O heavenly Father, that thou hast vouchsafed to call us to the knowledge of thy grace, and faith in thee; Increase this knowledge, and confirm this faith in us evermore. Give thy holy Spirit to *these persons;*

that, being now born again, and made *heirs* of everlasting salvation, through our Lord Jesus Christ, *they* may continue thy *servants*, and attain thy promises; through the same Lord Jesus Christ thy Son, who liveth and reigneth with thee, in the unity of the same Holy Spirit, everlastingly. *Amen.*

¶ *Then, all standing up, the Priest shall use this Exhortation following; speaking to the Godfathers and Godmothers first.*

FORASMUCH as *these persons have* promised in your presence to renounce the devil and all his works, to believe in God, and to serve him; ye must remember, that it is your part and duty to put *them* in mind, what a solemn vow, promise, and profession *they have* now made before this congregation, and especially before you *their* chosen witnesses. And ye are also to call upon *them* to use all diligence to be rightly instructed in God's holy Word; that so *they* may grow in grace, and in the knowledge of our Lord Jesus Christ, and live godly, righteously, and soberly in this present world.

(¶ And then, speaking to the new baptized persons, *he shall proceed, and say,)*

AND as for you, who have now by Baptism put on Christ, it is your part and duty also, being made the *children* of God and of the light, by faith in Jesus Christ, to walk answerably to your Christian calling, and as becometh the children of light; remembering always that Baptism representeth unto us our profession; which is, to follow the example of our Saviour Christ, and to be made like unto him; that as he died, and rose again for us; so should we, who are baptized, die from sin, and rise again unto righteousness; continually mortifying all our evil and corrupt affections, and daily proceeding in all virtue and godliness of living.

¶ *It is expedient that every person, thus baptized, should be confirmed by the Bishop so soon after his Baptism as conveniently may be; that so he may be admitted to the holy Communion.*

¶ *If any persons not baptized in their infancy shall be brought to be baptized before they come to years of discretion to answer for themselves; it may suffice to use the Office for Publick Baptism of Infants, or (in case of extreme danger) the Office for Private Baptism; only changing the word* [Infant] *for* [Child *or* Person] *as occasion requireth.*

A CATECHISM,

THAT IS TO SAY,

AN INSTRUCTION TO BE LEARNED OF EVERY PERSON, BEFORE HE BE BROUGHT TO BE CONFIRMED BY THE BISHOP.

Question.

WHAT is your Name?

Answer. N. or M.

Question. Who gave you this Name?

Answer. My Godfathers and Godmothers in my Baptism; wherein I was made a member of Christ, the child of God, and an inheritor of the kingdom of heaven.

Question. What did your Godfathers and Godmothers then for you?

Answer. They did promise and vow three things in my name. First, that I should renounce the devil and all his works, the pomps and vanity of this wicked world, and all the sinful lusts of the flesh. Secondly, that I should believe all the Articles of the Christian Faith. And thirdly, that I should keep God's holy will and commandments, and walk in the same all the days of my life.

Question. Dost thou not think that thou art bound to believe, and to do, as they have promised for thee?

Answer. Yes verily; and by God's help so I will. And I heartily thank our heavenly Father, that he hath called me to this state of salvation, through Jesus Christ our Saviour. And I pray unto God to give me his grace, that I may continue in the same unto my life's end.

Catechist. Rehearse the Articles of thy Belief.

Answer.

I Believe in God the Father Almighty, Maker of heaven and earth:

And in Jesus Christ his only Son our Lord, Who was conceived by the Holy Ghost, Born of the Virgin Mary, Suffered under Pontius Pilate, Was crucified, dead, and buried, He descended into hell; The third day he rose again from the dead, He ascended into heaven, And sitteth at the right hand of God the Father Almighty; From thence he shall come to judge the quick and the dead.

I believe in the Holy Ghost; The holy Catholick Church; The Communion of Saints; The Forgiveness of sins; The Resurrection of the body; And the Life everlasting. Amen.

Question. What dost thou chiefly learn in these Articles of thy Belief?

Answer. First, I learn to believe in God the Father, who hath made me, and all the world.

Secondly, in God the Son,

who hath redeemed me, and all mankind.

Thirdly, in God the Holy Ghost, who sanctifieth me, and all the elect people of God.

Question. You said, that your Godfathers and Godmothers did promise for you, that you should keep God's Commandments. Tell me how many there be?

Answer. Ten.

Question. Which be they?

Answer.

THE same which God spake in the twentieth Chapter of Exodus, saying, I am the Lord thy God, who brought thee out of the land of Egypt, out of the house of bondage.

I. Thou shalt have none other gods but me.

II. Thou shalt not make to thyself any graven image, nor the likeness of any thing that is in heaven above, or in the earth beneath, or in the water under the earth. Thou shalt not bow down to them, nor worship them: for I the Lord thy God am a jealous God, and visit the sins of the fathers upon the children, unto the third and fourth generation of them that hate me, and shew mercy unto thousands in them that love me, and keep my commandments.

III. Thou shalt not take the Name of the Lord thy God in vain: for the Lord will not hold him guiltless that taketh his Name in vain.

IV. Remember that thou keep holy the Sabbath-day. Six days shalt thou labour, and do all that thou hast to do; but the seventh day is the Sabbath of the Lord thy God. In it thou shalt do no manner of work, thou, and thy son, and thy daughter, thy man-servant, and thy maid-servant, thy cattle, and the stranger that is within thy gates. For in six days the Lord made heaven and earth, the sea, and all that in them is, and rested the seventh day; wherefore the Lord blessed the seventh day, and hallowed it.

V. Honour thy father and thy mother, that thy days may be long in the land which the Lord thy God giveth thee.

VI. Thou shalt do no murder.

VII. Thou shalt not commit adultery.

VIII. Thou shalt not steal.

IX. Thou shalt not bear false witness against thy neighbour.

X. Thou shalt not covet thy neighbour's house, thou shalt not covet thy neighbour's wife, nor his servant, nor his maid, nor his ox,

nor his ass, nor any thing that is his.

Question. What dost thou chiefly learn by these commandments?

Answer. I learn two things: my duty towards God, and my duty towards my Neighbour.

Question. What is thy duty towards God?

Answer. My duty towards God, is to believe in him, to fear him, and to love him with all my heart, with all my mind, with all my soul, and with all my strength; to worship him, to give him thanks, to put my whole trust in him, to call upon him, to honour his holy Name and his Word, and to serve him truly all the days of my life.

Question. What is thy duty towards thy Neighbour?

Answer. My duty towards my Neighbour, is to love him as myself, and to do to all men, as I would they should do unto me: To love, honour, and succour my father and mother: To honour and obey the King, and all that are put in authority under him: To submit myself to all my governours, teachers, spiritual pastors and masters: To order myself lowly and reverently to all my betters: To hurt no body by word nor deed: To be true and just in all my dealing: To bear no malice nor hatred in my heart: To keep my hands from picking and stealing, and my tongue from evil-speaking, lying, and slandering: To keep my body in temperance, soberness, and chastity: Not to covet nor desire other men's goods; but to learn and labour truly to get mine own living, and to do my duty in that state of life, unto which it shall please God to call me.

Catechist. My good Child, know this, that thou art not able to do these things of thyself, nor to walk in the Commandments of God, and to serve him, without his special grace; which thou must learn at all times to call for by diligent prayer. Let me hear therefore, if thou canst say the Lord's Prayer.

Answer.

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our trespasses, As we forgive them that trespass against us. And lead us not into temptation; But deliver us from evil. Amen.

Question. What desirest thou of God in this Prayer?

Answer. I desire my Lord God our heavenly Father, who is the giver of all goodness, to send his grace unto

me, and to all people; that we may worship him, serve him, and obey him, as we ought to do. And I pray unto God, that he will send us all things that be needful both for our souls and bodies; and that he will be merciful unto us, and forgive us our sins; and that it will please him to save and defend us in all dangers ghostly and bodily; and that he will keep us from all sin and wickedness, and from our ghostly enemy, and from everlasting death. And this I trust he will do of his mercy and goodness, through our Lord Jesus Christ. And therefore I say, Amen, So be it.

Question.

HOW many Sacraments hath Christ ordained in his Church?

Answer. Two only, as generally necessary to salvation, that is to say, Baptism, and the Supper of the Lord.

Question. What meanest thou by this word *Sacrament?*

Answer. I mean an outward and visible sign of an inward and spiritual grace given unto us, ordained by Christ himself, as a means whereby we receive the same, and a pledge to assure us thereof.

Question. How many parts are there in a Sacrament?

Answer. Two; the outward visible sign, and the inward spiritual grace.

Question. What is the outward visible sign or form in Baptism?

Answer. Water; wherein the person is baptized *In the Name of the Father, and of the Son, and of the Holy Ghost.*

Question. What is the inward and spiritual grace?

Answer. A death unto sin, and a new birth unto righteousness: for being by nature born in sin, and the children of wrath, we are hereby made the children of grace.

Question. What is required of persons to be baptized?

Answer. Repentance, whereby they forsake sin; and Faith, whereby they stedfastly believe the promises of God made to them in that Sacrament.

Question. Why then are Infants baptized, when by reason of their tender age they cannot perform them?

Answer. Because they promise them both by their Sureties; which promise, when they come to age, themselves are bound to perform.

Question. Why was the Sacrament of the Lord's Supper ordained?

Answer. For the continual remembrance of the sacrifice of the death of Christ, and

of the benefits which we receive thereby.

Question. What is the outward part or sign of the Lord's Supper?

Answer. Bread and Wine, which the Lord hath commanded to be received.

Question. What is the inward part, or thing signified?

Answer. The Body and Blood of Christ, which are verily and indeed taken and received by the faithful in the Lord's Supper.

Question. What are the benefits whereof we are partakers thereby?

Answer. The strengthening and refreshing of our souls by the Body and Blood of Christ, as our bodies are by the Bread and Wine.

Question. What is required of them who come to the Lord's Supper?

Answer. To examine themselves, whether they repent them truly of their former sins, stedfastly purposing to lead a new life; have a lively faith in God's mercy through Christ, with a thankful remembrance of his death; and be in charity with all men.

¶ *The Curate of every Parish shall diligently upon Sundays and Holy-days, after the second Lesson at Evening Prayer, openly in the Church instruct and examine so many Children of his Parish sent unto him, as he shall think convenient, in some part of this Catechism.*

¶ *And all Fathers, Mothers, Masters, and Dames, shall cause their Children, Servants, and Apprentices, (which have not learned their Catechism,) to come to the Church at the time appointed, and obediently to hear, and be ordered by the Curate, until such time as they have learned all that is here appointed for them to learn.*

¶ *So soon as Children are come to a competent age, and can say, in their Mother Tongue, the Creed, the Lord's Prayer, and the Ten Commandments; and also can answer to the other Questions of this short Catechism; they shall be brought to the Bishop. And every one shall have a Godfather, or a Godmother, as a Witness of their Confirmation.*

¶ *And whensoever the Bishop shall give knowledge for Children to be brought unto him for their Confirmation, the Curate of every Parish shall either bring, or send in writing, with his hand subscribed thereunto, the names of all such persons within his Parish, as he shall think fit to be presented to the Bishop to be confirmed. And, if the Bishop approve of them, he shall confirm them in manner following.*

THE ORDER OF
CONFIRMATION,
OR LAYING ON OF HANDS UPON THOSE THAT ARE BAPTIZED AND COME TO YEARS OF DISCRETION.

¶ *Upon the day appointed, all that are to be then confirmed, being placed, and standing in order, before the Bishop; he (or some other Minister appointed by him) shall read this Preface following.*

TO the end that Confirmation may be ministered to the more edifying of such as shall receive it, the Church hath thought good to order, That none hereafter shall be Confirmed, but such as can say the Creed, the Lord's

Prayer, and the Ten Commandments; and can also answer to such other Questions, as in the short Catechism are contained: which order is very convenient to be observed; to the end, that children, being now come to the years of discretion, and having learned what their Godfathers and Godmothers promised for them in Baptism, they may themselves, with their own mouth and consent, openly before the Church, ratify and confirm the same; and also promise, that by the grace of God they will evermore endeavour themselves faithfully to observe such things, as they, by their own confession, have assented unto.

¶ *Then shall the Bishop say,*

DO ye here, in the presence of God, and of this congregation, renew the solemn promise and vow that was made in your name at your Baptism; ratifying and confirming the same in your own persons, and acknowledging yourselves bound to believe, and to do, all those things, which your Godfathers and Godmothers then undertook for you?

¶ *And every one shall audibly answer,*

I do.

The Bishop.

OUR help is in the Name of the Lord;

Answer. Who hath made heaven and earth.

Bishop. Blessed be the Name of the Lord;

Answer. Henceforth, world without end.

Bishop. Lord, hear our prayers.

Answer. And let our cry come unto thee.

The Bishop. Let us pray.

ALMIGHTY and everliving God, who hast vouchsafed to regenerate these thy servants by Water and the holy Ghost, and hast given unto them forgiveness of all their sins; Strengthen them, we beseech thee, O Lord, with the Holy Ghost the Comforter, and daily increase in them thy manifold gifts of grace; the spirit of wisdom and understanding; the spirit of counsel and ghostly strength; the spirit of knowledge and true godliness; and fill them, O Lord, with the spirit of thy holy fear, now and for ever. *Amen.*

¶ *Then all of them in order kneeling before the Bishop, he shall lay his hand upon the head of every one severally, saying,*

DEFEND, O Lord, this thy Child [or *this thy Servant*] with thy heavenly grace, that *he* may continue thine for ever; and daily increase in thy holy Spirit more and more, until *he* come unto thy everlasting kingdom. Amen.

¶ *Then shall the Bishop say,*

The Lord be with you.

Answer. And with thy spirit.

¶ *And (all kneeling down) the Bishop shall add,*

Let us pray.

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our trespasses, As we forgive them that trespass against us. And lead us not into temptation; But deliver us from evil. Amen.

And this Collect.

ALMIGHTY and everliving God, who makest us both to will and to do those things that be good and acceptable unto thy divine Majesty; We make our humble supplications unto thee for these thy servants, upon whom (after the example of thy holy Apostles) we have now laid our hands, to certify them (by this sign) of thy favour and gracious goodness towards them. Let thy fatherly hand, we beseech thee, ever be over them; let thy Holy Spirit ever be with them; and so lead them in the knowledge and obedience of thy Word, that in the end they may obtain everlasting life; through our Lord Jesus Christ, who with thee and the Holy Ghost liveth and reigneth, ever one God, world without end. *Amen.*

O Almighty Lord, and everlasting God, vouchsafe, we beseech thee, to direct, sanctify, and govern, both our hearts and bodies, in the ways of thy laws, and in the works of thy commandments; that, through thy most mighty protection both here and ever, we may be preserved in body and soul; through our Lord and Saviour Jesus Christ. *Amen.*

¶ *Then the Bishop shall bless them, saying thus,*

THE Blessing of God Almighty, the Father, the Son, and the Holy Ghost, be upon you, and remain with you for ever. *Amen.*

¶ *And there shall none be admitted to the holy Communion, until such time as he be confirmed, or be ready and desirous to be confirmed.*

THE FORM OF
SOLEMNIZATION OF MATRIMONY.

¶ *First the Banns of all that are to be married together must be published in the Church three several Sundays, during the time of Morning Service, or of Evening Service, (if there be no Morning Service,) immediately after the second Lesson; the Curate saying after the accustomed manner,*

I Publish the Banns of Marriage between *M.* of—— and *N.* of ——. If any of you know cause, or just impediment, why these two persons should not be joined to-

gether in holy Matrimony, ye are to declare it. This is the first [*second*, or *third*] time of asking.

¶ *And if the persons that are to be married dwell in divers Parishes, the Banns must be asked in both Parishes; and the Curate of the one Parish shall not solemnize Matrimony betwixt them, without a Certificate of the Banns being thrice asked, from the Curate of the other Parish.*

¶ *At the day and time appointed for solemnization of Matrimony, the persons to be married shall come into the body of the Church with their friends and neighbours: and there standing together, the Man on the right hand, and the Woman on the left, the Priest shall say,*

DEARLY beloved, we are gathered together here in the sight of God, and in the face of this congregation, to join together this Man and this Woman in holy Matrimony; which is an honourable estate, instituted of God in the time of man's innocency, signifying unto us the mystical union that is betwixt Christ and his Church; which holy estate Christ adorned and beautified with his presence, and first miracle that he wrought, in Cana of Galilee; and is commended of Saint Paul to be honourable among all men: and therefore is not by any to be enterprised, nor taken in hand, unadvisedly, lightly, or wantonly, to satisfy men's carnal lusts and appetites, like brute beasts that have no understanding; but reverently, discreetly, advisedly, soberly, and in the fear of God; duly considering the causes for which Matrimony was ordained.

First, It was ordained for the procreation of children, to be brought up in the fear and nurture of the Lord, and to the praise of his holy Name.

Secondly, It was ordained for a remedy against sin, and to avoid fornication; that such persons as have not the gift of continency might marry, and keep themselves undefiled members of Christ's body.

Thirdly, It was ordained for the mutual society, help, and comfort, that the one ought to have of the other, both in prosperity and adversity. Into which holy estate these two persons present come now to be joined. Therefore if any man can shew any just cause, why they may not lawfully be joined together, let him now speak, or else hereafter for ever hold his peace.

¶ *And also, speaking unto the persons that shall be married, he shall say,*

I Require and charge you both, as ye will answer at the dreadful day of judgement when the secrets of all hearts shall be disclosed, that if either of you know any impediment, why ye may not be lawfully joined together in Matrimony, ye do now confess it. For be ye well assured, that so many as are

coupled together otherwise than God's Word doth allow are not joined together by God; neither is their Matrimony lawful.

¶ *At which day of Marriage, if any man do alledge and declare any impediment, why they may not be coupled together in Matrimony, by God's Law, or the Laws of this Realm; and will be bound, and sufficient sureties with him, to the parties; or else put in a Caution (to the full value of such charges as the persons to be married do thereby sustain) to prove his allegation: then the solemnization must be deferred, until such time as the truth be tried.*

¶ *If no impediment be alledged, then shall the Curate say unto the Man,*

M. WILT thou have this Woman to thy wedded wife, to live together after God's ordinance in the holy estate of Matrimony? Wilt thou love her, comfort her, honour, and keep her in sickness and in health; and, forsaking all other, keep thee only unto her, so long as ye both shall live?

¶ *The Man shall answer,*

I will.

¶ *Then shall the Priest say unto the Woman,*

N. WILT thou have this Man to thy wedded husband, to live together after God's ordinance in the holy estate of Matrimony? Wilt thou obey him, and serve him, love, honour, and keep him in sickness and in health; and, forsaking all other, keep thee only unto him, so long as ye both shall live?

¶ *The Woman shall answer,*

I will.

¶ *Then shall the Minister say,*

Who giveth this Woman to be married to this Man?

¶ *Then shall they give their troth to each other in this manner.*

The Minister, receiving the Woman at her father's or friend's hands, shall cause the Man with his right hand to take the Woman by her right hand, and to say after him as followeth.

I *M.* take thee *N.* to my wedded wife, to have and to hold from this day forward, for better for worse, for richer for poorer, in sickness and in health, to love and to cherish, till death us do part, according to God's holy ordinance; and thereto I plight thee my troth.

¶ *Then shall they loose their hands; and the Woman, with her right hand taking the Man by his right hand, shall likewise say after the Minister,*

I *N.* take thee *M.* to my wedded husband, to have and to hold from this day forward, for better for worse, for richer for poorer, in sickness and in health, to love, cherish, and to obey, till death us do part, according to God's holy ordinance; and thereto I give thee my troth.

¶ *Then shall they again loose their hands; and the Man shall give unto the Woman a Ring, laying the same upon the book with the accustomed duty to the Priest and Clerk. And the Priest, taking the Ring, shall deliver it unto the Man, to put it upon the fourth finger of the Woman's left hand. And the Man holding the Ring there, and taught by the Priest, shall say,*

WITH this Ring I thee wed, with my body I thee worship, and with all my worldly goods I thee endow: In the Name of the Father, and of the Son, and of the Holy Ghost. Amen.

¶ *Then the Man leaving the Ring upon the fourth finger of the Woman's left hand, they shall both kneel down; and the Minister shall say,*

Let us pray.

O Eternal God, Creator and Preserver of all mankind, Giver of all spiritual grace, the Author of everlasting life; Send thy blessing upon these thy servants, this man and this woman, whom we bless in thy Name; that, as Isaac and Rebecca lived faithfully together, so these persons may surely perform and keep the vow and covenant betwixt them made, (whereof this Ring given and received is a token and pledge,) and may ever remain in perfect love and peace together, and live according to thy laws; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *Then shall the Priest join their right hands together, and say,*

Those whom God hath joined together let no man put asunder.

¶ *Then shall the Minister speak unto the people.*

FORASMUCH as *M.* and *N.* have consented together in holy wedlock, and have witnessed the same before God and this company, and thereto have given and pledged their troth either to other, and have declared the same by giving and receiving of a Ring, and by joining of hands; I pronounce that they be Man and Wife together, In the Name of the Father, and of the Son, and of the Holy Ghost. Amen.

¶ *And the Minister shall add this Blessing.*

GOD the Father, God the Son, God the Holy Ghost, bless, preserve, and keep you; the Lord mercifully with his favour look upon you; and so fill you with all spiritual benediction and grace, that ye may so live together in this life, that in the world to come ye may have life everlasting. *Amen.*

¶ *Then the Minister or Clerks, going to the Lord's Table, shall say or sing this Psalm following.*

Beati omnes. Psalm cxxviii.

BLESSED are all they that fear the Lord: and walk in his ways.

For thou shalt eat the labour of thine hands: O well is thee, and happy shalt thou be.

Thy wife shall be as the fruitful vine: upon the walls of thine house;

Thy children like the olive-branches: round about thy table.

Lo, thus shall the man be blessed: that feareth the Lord.

The Lord from out of Sion shall so bless thee: that thou shalt see Jerusalem in prosperity all thy life long;

Yea, that thou shalt see thy children's children: and peace upon Israel.

Glory be to the Father, and to the Son: and to the Holy Ghost;

As it was in the begin-

ning, is now, and ever shall be : world without end. Amen.

¶ *Or this Psalm.*

Deus misereatur. Psalm lxvii.

GOD be merciful unto us, and bless us : and shew us the light of his countenance, and be merciful unto us.

That thy way may be known upon earth : thy saving health among all nations.

Let the people praise thee, O God : yea, let all the people praise thee.

O let the nations rejoice and be glad : for thou shalt judge the folk righteously, and govern the nations upon earth.

Let the people praise thee, O God : yea, let all the people praise thee.

Then shall the earth bring forth her increase : and God, even our own God, shall give us his blessing.

God shall bless us : and all the ends of the world shall fear him.

Glory be to the Father, and to the Son : and to the Holy Ghost ;

As it was in the beginning, is now, and ever shall be : world without end. Amen.

¶ *The Psalm ended, and the Man and the Woman kneeling before the Lord's Table, the Priest standing at the Table, and turning his face towards them, shall say,*

Lord, have mercy upon us.

Answer. Christ, have mercy upon us.

Minister. Lord, have mercy upon us.

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our trespasses, As we forgive them that trespass against us. And lead us not into temptation ; But deliver us from evil. Amen.

Minister. O Lord, save thy servant, and thy handmaid ;

Answer. Who put their trust in thee.

Minister. O Lord, send them help from thy holy place ;

Answer. And evermore defend them.

Minister. Be unto them a tower of strength,

Answer. From the face of their enemy.

Minister. O Lord, hear our prayer.

Answer. And let our cry come unto thee.

Minister.

O God of Abraham, God of Isaac, God of Jacob, bless these thy servants, and sow the seed of eternal life in their hearts ; that whatsoever in thy holy Word they shall profitably learn, they may in deed fulfil the same. Look, O Lord, mercifully upon them

from heaven, and bless them. And as thou didst send thy blessing upon Abraham and Sarah, to their great comfort, so vouchsafe to send thy blessing upon these thy servants; that they obeying thy will, and alway being in safety under thy protection, may abide in thy love unto their lives' end; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *This Prayer next following shall be omitted, where the Woman is past child-bearing.*

O Merciful Lord, and heavenly Father, by whose gracious gift mankind is increased; We beseech thee, assist with thy blessing these two persons, that they may both be fruitful in procreation of children, and also live together so long in godly love and honesty, that they may see their children christianly and virtuously brought up, to thy praise and honour; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

O God, who by thy mighty power hast made all things of nothing; who also (after other things set in order) didst appoint, that out of man (created after thine own image and similitude) woman should take her beginning; and, knitting them together, didst teach that it should never be lawful to put asunder those whom thou by Matrimony hadst made one: O God, who hast consecrated the state of Matrimony to such an excellent mystery, that in it is signified and represented the spiritual marriage and unity betwixt Christ and his Church; Look mercifully upon these thy servants, that both this man may love his wife, according to thy Word, (as Christ did love his spouse the Church, who gave himself for it, loving and cherishing it even as his own flesh,) and also that this woman may be loving and amiable, faithful and obedient to her husband; and in all quietness, sobriety, and peace, be a follower of holy and godly matrons. O Lord, bless them both, and grant them to inherit thy everlasting kingdom; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *Then shall the Priest say,*

ALMIGHTY God, who at the beginning did create our first parents, Adam and Eve, and did sanctify and join them together in marriage; Pour upon you the riches of his grace, sanctify and bless you; that ye may please him both in body and soul, and live together in holy love unto your lives' end. *Amen.*

¶ *After which, if there be no Sermon declaring the duties of Man and Wife, the Minister shall read as followeth.*

ALL ye that are married, or that intend to take the holy estate of Matrimony

upon you, hear what the holy Scripture doth say as touching the duty of husbands towards their wives, and wives towards their husbands.

Saint Paul, in his Epistle to the Ephesians, the fifth Chapter, doth give this commandment to all married men; Husbands, love your wives, even as Christ also loved the Church, and gave himself for it, that he might sanctify and cleanse it with the washing of water, by the Word; that he might present it to himself a glorious Church, not having spot, or wrinkle, or any such thing; but that it should be holy, and without blemish. So ought men to love their wives as their own bodies. He that loveth his wife loveth himself: for no man ever yet hated his own flesh, but nourisheth and cherisheth it, even as the Lord the Church: for we are members of his body, of his flesh, and of his bones. For this cause shall a man leave his father and mother, and shall be joined unto his wife; and they two shall be one flesh. This is a great mystery; but I speak concerning Christ and the Church. Nevertheless, let every one of you in particular so love his wife, even as himself.

Likewise the same Saint Paul, writing to the Colossians, speaketh thus to all men that are married; Husbands, love your wives, and be not bitter against them.

Hear also what Saint Peter, the Apostle of Christ, who was himself a married man, saith unto them that are married; Ye husbands, dwell with your wives according to knowledge; giving honour unto the wife, as unto the weaker vessel, and as being heirs together of the grace of life, that your prayers be not hindered.

Hitherto ye have heard the duty of the husband toward the wife. Now likewise, ye wives, hear and learn your duties toward your husbands, even as it is plainly set forth in holy Scripture.

Saint Paul, in the aforenamed Epistle to the Ephesians, teacheth you thus; Wives, submit yourselves unto your own husbands, as unto the Lord. For the husband is the head of the wife, even as Christ is the head of the Church: and he is the Saviour of the body. Therefore as the Church is subject unto Christ, so let the wives be to their own husbands in every thing. And again he saith, Let the wife see that she reverence her husband.

And in his Epistle to the Colossians, Saint Paul giveth you this short lesson; Wives,

submit yourselves unto your own husbands, as it is fit in the Lord.

Saint Peter also doth instruct you very well, thus saying; Ye wives, be in subjection to your own husbands; that, if any obey not the Word, they also may without the Word be won by the conversation of the wives; while they behold your chaste conversation coupled with fear. Whose adorning, let it not be that outward adorning of plaiting the hair, and of wearing of gold, or of putting on of apparel; but let it be the hidden man of the heart, in that which is not corruptible; even the ornament of a meek and quiet spirit, which is in the sight of God of great price. For after this manner in the old time the holy women also, who trusted in God, adorned themselves, being in subjection unto their own husbands; even as Sarah obeyed Abraham, calling him lord; whose daughters ye are as long as ye do well, and are not afraid with any amazement.

¶ *It is convenient that the new-married persons should receive the holy Communion at the time of their Marriage, or at the first opportunity after their Marriage.*

THE ORDER FOR

THE VISITATION OF THE SICK.

¶ *When any person is sick, notice shall be given thereof to the Minister of the Parish; who, coming into the sick person's house, shall say,*

PEACE be to this house, and to all that dwell in it.

¶ *When he cometh into the sick man's presence he shall say, kneeling down,*

REMEMBER not, Lord, our iniquities, nor the iniquities of our forefathers: Spare us, good Lord, spare thy people, whom thou hast redeemed with thy most precious blood, and be not angry with us for ever.

Answer. Spare us, good Lord.

¶ *Then the Minister shall say,*

Let us pray.

Lord, have mercy upon us.

Christ, have mercy upon us.

Lord, have mercy upon us.

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our trespasses, As we forgive them that trespass against us. And lead us not into temptation; But deliver us from evil. Amen.

Minister. O Lord, save thy servant;

Answer. Which putteth *his* trust in thee.

Minister. Send *him* help from thy holy place;

Answer. And evermore mightily defend *him.*

Minister. Let the enemy have no advantage of *him;*

Answer. Nor the wicked approach to hurt *him.*

Minister. Be unto *him,* O Lord, a strong tower,

Answer. From the face of *his* enemy.

Minister. O Lord, hear our prayers.

Answer. And let our cry come unto thee.

Minister.

O Lord, look down from heaven, behold, visit, and relieve this thy servant. Look upon *him* with the eyes of thy mercy, give *him* comfort and sure confidence in thee, defend *him* from the danger of the enemy, and keep *him* in perpetual peace and safety; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

HEAR us, Almighty and most merciful God and Saviour; extend thy accustomed goodness to this thy servant who is grieved with sickness. Sanctify, we beseech thee, this thy fatherly correction to *him;* that the sense of *his* weakness may add strength to *his* faith, and seriousness to *his* repentance: That, if it shall be thy good pleasure to restore *him* to *his* former health, *he* may lead the residue of *his* life in thy fear, and to thy glory: or else, give *him* grace so to take thy visitation, that, after this painful life ended, *he* may dwell with thee in life everlasting; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *Then shall the Minister exhort the sick person after this form, or other like.*

DEARLY beloved, know this, that Almighty God is the Lord of life and death, and of all things to them pertaining, as youth, strength, health, age, weakness, and sickness. Wherefore, whatsoever your sickness is, know you certainly, that it is God's visitation. And for what cause soever this sickness is sent unto you; whether it be to try your patience for the example of others, and that your faith may be found in the day of the Lord laudable, glorious, and honourable, to the increase of glory and endless felicity; or else it be sent unto you to correct and amend in you whatsoever doth offend the eyes of your heavenly Father; know you certainly, that if you truly repent you of your sins, and bear your sickness patiently, trusting in God's mercy, for his dear Son Jesus Christ's sake, and render unto him humble thanks for his fatherly visitation, submitting yourself wholly unto his will, it

shall turn to your profit, and help you forward in the right way that leadeth unto everlasting life.

¶ *If the person visited be very sick, then the Curate may end his exhortation in this place, or else proceed.*

TAKE therefore in good part the chastisement of the Lord: For (as Saint Paul saith in the twelfth Chapter to the Hebrews) whom the Lord loveth he chasteneth, and scourgeth every son whom he receiveth. If ye endure chastening, God dealeth with you as with sons; for what son is he whom the father chasteneth not? But if ye be without chastisement, whereof all are partakers, then are ye bastards, and not sons. Furthermore, we have had fathers of our flesh, which corrected us, and we gave them reverence: shall we not much rather be in subjection unto the Father of spirits, and live? For they verily for a few days chastened us after their own pleasure; but he for our profit, that we might be partakers of his holiness. These words, good *brother*, are written in holy Scripture for our comfort and instruction; that we should patiently, and with thanksgiving, bear our heavenly Father's correction, whensoever by any manner of adversity it shall please his gracious goodness to visit us. And there should be no greater comfort to Christian persons, than to be made like unto Christ, by suffering patiently adversities, troubles, and sicknesses. For he himself went not up to joy, but first he suffered pain; he entered not into his glory before he was crucified. So truly our way to eternal joy is to suffer here with Christ; and our door to enter into eternal life is gladly to die with Christ; that we may rise again from death, and dwell with him in everlasting life. Now therefore, taking your sickness, which is thus profitable for you, patiently, I exhort you, in the Name of God, to remember the profession which you made unto God in your Baptism. And forasmuch as after this life there is an account to be given unto the righteous Judge, by whom all must be judged, without respect of persons, I require you to examine yourself and your estate, both toward God and man; so that, accusing and condemning yourself for your own faults, you may find mercy at our heavenly Father's hand for Christ's sake, and not be accused and condemned in that fearful judgement. Therefore I shall rehearse to you the Articles of our Faith, that you may know whether you

do believe as a Christian man should, or no.

¶ Here the Minister shall rehearse the Articles of the Faith, saying thus,

DOST thou believe in God the Father Almighty, Maker of heaven and earth?

And in Jesus Christ his only-begotten Son our Lord? And that he was conceived by the Holy Ghost, born of the Virgin Mary; that he suffered under Pontius Pilate, was crucified, dead, and buried; that he went down into hell, and also did rise again the third day; that he ascended into heaven, and sitteth at the right hand of God the Father Almighty; and from thence shall come again at the end of the world, to judge the quick and the dead?

And dost thou believe in the Holy Ghost; the holy Catholick Church; the Communion of Saints; the Remission of sins; the Resurrection of the flesh; and everlasting Life after death?

¶ The sick person shall answer,

All this I stedfastly believe.

¶ Then shall the Minister examine whether he repent him truly of his sins, and be in charity with all the world; exhorting him to forgive, from the bottom of his heart, all persons that have offended him; and if he hath offended any other, to ask them forgiveness; and where he hath done injury or wrong to any man, that he make amends to the uttermost of his power. And if he hath not before disposed of his goods, let him then be admonished to make his Will, and to declare his Debts, what he oweth, and what is owing unto him; for the better discharging of his conscience, and the quietness of his Executors. But men should often be put in remembrance to take order for the settling of their temporal estates, whilst they are in health.

¶ These words before rehearsed may be said before the Minister begin his Prayer, as he shall see cause.

¶ The Minister should not omit earnestly to move such sick persons as are of ability to be liberal to the poor.

¶ Here shall the sick person be moved to make a special Confession of his sins, if he feel his conscience troubled with any weighty matter. After which Confession, the Priest shall absolve him (if he humbly and heartily desire it) after this sort.

OUR Lord Jesus Christ, who hath left power to his Church to absolve all sinners who truly repent and believe in him, of his great mercy forgive thee thine offences: And by his authority committed to me, I absolve thee from all thy sins, In the Name of the Father, and of the Son, and of the Holy Ghost. Amen.

¶ And then the Priest shall say the Collect following.

Let us pray.

O Most merciful God, who, according to the multitude of thy mercies, dost so put away the sins of those who truly repent, that thou rememberest them no more; Open thine eye of mercy upon this thy servant, who most earnestly desireth pardon and forgiveness. Renew in *him*, most loving Father, whatsoever hath been decayed by the fraud and malice of the devil, or by *his* own carnal will and frailness; preserve and continue this sick member in the unity of

the Church; consider *his* contrition, accept *his* tears, asswage *his* pain, as shall seem to thee most expedient for *him*. And forasmuch as *he* putteth *his* full trust only in thy mercy, impute not unto *him his* former sins, but strengthen *him* with thy blessed Spirit; and, when thou art pleased to take *him* hence, take *him* unto thy favour, through the merits of thy most dearly beloved Son Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *Then shall the Minister say this Psalm.*

In te, Domine, speravi.

Psalm lxxi.

IN thee, O Lord, have I put my trust; let me never be put to confusion: but rid me, and deliver me in thy righteousness; incline thine ear unto me, and save me.

Be thou my strong hold, whereunto I may alway resort: thou hast promised to help me; for thou art my house of defence, and my castle.

Deliver me, O my God, out of the hand of the ungodly: out of the hand of the unrighteous and cruel man.

For thou, O Lord God, art the thing that I long for: thou art my hope, even from my youth.

Through thee have I been holden up ever since I was born: thou art he that took me out of my mother's womb; my praise shall alway be of thee.

I am become as it were a monster unto many: but my sure trust is in thee.

O let my mouth be filled with thy praise: that I may sing of thy glory and honour all the day long.

Cast me not away in the time of age: forsake me not when my strength faileth me.

For mine enemies speak against me, and they that lay wait for my soul take their counsel together, saying: God hath forsaken him, persecute him, and take him; for there is none to deliver him.

Go not far from me, O God: my God, haste thee to help me.

Let them be confounded and perish that are against my soul: let them be covered with shame and dishonour that seek to do me evil.

As for me, I will patiently abide alway: and will praise thee more and more.

My mouth shall daily speak of thy righteousness and salvation: for I know no end thereof.

I will go forth in the strength of the Lord God: and will make mention of thy righteousness only.

Thou, O God, hast taught

me from my youth up until now: therefore will I tell of thy wondrous works.

Forsake me not, O God, in mine old age, when I am gray-headed: until I have shewed thy strength unto this generation, and thy power to all them that are yet for to come.

Thy righteousness, O God, is very high, and great things are they that thou hast done: O God, who is like unto thee?

Glory be to the Father, and to the Son: and to the Holy Ghost;

As it was in the beginning, is now, and ever shall be: world without end. Amen.

¶ *Adding this.*

O Saviour of the world, who by thy Cross and precious Blood hast redeemed us, Save us, and help us, we humbly beseech thee, O Lord.

¶ *Then shall the Minister say,*

THE Almighty Lord, who is a most strong tower to all them that put their trust in him, to whom all things in heaven, in earth, and under the earth, do bow and obey, be now and evermore thy defence; and make thee know and feel, that there is none other Name under heaven given to man, in whom, and through whom, thou mayest receive health and salvation, but only the Name of our Lord Jesus Christ. Amen.

¶ *And after that shall say,*

UNTO God's gracious mercy and protection we commit thee. The Lord bless thee, and keep thee. The Lord make his face to shine upon thee, and be gracious unto thee. The Lord lift up his countenance upon thee, and give thee peace, both now and evermore. *Amen.*

A Prayer for a sick child.

O Almighty God, and merciful Father, to whom alone belong the issues of life and death; Look down from heaven, we humbly beseech thee, with the eyes of mercy upon this child now lying upon the bed of sickness: Visit *him*, O Lord, with thy salvation; deliver *him* in thy good appointed time from *his* bodily pain, and save *his* soul for thy mercies' sake: That, if it shall be thy pleasure to prolong *his* days here on earth, *he* may live to thee, and be an instrument of thy glory, by serving thee faithfully, and doing good in *his* generation; or else receive *him* into those heavenly habitations, where the souls of them that sleep in the Lord Jesus enjoy perpetual rest and felicity. Grant this, O Lord, for thy mercies' sake, in

the same thy Son our Lord Jesus Christ, who liveth and reigneth with thee and the Holy Ghost, ever one God, world without end. *Amen.*

A Prayer for a sick person, when there appeareth small hope of recovery.

O Father of mercies, and God of all comfort, our only help in time of need; We fly unto thee for succour in behalf of this thy servant, here lying under thy hand in great weakness of body. Look graciously upon *him*, O Lord; and the more the outward man decayeth, strengthen *him*, we beseech thee, so much the more continually with thy grace and holy Spirit in the inner man. Give *him* unfeigned repentance for all the errors of *his* life past, and stedfast faith in thy Son Jesus; that *his* sins may be done away by thy mercy, and *his* pardon sealed in heaven, before *he* go hence, and be no more seen. We know, O Lord, that there is no word impossible with thee; and that, if thou wilt, thou canst even yet raise *him* up, and grant *him* a longer continuance amongst us: Yet, forasmuch as in all appearance the time of *his* dissolution draweth near, so fit and prepare *him*, we beseech thee, against the hour of death, that after *his* departure hence in peace, and in thy favour, *his* soul may be received into thine everlasting kingdom, through the merits and mediation of Jesus Christ, thine only Son, our Lord and Saviour. *Amen.*

A commendatory Prayer for a sick person at the point of departure.

O Almighty God, with whom do live the spirits of just men made perfect, after they are delivered from their earthly prisons; We humbly commend the soul of this thy servant, our dear *brother*, into thy hands, as into the hands of a faithful Creator, and most merciful Saviour; most humbly beseeching thee, that it may be precious in thy sight. Wash it, we pray thee, in the blood of that immaculate Lamb, that was slain to take away the sins of the world; that whatsoever defilements it may have contracted in the midst of this miserable and naughty world, through the lusts of the flesh, or the wiles of Satan, being purged and done away, it may be presented pure and without spot before thee. And teach us who survive, in this and other like daily spectacles of mortality, to see how frail and uncertain our own condition is; and so to number our days, that we may seriously apply our hearts to that holy and heavenly

wisdom, whilst we live here, which may in the end bring us to life everlasting, through the merits of Jesus Christ thine only Son our Lord. *Amen.*

A Prayer for persons troubled in mind or in conscience.

O Blessed Lord, the Father of mercies, and the God of all comforts; We beseech thee, look down in pity and compassion upon this thy afflicted servant. Thou writest bitter things against *him*, and makest *him* to possess *his* former iniquities; thy wrath lieth hard upon *him*, and *his* soul is full of trouble: But, O merciful God, who hast written thy holy Word for our learning, that we, through patience and comfort of thy holy Scriptures, might have hope; give *him* a right understanding of *himself*, and of thy threats and promises; that *he* may neither cast away *his* confidence in thee, nor place it anywhere but in thee. Give *him* strength against all *his* temptations, and heal all *his* distempers. Break not the bruised reed, nor quench the smoking flax. Shut not up thy tender mercies in displeasure; but make *him* to hear of joy and gladness, that the bones which thou hast broken may rejoice. Deliver *him* from fear of the enemy, and lift up the light of thy countenance upon *him*, and give *him* peace, through the merits and mediation of Jesus Christ our Lord. *Amen.*

THE COMMUNION OF THE SICK.

¶ *Forasmuch as all mortal men be subject to many sudden perils, diseases, and sicknesses, and ever uncertain what time they shall depart out of this life; therefore, to the intent they may be always in a readiness to die, whensoever it shall please Almighty God to call them, the Curates shall diligently from time to time (but especially in the time of pestilence, or other infectious sickness) exhort their Parishioners to the often receiving of the holy Communion of the Body and Blood of our Saviour Christ, when it shall be publickly administered in the Church; that so doing, they may, in case of sudden visitation, have the less cause to be disquieted for lack of the same. But if the sick person be not able to come to the Church, and yet is desirous to receive the Communion in his house; then he must give timely notice to the Curate, signifying also how many there are to communicate with him, (which shall be three, or two at the least,) and having a convenient place in the sick man's house, with all things necessary so prepared, that the Curate may reverently minister, he shall there celebrate the holy Communion, beginning with the Collect, Epistle, and Gospel, here following.*

The Collect.

ALMIGHTY, everliving God, Maker of mankind, who dost correct those whom thou dost love, and chastise every one whom thou dost receive; We beseech thee to have mercy upon this thy servant visited with thine hand, and to grant that *he* may take *his* sickness patiently, and recover *his* bodily

health, (if it be thy gracious will;) and whensoever *his* soul shall depart from the body, it may be without spot presented unto thee; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

The Epistle. Heb. xii. 5.

MY son, despise not thou the chastening of the Lord, nor faint when thou art rebuked of him. For whom the Lord loveth he chasteneth; and scourgeth every son whom he receiveth.

The Gospel. St. John v. 24.

VERILY, verily I say unto you, He that heareth my word, and believeth on him that sent me, hath everlasting life, and shall not come into condemnation; but is passed from death unto life.

¶ *After which the Priest shall proceed according to the form before prescribed for the holy Communion, beginning at these words* [Ye that do truly *&c.*]

¶ *At the time of the distribution of the holy Sacrament, the Priest shall first receive the Communion himself, and after minister unto them that are appointed to communicate with the sick, and last of all to the sick person.*

¶ *But if a man, either by reason of extremity of sickness, or for want of warning in due time to the Curate, or for lack of company to receive with him, or by any other just impediment, do not receive the Sacrament of Christ's Body and Blood, the Curate shall instruct him, that if he do truly repent him of his sins, and stedfastly believe that Jesus Christ hath suffered death upon the Cross for him, and shed his Blood for his redemption, earnestly remembering the benefits he hath thereby, and giving him hearty thanks therefore, he doth eat and drink the Body and Blood of our Saviour Christ profitably to his Soul's health, although he do not receive the Sacrament with his mouth.*

¶ *When the sick person is visited, and receiveth the holy Communion all at one time, then the Priest, for more expedition, shall cut off the form of the Visitation at the Psalm* [In thee, O Lord, have I put my trust, *&c.*] *and go straight to the Communion.*

¶ *In the time of the Plague, Sweat, or such other like contagious times of sickness or diseases, when none of the Parish or neighbours can be gotten to communicate with the sick in their houses, for fear of the infection, upon special request of the diseased, the Minister may only communicate with him.*

THE ORDER FOR
THE BURIAL OF THE DEAD.

¶ *Here is to be noted, that the Office ensuing is not to be used for any that die unbaptized, of excommunicate, or have laid violent hands upon themselves.*

¶ *The Priest and Clerks meeting the Corpse at the entrance of the Church-yard, and going before it, either into the Church, or towards the Grave, shall say, or sing,*

I Am the resurrection and the life, saith the Lord: he that believeth in me, though he were dead, yet shall he live: and whosoever liveth and believeth in me shall never die. *St. John* xi. 25, 26.

I Know that my Redeemer liveth, and that he shall stand at the latter day upon the earth. And though after my skin worms destroy this body, yet in my flesh shall I see God: whom I shall see for myself, and mine eyes shall behold, and not another. *Job* xix. 25, 26, 27.

WE brought nothing into this world, and it is

certain we can carry nothing out. The Lord gave, and the Lord hath taken away; blessed be the Name of the Lord. 1 *Tim.* vi. 7. *Job* i. 21.

¶ *After they are come into the Church, shall be read one or both of these Psalms following.*

Dixi, Custodiam. Psal. xxxix.

I Said, I will take heed to my ways : that I offend not in my tongue.

I will keep my mouth as it were with a bridle : while the ungodly is in my sight.

I held my tongue, and spake nothing : I kept silence, yea, even from good words; but it was pain and grief to me.

My heart was hot within me, and while I was thus musing the fire kindled : and at the last I spake with my tongue;

Lord, let me know mine end, and the number of my days : that I may be certified how long I have to live.

Behold, thou hast made my days as it were a span long : and mine age is even as nothing in respect of thee; and verily every man living is altogether vanity.

For man walketh in a vain shadow, and disquieteth himself in vain : he heapeth up riches, and cannot tell who shall gather them.

And now, Lord, what is my hope : truly my hope is even in thee.

Deliver me from all mine offences : and make me not a rebuke unto the foolish.

I became dumb, and opened not my mouth : for it was thy doing.

Take thy plague away from me : I am even consumed by means of thy heavy hand.

When thou with rebukes dost chasten man for sin, thou makest his beauty to consume away, like as it were a moth fretting a garment : every man therefore is but vanity.

Hear my prayer, O Lord, and with thine ears consider my calling : hold not thy peace at my tears.

For I am a stranger with thee : and a sojourner, as all my fathers were.

O spare me a little, that I may recover my strength : before I go hence, and be no more seen.

Glory be to the Father, and to the Son : and to the Holy Ghost;

As it was in the beginning, is now, and ever shall be : world without end. Amen.

Domine, refugium. Psalm xc.

LORD, thou hast been our refuge : from one generation to another.

Before the mountains were brought forth, or ever the earth and the world were made : thou art God from everlasting, and world without end.

Thou turnest man to destruction : again thou sayest, Come again, ye children of men.

For a thousand years in thy sight are but as yesterday : seeing that is past as a watch in the night.

As soon as thou scatterest them, they are even as a sleep : and fade away suddenly like the grass.

In the morning it is green, and groweth up : but in the evening it is cut down, dried up, and withered.

For we consume away in thy displeasure : and are afraid at thy wrathful indignation.

Thou hast set our misdeeds before thee : and our secret sins in the light of thy countenance.

For when thou art angry all our days are gone : we bring our years to an end, as it were a tale that is told.

The days of our age are threescore years and ten ; and though men be so strong, that they come to fourscore years : yet is their strength then but labour and sorrow ; so soon passeth it away, and we are gone.

But who regardeth the power of thy wrath : for even thereafter as a man feareth, so is thy displeasure.

O teach us to number our days : that we may apply our hearts unto wisdom.

Turn thee again, O Lord, at the last : and be gracious unto thy servants.

O satisfy us with thy mercy, and that soon : so shall we rejoice and be glad all the days of our life.

Comfort us again now after the time that thou hast plagued us : and for the years wherein we have suffered adversity.

Shew thy servants thy work : and their children thy glory.

And the glorious Majesty of the Lord our God be upon us : prosper thou the work of our hands upon us, O prosper thou our handy-work.

Glory be to the Father, and to the Son : and to the Holy Ghost ;

As it was in the beginning, is now, and ever shall be : world without end. Amen.

¶ *Then shall follow the Lesson taken out of the fifteenth Chapter of the former Epistle of Saint Paul to the Corinthians.*

1 Corinthians xv. 20.

NOW is Christ risen from the dead, and become the first-fruits of them that slept. For since by man came death, by man came also the resurrection of the dead. For as in Adam all die, even so in Christ shall all be made alive. But every man in his own order : Christ the first-fruits ; afterward they that are Christ's, at his coming. Then cometh the end, when he shall have

delivered up the kingdom to God, even the Father; when he shall have put down all rule, and all authority, and power. For he must reign, till he hath put all enemies under his feet. The last enemy that shall be destroyed is death. For he hath put all things under his feet. But when he saith, all things are put under him, it is manifest that he is excepted, which did put all things under him. And when all things shall be subdued unto him, then shall the Son also himself be subject unto him that put all things under him, that God may be all in all. Else what shall they do which are baptized for the dead, if the dead rise not at all? Why are they then baptized for the dead? and why stand we in jeopardy every hour? I protest by your rejoicing, which I have in Christ Jesus our Lord, I die daily. If after the manner of men I have fought with beasts at Ephesus, what advantageth it me, if the dead rise not? Let us eat and drink, for to morrow we die. Be not deceived: evil communications corrupt good manners. Awake to righteousness, and sin not; for some have not the knowledge of God. I speak this to your shame. But some man will say, How are the dead raised up? and with what body do they come. Thou fool, that which thou sowest is not quickened, except it die. And that which thou sowest, thou sowest not that body that shall be, but bare grain, it may chance of wheat, or of some other grain: But God giveth it a body, as it hath pleased him, and to every seed his own body. All flesh is not the same flesh; but there is one kind of flesh of men, another flesh of beasts, another of fishes, and another of birds. There are also celestial bodies, and bodies terrestrial; but the glory of the celestial is one, and the glory of the terrestrial is another. There is one glory of the sun, and another glory of the moon, and another glory of the stars; for one star differeth from another star in glory. So also is the resurrection of the dead: It is sown in corruption; it is raised in incorruption: It is sown in dishonour; it is raised in glory: It is sown in weakness; it is raised in power: It is sown a natural body; it is raised a spiritual body. There is a natural body, and there is a spiritual body. And so it is written, The first man Adam was made a living soul; the last Adam was made a quickening spirit. Howbeit, that was

not first which is spiritual, but that which is natural; and afterward that which is spiritual. The first man is of the earth, earthy: the second man is the Lord from heaven. As is the earthy, such are they that are earthy: and as is the heavenly, such are they also that are heavenly. And as we have borne the image of the earthy, we shall also bear the image of the heavenly. Now this I say, brethren, that flesh and blood cannot inherit the kingdom of God; neither doth corruption inherit incorruption. Behold, I shew you a mystery: We shall not all sleep, but we shall all be changed, in a moment, in the twinkling of an eye, at the last trump, (for the trumpet shall sound,) and the dead shall be raised incorruptible, and we shall be changed. For this corruptible must put on incorruption, and this mortal must put on immortality. So when this corruptible shall have put on incorruption, and this mortal shall have put on immortality; then shall be brought to pass the saying that is written, Death is swallowed up in victory. O death, where is thy sting? O grave, where is thy victory? The sting of death is sin, and the strength of sin is the law. But thanks be to God, which giveth us the victory through our Lord Jesus Christ. Therefore, my beloved brethren, be ye stedfast, unmoveable, always abounding in the work of the Lord, forasmuch as ye know that your labour is not in vain in the Lord.

¶ *When they come to the Grave, while the Corpse is made ready to be laid into the earth, the Priest shall say, or the Priest and Clerks shall sing:*

MAN that is born of a woman hath but a short time to live, and is full of misery. He cometh up, and is cut down, like a flower; he fleeth as it were a shadow, and never continueth in one stay.

In the midst of life we are in death: of whom may we seek for succour, but of thee, O Lord, who for our sins art justly displeased?

Yet, O Lord God most holy, O Lord most mighty, O holy and most merciful Saviour, deliver us not into the bitter pains of eternal death.

Thou knowest, Lord, the secrets of our hearts; shut not thy merciful ears to our prayer; but spare us, Lord most holy, O God most mighty, O holy and merciful Saviour, thou most worthy Judge eternal, suffer us not, at our last hour, for any pains of death, to fall from thee.

¶ *Then, while the earth shall be cast upon the Body by some standing by, the Priest shall say,*

FORASMUCH as it hath pleased Almighty God

of his great mercy to take unto himself the soul of our dear *brother* here departed, we therefore commit *his* body to the ground; earth to earth, ashes to ashes, dust to dust; in sure and certain hope of the Resurrection to eternal life, through our Lord Jesus Christ; who shall change our vile body, that it may be like unto his glorious body, according to the mighty working, whereby he is able to subdue all things to himself.

¶ *Then shall be said or sung,*

I Heard a voice from heaven, saying unto me, Write, From henceforth blessed are the dead which die in the Lord: even so saith the Spirit; for they rest from their labours.

¶ *Then the Priest shall say,*

Lord, have mercy upon us.
Christ, have mercy upon us.
Lord, have mercy upon us.

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our trespasses, As we forgive them that trespass against us. And lead us not into temptation; But deliver us from evil. Amen.

Priest.

ALMIGHTY God, with whom do live the spirits of them that depart hence in the Lord, and with whom the souls of the faithful, after they are delivered from the burden of the flesh, are in joy and felicity; We give thee hearty thanks, for that it hath pleased thee to deliver this our *brother* out of the miseries of this sinful world; beseeching thee, that it may please thee, of thy gracious goodness, shortly to accomplish the number of thine elect, and to hasten thy kingdom; that we, with all those that are departed in the true faith of thy holy Name, may have our perfect consummation and bliss, both in body and soul, in thy eternal and everlasting glory; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

The Collect.

O Merciful God, the Father of our Lord Jesus Christ, who is the resurrection and the life; in whom whosoever believeth shall live, though he die; and whosoever liveth, and believeth in him, shall not die eternally; who also hath taught us, by his holy Apostle Saint Paul, not to be sorry, as men without hope, for them that sleep in him; We meekly beseech thee, O Father, to raise us from the death of sin unto the life of righteousness; that, when we shall depart this

life, we may rest in him, as our hope is this our *brother* doth; and that, at the general Resurrection in the last day, we may be found acceptable in thy sight; and receive that blessing, which thy well-beloved Son shall then pronounce to all that love and fear thee, saying, Come, ye blessed children of my Father, receive the kingdom prepared for you from the beginning of the world: Grant this, we beseech thee, O merciful Father, through Jesus Christ, our Mediator and Redeemer. *Amen.*

THE grace of our Lord Jesus Christ, and the love of God, and the fellowship of the Holy Ghost, be with us all evermore. *Amen.*

THE THANKSGIVING OF WOMEN AFTER CHILD-BIRTH,

COMMONLY CALLED,

THE CHURCHING OF WOMEN.

¶ The Woman, at the usual time after her Delivery, shall come into the Church decently apparelled, and there shall kneel down in some convenient place, as hath been accustomed, or as the Ordinary shall direct: And then the Priest shall say unto her,

FORASMUCH as it hath pleased Almighty God of his goodness to give you safe deliverance, and hath preserved you in the great danger of Child-birth; you shall therefore give hearty thanks unto God, and say,

(¶ Then shall the Priest say the CXVIth *Psalm.)*

Dilexi quoniam.

I Am well pleased: that the Lord hath heard the voice of my prayer;

That he hath inclined his ear unto me: therefore will I call upon him as long as I live.

The snares of death compassed me round about: and the pains of hell gat hold upon me.

I found trouble and heaviness, and I called upon the Name of the Lord: O Lord, I beseech thee, deliver my soul.

Gracious is the Lord, and righteous: yea, our God is merciful.

The Lord preserveth the simple: I was in misery, and he helped me.

Turn again then unto thy rest, O my soul: for the Lord hath rewarded thee.

And why? thou hast delivered my soul from death: mine eyes from tears, and my feet from falling.

I will walk before the Lord: in the land of the living.

I believed, and therefore will I speak; but I was sore troubled: I said in my haste, All men are liars.

What reward shall I give unto the Lord: for all the benefits that he hath done unto me?

I will receive the cup of salvation: and call upon the Name of the Lord.

I will pay my vows now in the presence of all his people: in the courts of the Lord's house, even in the midst of thee, O Jerusalem. Praise the Lord.

Glory be to the Father, and to the Son: and to the Holy Ghost;

As it was in the beginning, is now, and ever shall be: world without end. Amen.

Or, Psal. cxxvii. *Nisi Dominus.*

EXCEPT the Lord build the house: their labour is but lost that build it.

Except the Lord keep the city: the watchman waketh but in vain.

It is but lost labour that ye haste to rise up early, and so late take rest, and eat the bread of carefulness: for so he giveth his beloved sleep.

Lo, children and the fruit of the womb: are an heritage and gift that cometh of the Lord.

Like as the arrows in the hand of the giant: even so are the young children.

Happy is the man that hath his quiver full of them: they shall not be ashamed when they speak with their enemies in the gate.

Glory be to the Father, and to the Son: and to the Holy Ghost;

As it was in the beginning, is now, and ever shall be: world without end. Amen.

¶ *Then the Priest shall say,*

Let us pray.

Lord, have mercy upon us.

Christ, have mercy upon us.

Lord, have mercy upon us.

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our trespasses, As we forgive them that trespass against us. And lead us not into temptation; But deliver us from evil: For thine is the kingdom, The power, and the glory, For ever and ever. Amen.

Minister. O Lord, save this woman thy servant;

Answer. Who putteth her trust in thee.

Minister. Be thou to her a strong tower;

Answer. From the face of her enemy.

Minister. Lord, hear our prayer.

Answer. And let our cry come unto thee.

Minister. Let us pray.

O Almighty God, we give thee humble thanks for that thou hast vouchsafed to deliver this woman thy servant from the great pain and peril of Child-birth; Grant, we beseech thee, most merciful Father, that she, through thy help, may both faithfully live, and walk according to thy will, in this life present; and also may be partaker of everlasting glory in the life to come; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *The Woman that cometh to give her Thanks, must offer accustomed Offerings; and, if there be a Communion, it is convenient that she receive the holy Communion.*

A COMMINATION,

OR DENOUNCING OF GOD'S ANGER AND JUDGEMENTS AGAINST SINNERS, WITH CERTAIN PRAYERS, TO BE USED ON THE FIRST DAY OF LENT, AND AT OTHER TIMES, AS THE ORDINARY SHALL APPOINT.

¶ *After Morning Prayer, the Litany ended according to the accustomed manner, the Priest shall, in the Reading-Pew or Pulpit, say,*

BRETHREN, in the Primitive Church there was a godly discipline, that, at the beginning of Lent, such persons as stood convicted of notorious sin were put to open penance, and punished in this world, that their souls might be saved in the day of the Lord; and that others, admonished by their example, might be the more afraid to offend.

Instead whereof, (until the said discipline may be restored again, which is much to be wished,) it is thought good, that at this time (in the presence of you all) should be read the general sentences of God's cursing against impenitent sinners, gathered out of the seven and twentieth Chapter of Deuteronomy, and other places of Scripture; and that ye should answer to every Sentence, *Amen:* To the intent that, being admonished of the great indignation of God against sinners, ye may the rather be moved to earnest and true repentance; and may walk more warily in these dangerous days; fleeing from such vices, for which ye affirm with your own mouths the curse of God to be due.

CURSED is the man that maketh any carved or molten image, to worship it.

¶ *And the people shall answer and say,* Amen.

Minister. Cursed is he that curseth his father or mother.

Answer. Amen.

Minister. Cursed is he that

removeth his neighbour's land-mark.

Answer. Amen.

Minister. Cursed is he that maketh the blind to go out of his way.

Answer. Amen.

Minister. Cursed is he that perverteth the judgement of the stranger, the fatherless, and widow.

Answer. Amen.

Minister. Cursed is he that smiteth his neighbour secretly.

Answer. Amen.

Minister. Cursed is he that lieth with his neighbour's wife.

Answer. Amen.

Minister. Cursed is he that taketh reward to slay the innocent.

Answer. Amen.

Minister. Cursed is he that putteth his trust in man, and taketh man for his defence, and in his heart goeth from the Lord.

Answer. Amen.

Minister. Cursed are the unmerciful, fornicators, and adulterers, covetous persons, idolaters, slanderers, drunkards, and extortioners.

Answer. Amen.

Minister.

NOW seeing that all they are accursed (as the prophet David beareth witness) who do err and go astray from the commandments of God; let us (remembering the dreadful judgement hanging over our heads, and always ready to fall upon us) return unto our Lord God, with all contrition and meekness of heart; bewailing and lamenting our sinful life, acknowledging and confessing our offences, and seeking to bring forth worthy fruits of penance. For now is the ax put unto the root of the trees, so that every tree that bringeth not forth good fruit is hewn down, and cast into the fire. It is a fearful thing to fall into the hands of the living God: he shall pour down rain upon the sinners, snares, fire and brimstone, storm and tempest; this shall be their portion to drink. For lo, the Lord is come out of his place to visit the wickedness of such as dwell upon the earth. But who may abide the day of his coming? Who shall be able to endure when he appeareth? His fan is in his hand, and he will purge his floor, and gather his wheat into the barn; but he will burn the chaff with unquenchable fire. The day of the Lord cometh as a thief in the night: and when men shall say, Peace, and all things are safe, then shall sudden destruction come upon them, as sorrow cometh upon a woman travailing with child, and

they shall not escape. Then shall appear the wrath of God in the day of vengeance, which obstinate sinners, through the stubbornness of their heart, have heaped unto themselves; which despised the goodness, patience, and long-sufferance of God, when he calleth them continually to repentance. Then shall they call upon me, (saith the Lord,) but I will not hear; they shall seek me early, but they shall not find me; and that, because they hated knowledge, and received not the fear of the Lord, but abhorred my counsel, and despised my correction. Then shall it be too late to knock when the door shall be shut; and too late to cry for mercy when it is the time of justice. O terrible voice of most just judgement, which shall be pronounced upon them, when it shall be said unto them, Go, ye cursed, into the fire everlasting, which is prepared for the devil and his angels. Therefore, brethren, take we heed betime, while the day of salvation lasteth; for the night cometh, when none can work. But let us, while we have the light, believe in the light, and walk as children of the light; that we be not cast into utter darkness, where is weeping and gnashing of teeth. Let us not abuse the goodness of God, who calleth us mercifully to amendment, and of his endless pity promiseth us forgiveness of that which is past, if with a perfect and true heart we return unto him. For though our sins be as red as scarlet, they shall be made white as snow; and though they be like purple, yet they shall be made white as wool. Turn ye (saith the Lord) from all your wickedness, and your sin shall not be your destruction: Cast away from you all your ungodliness that ye have done: Make you new hearts, and a new spirit: Wherefore will ye die, O ye house of Israel, seeing that I have no pleasure in the death of him that dieth, saith the Lord God? Turn ye then, and ye shall live. Although we have sinned, yet have we an Advocate with the Father, Jesus Christ the righteous; and he is the propitiation for our sins. For he was wounded for our offences, and smitten for our wickedness. Let us therefore return unto him, who is the merciful receiver of all true penitent sinners; assuring ourselves that he is ready to receive us, and most willing to pardon us, if we come unto him with faithful repentance; if we submit ourselves unto him, and from henceforth walk in his ways; if we will take his easy yoke, and light

burden upon us, to follow him in lowliness, patience, and charity, and be ordered by the governance of his Holy Spirit; seeking always his glory, and serving him duly in our vocation with thanksgiving: This if we do, Christ will deliver us from the curse of the law, and from the extreme malediction which shall light upon them that shall be set on the left hand; and he will set us on his right hand, and give us the gracious benediction of his Father, commanding us to take possession of his glorious kingdom: Unto which he vouchsafe to bring us all, for his infinite mercy. Amen.

¶ *Then shall they all kneel upon their knees, and the Priest and Clerks kneeling (in the place where they are accustomed to say the Litany) shall say this Psalm.*

Miserere mei, Deus. Psalm li.

HAVE mercy upon me, O God, after thy great goodness: according to the multitude of thy mercies do away mine offences.

Wash me throughly from my wickedness: and cleanse me from my sin.

For I acknowledge my faults: and my sin is ever before me.

Against thee only have I sinned, and done this evil in thy sight: that thou mightest be justified in thy saying, and clear when thou art judged.

Behold, I was shapen in wickedness: and in sin hath my mother conceived me.

But lo, thou requirest truth in the inward parts: and shalt make me to understand wisdom secretly.

Thou shalt purge me with hyssop, and I shall be clean: thou shalt wash me, and I shall be whiter than snow.

Thou shalt make me hear of joy and gladness: that the bones which thou hast broken may rejoice.

Turn thy face away from my sins: and put out all my misdeeds.

Make me a clean heart, O God: and renew a right spirit within me.

Cast me not away from thy presence: and take not thy holy Spirit from me.

O give me the comfort of thy help again: and stablish me with thy free Spirit.

Then shall I teach thy ways unto the wicked: and sinners shall be converted unto thee.

Deliver me from blood-guiltiness, O God, thou that art the God of my health: and my tongue shall sing of thy righteousness.

Thou shalt open my lips, O Lord: and my mouth shall shew thy praise.

For thou desirest no sacrifice, else would I give it thee:

but thou delightest not in burnt-offerings.

The sacrifice of God is a troubled spirit: a broken and contrite heart, O God, shalt thou not despise.

O be favourable and gracious unto Sion: build thou the walls of Jerusalem.

Then shalt thou be pleased with the sacrifice of righteousness, with the burnt-offerings and oblations: then shall they offer young bullocks upon thine altar.

Glory be to the Father, and to the Son: and to the Holy Ghost;

Answer. As it was in the beginning, is now, and ever shall be: world without end. Amen.

Lord, have mercy upon us.
Christ, have mercy upon us.
Lord, have mercy upon us.

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our trespasses, As we forgive them that trespass against us. And lead us not into temptation; But deliver us from evil. Amen.

Minister. O Lord, save thy servants;

Answer. That put their trust in thee.

Minister. Send unto them help from above.

Answer. And evermore mightily defend them.

Minister. Help us, O God our Saviour.

Answer. And for the glory of thy Name deliver us; be merciful to us sinners, for thy Name's sake.

Minister. O Lord, hear our prayer.

Answer. And let our cry come unto thee.

Minister. Let us pray.

O Lord, we beseech thee, mercifully hear our prayers, and spare all those who confess their sins unto thee; that they, whose consciences by sin are accused, by thy merciful pardon may be absolved; through Christ our Lord. *Amen.*

O Most mighty God, and merciful Father, who hast compassion upon all men, and hatest nothing that thou hast made; who wouldest not the death of a sinner, but that he should rather turn from his sin, and be saved; Mercifully forgive us our trespasses; receive and comfort us, who are grieved and wearied with the burden of our sins. Thy property is always to have mercy; to thee only it appertaineth to forgive sins. Spare us therefore, good Lord, spare thy people, whom thou hast redeemed;

enter not into judgement with thy servants, who are vile earth, and miserable sinners; but so turn thine anger from us, who meekly acknowledge our vileness, and truly repent us of our faults, and so make haste to help us in this world, that we may ever live with thee in the world to come; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *Then shall the people say this that followeth, after the Minister.*

TURN thou us, O good Lord, and so shall we be turned. Be favourable, O Lord, Be favourable to thy people, Who turn to thee in weeping, fasting, and praying. For thou art a merciful God, Full of compassion, Long-suffering, and of great pity. Thou sparest when we deserve punishment, And in thy wrath thinkest upon mercy. Spare thy people, good Lord, spare them, And let not thine heritage be brought to confusion. Hear us, O Lord, for thy mercy is great, And after the multitude of thy mercies look upon us; Through the merits and mediation of thy blessed Son, Jesus Christ our Lord. Amen.

¶ *Then the Minister alone shall say,*

THE Lord bless us, and keep us; the Lord lift up the light of his countenance upon us, and give us peace, now and for evermore. *Amen.*

THE

PSALMS OF DAVID.

THE FIRST DAY.

Morning Prayer.

PSALM 1. *Beatus vir, qui non abiit &c.*

BLESSED is the man, that hath not walked in the counſel of the ungodly, nor ſtood in the way of ſinners : and hath not ſat in the ſeat of the ſcornful.

2 But his delight is in the law of the Lord : and in his law will he exerciſe himſelf day and night.

3 And he ſhall be like a tree planted by the water-ſide : that will bring forth his fruit in due ſeaſon.

4 His leaf alſo ſhall not wither : and look, whatſoever he doeth, it ſhall proſper.

5 As for the ungodly, it is not ſo with them : but they are like the chaff, which the wind ſcattereth away from the face of the earth.

6 Therefore the ungodly ſhall not be able to ſtand in the judgement : neither the ſinners in the congregation of the righteous.

7 But the Lord knoweth the way of the righteous : and the way of the ungodly ſhall periſh.

PSALM 2. *Quare fremuerunt gentes?*

WHY do the heathen ſo furiouſly rage together : and why do the people imagine a vain thing?

2 The kings of the earth ſtand up, and the rulers take counſel together : againſt the Lord, and againſt his Anointed.

3 Let us break their bonds aſunder : and caſt away their cords from us.

4 He that dwelleth in heaven ſhall laugh them to ſcorn : the Lord ſhall have them in deriſion.

5 Then ſhall he ſpeak unto them in his wrath : and vex them in his ſore diſpleaſure.

6 Yet have I ſet my King : upon my holy hill of Sion.

7 I will preach the law, whereof the Lord hath ſaid unto me : Thou art my Son, this day have I begotten thee.

8 Deſire of me, and I ſhall give thee the heathen for thine inheritance : and the utmoſt parts of the earth for thy poſſeſſion.

9 Thou ſhalt bruiſe them with a rod of iron : and break them in pieces like a potter's veſſel.

10 Be wiſe now therefore, O ye kings : be learned, ye that are judges of the earth.

11 Serve the Lord in fear : and rejoice unto him with reverence.

12 Kiſs the Son, leſt he be angry, and ſo

ye periſh from the right way : if his wrath be kindled, (yea, but a little,) bleſſed are all they that put their truſt in him.

PSALM 3. *Domine, quid multiplicati?*

LORD, how are they increaſed that trouble me : many are they that riſe againſt me.

2 Many one there be that ſay of my ſoul : There is no help for him in his God.

3 But thou, O Lord, art my defender : thou art my worſhip, and the lifter up of my head.

4 I did call upon the Lord with my voice : and he heard me out of his holy hill.

5 I laid me down and ſlept, and roſe up again : for the Lord ſuſtained me.

6 I will not be afraid for ten thouſands of the people : that have ſet themſelves againſt me round about.

7 Up, Lord, and help me, O my God : for thou ſmiteſt all mine enemies upon the cheek-bone; thou haſt broken the teeth of the ungodly.

8 Salvation belongeth unto the Lord : and thy bleſſing is upon thy people.

PSALM 4. *Cum invocarem.*

HEAR me when I call, O God of my righteouſneſs : thou haſt ſet me at liberty when I was in trouble; have mercy upon me, and hearken unto my prayer.

2 O ye ſons of men, how long will ye blaſpheme mine honour : and have ſuch pleaſure in vanity, and ſeek after leaſing?

3 Know this alſo, that the Lord hath choſen to himſelf the man that is godly : when I call upon the Lord, he will hear me.

4 Stand in awe, and ſin not : commune with your own heart, and in your chamber, and be ſtill.

5 Offer the ſacrifice of righteouſneſs : and put your truſt in the Lord.

6 There be many that ſay : Who will ſhew us any good?

7 Lord, lift thou up : the light of thy countenance upon us.

8 Thou haſt put gladneſs in my heart : ſince the time that their corn, and wine, and oil, increaſed.

9 I will lay me down in peace, and take my reſt : for it is thou, Lord, only, that makeſt me dwell in ſafety.

PSALM 5. *Verba mea auribus.*

PONDER my words, O Lord : conſider my meditation.

2 O hearken thou unto the voice of my calling, my King, and my God : for unto thee will I make my prayer.

3 My voice ſhalt thou hear betimes, O Lord : early in the morning will I direct my prayer unto thee, and will look up.

4 For thou art the God that haſt no pleaſure in wickedneſs : neither ſhall any evil dwell with thee.

5 Such as be fooliſh ſhall not ſtand in thy ſight : for thou hateſt all them that work vanity.

6 Thou ſhalt deſtroy them that ſpeak leaſing : the Lord will abhor both the blood-thirſty and deceitful man.

7 But as for me, I will come into thine houſe, even upon the multitude of thy mercy : and in thy fear will I worſhip toward thy holy temple.

8 Lead me, O Lord, in thy righteouſneſs, becauſe of mine enemies : make thy way plain before my face.

9 For there is no faithfulneſs in his mouth : their inward parts are very wickedneſs.

10 Their throat is an open ſepulchre : they flatter with their tongue.

11 Deſtroy thou them, O God; let them periſh through their own imaginations : caſt them out in the multitude of their ungodlineſs ; for they have rebelled againſt thee.

12 And let all them that put their truſt in thee rejoice : they ſhall ever be giving of thanks, becauſe thou defendeſt them ; they that love thy Name ſhall be joyful in thee ;

13 For thou, Lord, wilt give thy bleſſing unto the righteous : and with thy favourable kindneſs wilt thou defend him as with a ſhield.

Evening Prayer.

PSALM 6. *Domine, ne in furore.*

O Lord, rebuke me not in thine indignation: neither chaſten me in thy diſpleaſure.

2 Have mercy upon me, O Lord, for I am weak: O Lord, heal me, for my bones are vexed.

3 My ſoul alſo is ſore troubled: but, Lord, how long wilt thou puniſh me?

4 Turn thee, O Lord, and deliver my ſoul: O ſave me for thy mercy's ſake.

5 For in death no man remembereth thee: and who will give thee thanks in the pit?

6 I am weary of my groaning; every night waſh I my bed: and water my couch with my tears.

7 My beauty is gone for very trouble: and worn away becauſe of all mine enemies.

8 Away from me, all ye that work vanity: for the Lord hath heard the voice of my weeping.

9 The Lord hath heard my petition: the Lord will receive my prayer.

10 All mine enemies ſhall be confounded, and ſore vexed: they ſhall be turned back, and put to ſhame ſuddenly.

PSALM 7. *Domine, Deus meus.*

O Lord my God, in thee have I put my truſt: ſave me from all them that perſecute me, and deliver me;

2 Leſt he devour my ſoul, like a lion, and tear it in pieces : while there is none to help.

3 O Lord my God, if I have done any ſuch thing : or if there be any wickedneſs in my hands ;

4 If I have rewarded evil unto him that dealt friendly with me : yea, I have delivered him that without any cauſe is mine enemy ;

5 Then let mine enemy perſecute my ſoul, and take me : yea, let him tread my life down upon the earth, and lay mine honour in the duſt.

6 Stand up, O Lord, in thy wrath, and lift up thyſelf, becauſe of the indignation of mine enemies : ariſe up for me in the judgement that thou haſt commanded.

7 And ſo ſhall the congregation of the people come about thee : for their ſakes therefore lift up thyſelf again.

8 The Lord ſhall judge the people ; give ſentence with me, O Lord : according to my righteouſneſs, and according to the innocency that is in me.

9 O let the wickedneſs of the ungodly come to an end : but guide thou the juſt.

10 For the righteous God : trieth the very hearts and reins.

11 My help cometh of God : who preſerveth them that are true of heart.

12 God is a righteous Judge, ſtrong, and patient : and God is provoked every day.

13 If a man will not turn, he will whet his ſword : he hath bent his bow, and made it ready.

14 He hath prepared for him the inſtruments of death : he ordaineth his arrows againſt the perſecutors.

15 Behold, he travaileth with miſchief : he hath conceived ſorrow, and brought forth ungodlineſs.

16 He hath graven and digged up a pit : and is fallen himſelf into the deſtruction that he made for other.

17 For his travail ſhall come upon his own head : and his wickedneſs ſhall fall on his own pate.

18 I will give thanks unto the Lord, according to his righteouſneſs : and I will praiſe the name of the Lord moſt High.

PSALM 8. *Domine, Dominus noſter.*

O Lord our Governour, how excellent is thy Name in all the world : thou that haſt ſet thy glory above the heavens!

2 Out of the mouth of very babes and ſucklings haſt thou ordained ſtrength, becauſe of thine enemies : that thou mighteſt ſtill the enemy, and the avenger.

3 For I will conſider thy heavens, even the works of thy fingers : the moon and the ſtars, which thou haſt ordained.

4 What is man, that thou art mindful of

him : and the ſon of man, that thou viſiteſt him ?

5 Thou madeſt him lower than the angels : to crown him with glory and worſhip.

6 Thou makeſt him to have dominion of the works of thy hands : and thou haſt put all things in ſubjection under his feet ;

7 All ſheep and oxen : yea, and the beaſts of the field ;

8 The fowls of the air, and the fiſhes of the ſea : and whatſoever walketh through the paths of the ſeas.

9 O Lord our Governour : how excellent is thy Name in all the world !

Morning Prayer.

Psalm 9. *Confitebor tibi.*

I Will give thanks unto thee, O Lord, with my whole heart : I will ſpeak of all thy marvellous works.

2 I will be glad and rejoice in thee : yea, my ſongs will I make of thy Name, O thou moſt Higheſt.

3 While mine enemies are driven back : they ſhall fall and periſh at thy preſence.

4 For thou haſt maintained my right and my cauſe : thou art ſet in the throne that judgeſt right.

5 Thou haſt rebuked the heathen, and de-

ſtroyed the ungodly : thou haſt put out their name for ever and ever.

6 O thou enemy, deſtructions are come to a perpetual end : even as the cities which thou haſt deſtroyed; their memorial is periſhed with them.

7 But the Lord ſhall endure for ever : he hath alſo prepared his ſeat for judgement.

8 For he ſhall judge the world in righteouſneſs : and miniſter true judgement unto the people.

9 The Lord alſo will be a defence for the oppreſſed : even a refuge in due time of trouble.

10 And they that know thy Name will put their truſt in thee : for thou, Lord, haſt never failed them that ſeek thee.

11 O praiſe the Lord which dwelleth in Sion : ſhew the people of his doings.

12 For, when he maketh inquiſition for blood, he remembereth them : and forgetteth not the complaint of the poor.

13 Have mercy upon me, O Lord; conſider the trouble which I ſuffer of them that hate me : thou that lifteſt me up from the gates of death.

14 That I may ſhew all thy praiſes within the ports of the daughter of Sion : I will rejoice in thy ſalvation.

15 The heathen are ſunk down in the pit

that they made: in the ſame net which they hid privily, is their foot taken.

16 The Lord is known to execute judgement: the ungodly is trapped in the work of his own hands.

17 The wicked ſhall be turned into hell: and all the people that forget God.

18 For the poor ſhall not alway be forgotten: the patient abiding of the meek ſhall not periſh for ever.

19 Up, Lord, and let not man have the upper hand: let the heathen be judged in thy ſight.

20 Put them in fear, O Lord: that the heathen may know themſelves to be but men.

Psalm 10. *Ut quid, Domine?*

WHY ſtandeſt thou ſo far off, O Lord: and hideſt thy face in the needful time of trouble?

2 The ungodly for his own luſt doth perſecute the poor: let them be taken in the crafty wilineſs that they have imagined.

3 For the ungodly hath made boaſt of his own heart's deſire: and ſpeaketh good of the covetous, whom God abhorreth.

4 The ungodly is ſo proud, that he careth not for God: neither is God in all his thoughts.

5 His ways are alway grievous: thy judge-

ments are far above out of his ſight, and therefore defieth he all his enemies.

6 For he hath ſaid in his heart, Tuſh, I ſhall never be caſt down : there ſhall no harm happen unto me.

7 His mouth is full of curſing, deceit, and fraud : under his tongue is ungodlineſs and vanity.

8 He ſitteth lurking in the thieviſh corners of the ſtreets : and privily in his lurking dens doth he murder the innocent ; his eyes are ſet againſt the poor.

9 For he lieth waiting ſecretly, even as a lion lurketh he in his den : that he may raviſh the poor.

10 He doth raviſh the poor : when he getteth him into his net.

11 He falleth down, and humbleth himſelf : that the congregation of the poor may fall into the hands of his captains.

12 He hath ſaid in his heart, Tuſh, God hath forgotten : he hideth away his face, and he will never ſee it.

13 Ariſe, O Lord God, and lift up thine hand : forget not the poor.

14 Wherefore ſhould the wicked blaſpheme God : while he doth ſay in his heart, Tuſh, thou God careſt not for it.

15 Surely thou haſt ſeen it : for thou beholdeſt ungodlineſs and wrong.

16 That thou mayeſt take the matter into thine hand : the poor committeth himſelf unto thee ; for thou art the helper of the friendleſs.

17 Break thou the power of the ungodly and malicious : take away his ungodlineſs, and thou ſhalt find none.

18 The Lord is King for ever and ever : and the heathen are periſhed out of the land.

19 Lord, thou haſt heard the deſire of the poor : thou prepareſt their heart, and thine ear hearkeneth thereto ;

20 To help the fatherleſs and poor unto their right : that the man of the earth be no more exalted againſt them.

PSALM 11. *In Domino confido.*

IN the Lord put I my truſt : how ſay ye then to my ſoul, that ſhe ſhould flee as a bird unto the hill ?

2 For lo, the ungodly bend their bow, and make ready their arrows within the quiver : that they may privily ſhoot at them which are true of heart.

3 For the foundations will be caſt down : and what hath the righteous done ?

4 The Lord is in his holy temple : the Lord's ſeat is in heaven.

5 His eyes conſider the poor : and his eyelids try the children of men.

6 The Lord alloweth the righteous : but

the ungodly, and him that delighteth in wickedneſs doth his ſoul abhor.

7 Upon the ungodly he ſhall rain ſnares, fire and brimſtone, ſtorm and tempeſt : this ſhall be their portion to drink.

8 For the righteous Lord loveth righteouſneſs : his countenance will behold the thing that is juſt.

Evening Prayer.

Psalm 12. *Salvum me fac.*

HELP me, Lord, for there is not one godly man left : for the faithful are miniſhed from among the children of men.

2 They talk of vanity every one with his neighbour : they do but flatter with their lips, and diſſemble in their double heart.

3 The Lord ſhall root out all deceitful lips : and the tongue that ſpeaketh proud things ;

4 Which have ſaid, With our tongue will we prevail : we are they that ought to ſpeak, who is lord over us ?

5 Now for the comfortleſs troubles' ſake of the needy : and becauſe of the deep ſighing of the poor,

6 I will up, ſaith the Lord : and will help every one from him that ſwelleth againſt him, and will ſet him at reſt.

7 The words of the Lord are pure words : even as the ſilver, which from the earth is tried, and purified ſeven times in the fire.

8 Thou ſhalt keep them, O Lord : thou ſhalt preſerve him from this generation for ever.

9 The ungodly walk on every ſide : when they are exalted, the children of men are put to rebuke.

Psalm 13. *Uſque quo, Domine?*

HOW long wilt thou forget me, O Lord, for ever : how long wilt thou hide thy face from me?

2 How long ſhall I ſeek counſel in my ſoul, and be ſo vexed in my heart : how long ſhall mine enemies triumph over me?

3 Conſider, and hear me, O Lord my God : lighten mine eyes, that I ſleep not in death.

4 Leſt mine enemy ſay, I have prevailed againſt him : for if I be caſt down, they that trouble me will rejoice at it.

5 But my truſt is in thy mercy : and my heart is joyful in thy ſalvation.

6 I will ſing of the Lord, becauſe he hath dealt ſo lovingly with me : yea, I will praiſe the Name of the Lord moſt Higheſt.

Psalm 14. *Dixit inſipiens.*

THE fool hath ſaid in his heart : There is no God.

2 They are corrupt, and become abominable in their doings : there is none that doeth good, no not one.

3 The Lord looked down from heaven upon the children of men : to ſee if there were any that would underſtand, and ſeek after God.

4 But they are all gone out of the way, they are altogether become abominable : there is none that doeth good, no not one.

5 Their throat is an open ſepulchre, with their tongues have they deceived : the poiſon of aſps is under their lips.

6 Their mouth is full of curſing and bitterneſs : their feet are ſwift to ſhed blood.

7 Deſtruction and unhappineſs is in their ways, and the way of peace have they not known : there is no fear of God before their eyes.

8 Have they no knowledge, that they are all ſuch workers of mischief : eating up my people as it were bread, and call not upon the Lord ?

9 There were they brought in great fear, even where no fear was : for God is in the generation of the righteous.

10 As for you, ye have made a mock at the counſel of the poor : becauſe he putteth his truſt in the Lord.

11 Who ſhall give ſalvation unto Iſrael out of Sion ? When the Lord turneth the captivity of his people : then ſhall Jacob rejoice, and Iſrael ſhall be glad.

Morning Prayer.

PSALM 15. *Domine, quis habitabit?*

LORD, who ſhall dwell in thy tabernacle : or who ſhall reſt upon thy holy hill ?

2 Even he, that leadeth an uncorrupt life : and doeth the thing which is right, and ſpeaketh the truth from his heart.

3 He that hath uſed no deceit in his tongue, nor done evil to his neighbour : and hath not ſlandered his neighbour.

4 He that ſetteth not by himſelf, but is lowly in his own eyes : and maketh much of them that fear the Lord.

5 He that ſweareth unto his neighbour, and diſappointeth him not : though it were to his own hindrance.

6 He that hath not given his money upon uſury : nor taken reward againſt the innocent.

7 Whoſo doeth theſe things : ſhall never fall.

PSALM 16. *Conſerva me, Domine.*

PRESERVE me, O God : for in thee have I put my truſt.

2 O my ſoul, thou haſt ſaid unto the Lord : Thou art my God, my goods are nothing unto thee.

3 All my delight is upon the ſaints, that are in the earth : and upon ſuch as excel in virtue.

4 But they that run after another god : ſhall have great trouble.

5 Their drink-offerings of blood will I not offer : neither make mention of their names within my lips.

6 The Lord himſelf is the portion of mine inheritance, and of my cup : thou ſhalt maintain my lot.

7 The lot is fallen unto me in a fair ground : yea, I have a goodly heritage.

8 I will thank the Lord for giving me warning : my reins alſo chaſten me in the night ſeaſon.

9 I have ſet God always before me : for he is on my right hand, therefore I ſhall not fall.

10 Wherefore my heart was glad, and my glory rejoiced : my fleſh alſo ſhall reſt in hope.

11 For why? thou ſhalt not leave my ſoul in hell : neither ſhalt thou ſuffer thy Holy One to ſee corruption.

12 Thou ſhalt ſhew me the path of life; in thy preſence is the fulneſs of joy : and at thy right hand there is pleaſure for evermore.

Psalm 17. *Exaudi, Domine.*

HEAR the right, O Lord, conſider my complaint : and hearken unto my prayer, that goeth not out of feigned lips.

2 Let my ſentence come forth from thy preſence : and let thine eyes look upon the thing that is equal.

3 Thou haſt proved and viſited mine heart in the night ſeaſon; thou haſt tried me, and

ſhalt find no wickedneſs in me : for I am utterly purpoſed that my mouth ſhall not offend.

4 Becauſe of men's works, that are done againſt the words of thy lips : I have kept me from the ways of the deſtroyer.

5 O hold thou up my goings in thy paths : that my footſteps ſlip not.

6 I have called upon thee, O God, for thou ſhalt hear me : incline thine ear to me, and hearken unto my words.

7 Shew thy marvellous loving-kindneſs, thou that art the Saviour of them which put their truſt in thee : from ſuch as reſiſt thy right hand.

8 Keep me as the apple of an eye : hide me under the ſhadow of thy wings,

9 From the ungodly that trouble me : mine enemies compaſs me round about to take away my ſoul.

10 They are incloſed in their own fat : and their mouth ſpeaketh proud things.

11 They lie waiting in our way on every ſide : turning their eyes down to the ground;

12 Like as a lion that is greedy of his prey : and as it were a lion's whelp, lurking in ſecret places.

13 Up, Lord, diſappoint him, and caſt him down : deliver my ſoul from the ungodly, which is a ſword of thine ;

14 From the men of thy hand, O Lord, from the men, I ſay, and from the evil world : which have their portion in this life, whoſe bellies thou filleſt with thy hid treaſure.

15 They have children at their deſire : and leave the reſt of their ſubſtance for their babes.

16 But as for me, I will behold thy preſence in righteouſneſs : and when I awake up after thy likeneſs, I ſhall be ſatisfied with it.

Evening Prayer.

PSALM 18. *Diligam te, Domine.*

I Will love thee, O Lord, my ſtrength ; the Lord is my ſtony rock, and my defence : my Saviour, my God, and my might, in whom I will truſt, my buckler, the horn alſo of my ſalvation, and my refuge.

2 I will call upon the Lord, which is worthy to be praiſed : ſo ſhall I be ſafe from mine enemies.

3 The ſorrows of death compaſſed me : and the overflowings of ungodlineſs made me afraid.

4 The pains of hell came about me : the ſnares of death overtook me.

5 In my trouble I will call upon the Lord : and complain unto my God.

6 So ſhall he hear my voice out of his holy

temple : and my complaint ſhall come before him, it ſhall enter even into his ears.

7 The earth trembled and quaked : the very foundations alſo of the hills ſhook, and were removed, becauſe he was wroth.

8 There went a ſmoke out in his preſence : and a conſuming fire out of his mouth, ſo that coals were kindled at it.

9 He bowed the heavens alſo, and came down : and it was dark under his feet.

10 He rode upon the cherubims, and did fly : he came flying upon the wings of the wind.

11 He made darkneſs his ſecret place : his pavilion round about him with dark water, and thick clouds to cover him.

12 At the brightneſs of his preſence his clouds removed : hail-ſtones, and coals of fire.

13 The Lord alſo thundered out of heaven, and the Higheſt gave his thunder : hail-ſtones, and coals of fire.

14 He ſent out his arrows, and ſcattered them : he caſt forth lightnings, and deſtroyed them.

15 The ſprings of waters were ſeen, and the foundations of the round world were diſcovered, at thy chiding, O Lord : at the blaſting of the breath of thy diſpleaſure.

16 He ſhall ſend down from on high to fetch me : and ſhall take me out of many waters.

17 He ſhall deliver me from my ſtrongeſt enemy, and from them which hate me : for they are too mighty for me.

18 They prevented me in the day of my trouble : but the Lord was my upholder.

19 He brought me forth alſo into a place of liberty : he brought me forth, even becauſe he had a favour unto me.

20 The Lord ſhall reward me after my righteous dealing : according to the cleanneſs of my hands ſhall he recompenſe me.

21 Becauſe I have kept the ways of the Lord : and have not forſaken my God, as the wicked doth.

22 For I have an eye unto all his laws : and will not caſt out his commandments from me.

23 I was alſo uncorrupt before him : and eſchewed mine own wickedneſs.

24 Therefore ſhall the Lord reward me after my righteous dealing : and according unto the cleanneſs of my hands in his eye-ſight.

25 With the holy thou ſhalt be holy : and with a perfect man thou ſhalt be perfect.

26 With the clean thou ſhalt be clean : and with the froward thou ſhalt learn frowardneſs.

27 For thou ſhalt ſave the people that are in adverſity : and ſhalt bring down the high looks of the proud.

28 Thou alſo ſhalt light my candle : the

Lord my God ſhall make my darkneſs to be light.

29 For in thee I ſhall diſcomfit an hoſt of men : and with the help of my God I ſhall leap over the wall.

30 The way of God is an undefiled way : the word of the Lord alſo is tried in the fire ; he is the defender of all them that put their truſt in him.

31 For who is God, but the Lord : or who hath any ſtrength, except our God ?

32 It is God, that girdeth me with ſtrength of war : and maketh my way perfect.

33 He maketh my feet like harts' feet : and ſetteth me up on high.

34 He teacheth mine hands to fight : and mine arms ſhall break even a bow of ſteel.

35 Thou haſt given me the defence of thy ſalvation : thy right hand alſo ſhall hold me up, and thy loving correction ſhall make me great.

36 Thou ſhalt make room enough under me for to go : that my footſteps ſhall not ſlide.

37 I will follow upon mine enemies, and overtake them : neither will I turn again till I have deſtroyed them.

38 I will ſmite them, that they ſhall not be able to ſtand : but fall under my feet.

39 Thou haſt girded me with ſtrength unto

the battle : thou ſhalt throw down mine enemies under me.

40 Thou haſt made mine enemies alſo to turn their backs upon me : and I ſhall deſtroy them that hate me.

41 They ſhall cry, but there ſhall be none to help them : yea, even unto the Lord ſhall they cry, but he ſhall not hear them.

42 I will beat them as ſmall as the duſt before the wind : I will caſt them out as the clay in the ſtreets.

43 Thou ſhalt deliver me from the ſtrivings of the people : and thou ſhalt make me the head of the heathen.

44 A people whom I have not known : ſhall ſerve me.

45 As ſoon as they hear of me, they ſhall obey me : but the ſtrange children ſhall diſſemble with me.

46 The ſtrange children ſhall fail : and be afraid out of their priſons.

47 The Lord liveth, and bleſſed be my ſtrong helper : and praiſed be the God of my ſalvation.

48 Even the God that ſeeth that I be avenged : and ſubdueth the people unto me.

49 It is he that delivereth me from my cruel enemies, and ſetteth me up above mine adverſaries : thou ſhalt rid me from the wicked man.

50 For this cauſe will I give thanks unto thee, O Lord, among the Gentiles : and ſing praiſes unto thy Name.

51 Great proſperity giveth he unto his King : and ſheweth loving-kindneſs unto David his Anointed, and unto his ſeed for evermore.

Morning Prayer.

Psalm 19. *Cœli enarrant.*

THE heavens declare the glory of God : and the firmament ſheweth his handy-work.

2 One day telleth another : and one night certifieth another.

3 There is neither ſpeech nor language : but their voices are heard among them.

4 Their ſound is gone out into all lands : and their words into the ends of the world.

5 In them hath he ſet a tabernacle for the ſun : which cometh forth as a bridegroom out of his chamber, and rejoiceth as a giant to run his courſe.

6 It goeth forth from the uttermoſt part of the heaven, and runneth about unto the end of it again : and there is nothing hid from the heat thereof.

7 The law of the Lord is an undefiled law, converting the ſoul : the teſtimony of the Lord is ſure, and giveth wiſdom unto the ſimple.

8 The ſtatutes of the Lord are right, and rejoice the heart : the commandment of the Lord is pure, and giveth light unto the eyes.

9 The fear of the Lord is clean, and endureth for ever : the judgements of the Lord are true, and righteous altogether.

10 More to be deſired are they than gold, yea, than much fine gold : ſweeter alſo than honey, and the honey-comb.

11 Moreover, by them is thy ſervant taught : and in keeping of them there is great reward.

12 Who can tell how oft he offendeth : O cleanſe thou me from my ſecret faults.

13 Keep thy ſervant alſo from preſumptuous ſins, leſt they get the dominion over me : ſo ſhall I be undefiled, and innocent from the great offence.

14 Let the words of my mouth, and the meditation of my heart : be alway acceptable in thy ſight,

15 O Lord : my ſtrength, and my redeemer.

Psalm 20. *Exaudiat te Dominus.*

THE Lord hear thee in the day of trouble : the Name of the God of Jacob defend thee ;

2 Send thee help from the ſanctuary : and ſtrengthen thee out of Sion ;

3 Remember all thy offerings : and accept thy burnt ſacrifice ;

4 Grant thee thy heart's deſire : and fulfil all thy mind.

5 We will rejoice in thy ſalvation, and triumph in the Name of the Lord our God : the Lord perform all thy petitions.

6 Now know I, that the Lord helpeth his Anointed, and will hear him from his holy heaven : even with the wholeſome ſtrength of his right hand.

7 Some put their truſt in chariots, and ſome in horſes : but we will remember the Name of the Lord our God.

8 They are brought down, and fallen : but we are riſen, and ſtand upright.

9 Save, Lord, and hear us, O King of heaven : when we call upon thee.

PSALM 21. *Domine, in virtute tua.*

THE King ſhall rejoice in thy ſtrength, O Lord : exceeding glad ſhall he be of thy ſalvation.

2 Thou haſt given him his heart's deſire : and haſt not denied him the requeſt of his lips.

3 For thou ſhalt prevent him with the bleſſings of goodneſs : and ſhalt ſet a crown of pure gold upon his head.

4 He aſked life of thee, and thou gaveſt him a long life ; even for ever and ever.

5 His honour is great in thy ſalvation : glory and great worſhip ſhalt thou lay upon him.

6 For thou ſhalt give him everlaſting felicity : and make him glad with the joy of thy countenance.

7 And why? becauſe the King putteth his truſt in the Lord : and in the mercy of the moſt Higheſt he ſhall not miſcarry.

8 All thine enemies ſhall feel thy hand : thy right hand ſhall find out them that hate thee.

9 Thou ſhalt make them like a fiery oven in time of thy wrath : the Lord ſhall deſtroy them in his diſpleaſure, and the fire ſhall conſume them.

10 Their fruit ſhalt thou root out of the earth : and their ſeed from among the children of men.

11 For they intended miſchief againſt thee : and imagined ſuch a device as they are not able to perform.

12 Therefore ſhalt thou put them to flight : and the ſtrings of thy bow ſhalt thou make ready againſt the face of them.

13 Be thou exalted, Lord, in thine own ſtrength: ſo will we ſing, and praiſe thy power.

Evening Prayer.

PSALM 22. *Deus, Deus meus.*

MY God, my God, look upon me; why haſt thou forſaken me : and art ſo far

from my health, and from the words of my complaint?

2 O my God, I cry in the day time, but thou heareſt not: and in the night ſeaſon alſo I take no reſt.

3 And thou continueſt holy: O thou worſhip of Iſrael.

4 Our fathers hoped in thee: they truſted in thee, and thou didſt deliver them.

5 They called upon thee, and were holpen: they put their truſt in thee, and were not confounded.

6 But as for me, I am a worm, and no man: a very ſcorn of men, and the outcaſt of the people.

7 All they that ſee me laugh me to ſcorn: they ſhoot out their lips, and ſhake their heads, ſaying,

8 He truſted in God, that he would deliver him: let him deliver him, if he will have him.

9 But thou art he, that took me out of my mother's womb: thou waſt my hope, when I hanged yet upon my mother's breaſts.

10 I have been left unto thee ever ſince I was born: thou art my God even from my mother's womb.

11 O go not from me, for trouble is hard at hand: and there is none to help me.

12 Many oxen are come about me: fat bulls of Baſan cloſe me in on every ſide.

13 They gape upon me with their mouths : as it were a ramping and a roaring lion.

14 I am poured out like water, and all my bones are out of joint : my heart alſo in the midſt of my body is even like melting wax.

15 My ſtrength is dried up like a potſherd, and my tongue cleaveth to my gums : and thou ſhalt bring me into the duſt of death.

16 For many dogs are come about me : and the council of the wicked layeth ſiege againſt me.

17 They pierced my hands and my feet ; I may tell all my bones : they ſtand ſtaring and looking upon me.

18 They part my garments among them : and caſt lots upon my veſture.

19 But be not thou far from me, O Lord : thou art my ſuccour, haſte thee to help me.

20 Deliver my ſoul from the ſword : my darling from the power of the dog.

21 Save me from the lion's mouth : thou haſt heard me alſo from among the horns of the unicorns.

22 I will declare thy Name unto my brethren : in the midſt of the congregation will I praiſe thee.

23 O praiſe the Lord, ye that fear him : magnify him, all ye of the ſeed of Jacob, and fear him, all ye ſeed of Iſrael ;

24 For he hath not deſpiſed, nor abhorred,

the low eſtate of the poor : he hath not hid his face from him, but when he called unto him he heard him.

25 My praiſe is of thee in the great congregation : my vows will I perform in the ſight of them that fear him.

26 The poor ſhall eat, and be ſatisfied : they that ſeek after the Lord ſhall praiſe him; your heart ſhall live for ever.

27 All the ends of the world ſhall remember themſelves, and be turned unto the Lord : and all the kindreds of the nations ſhall worſhip before him.

28 For the kingdom is the Lord's : and he is the Governour among the people.

29 All ſuch as be fat upon earth : have eaten, and worſhipped.

30 All they that go down into the duſt ſhall kneel before him : and no man hath quickened his own ſoul.

31 My ſeed ſhall ſerve him : they ſhall be counted unto the Lord for a generation.

32 They ſhall come, and the heavens ſhall declare his righteouſneſs : unto a people that ſhall be born, whom the Lord hath made.

PSALM 23. *Dominus regit me.*

THE Lord is my ſhepherd : therefore can I lack nothing.

2 He ſhall feed me in a green paſture : and lead me forth beſide the waters of comfort.

3 He ſhall convert my ſoul : and bring me forth in the paths of righteouſneſs, for his Name's ſake.

4 Yea, though I walk through the valley of the ſhadow of death, I will fear no evil : for thou art with me ; thy rod and thy ſtaff comfort me.

5 Thou ſhalt prepare a table before me againſt them that trouble me : thou haſt anointed my head with oil, and my cup ſhall be full.

6 But thy loving-kindneſs and mercy ſhall follow me all the days of my life : and I will dwell in the houſe of the Lord for ever.

Morning Prayer.

PSALM 24. *Domini eſt terra.*

THE earth is the Lord's, and all that therein is : the compaſs of the world, and they that dwell therein.

2 For he hath founded it upon the ſeas : and prepared it upon the floods.

3 Who ſhall aſcend into the hill of the Lord : or who ſhall riſe up in his holy place ?

4 Even he that hath clean hands, and a pure heart : and that hath not lift up his mind unto vanity, nor ſworn to deceive his neighbour.

5 He ſhall receive the bleſſing from the Lord : and righteouſneſs from the God of his ſalvation.

6 This is the generation of them that ſeek him : even of them that ſeek thy face, O Jacob.

7 Lift up your heads, O ye gates, and be ye lift up, ye everlaſting doors : and the King of glory ſhall come in.

8 Who is the King of glory : it is the Lord ſtrong and mighty, even the Lord mighty in battle.

9 Lift up your heads, O ye gates, and be ye lift up, ye everlaſting doors : and the King of glory ſhall come in.

10 Who is the King of glory : even the Lord of hoſts, he is the King of glory.

PSALM 25. *Ad te, Domine, levavi.*

UNTO thee, O Lord, will I lift up my ſoul; my God, I have put my truſt in thee : O let me not be confounded, neither let mine enemies triumph over me.

2 For all they that hope in thee ſhall not be aſhamed : but ſuch as tranſgreſs without a cauſe ſhall be put to confuſion.

3 Shew me thy ways, O Lord : and teach me thy paths.

4 Lead me forth in thy truth, and learn me : for thou art the God of my ſalvation; in thee hath been my hope all the day long.

5 Call to remembrance, O Lord, thy tender mercies : and thy loving-kindneſſes, which have been ever of old.

6 O remember not the ſins and offences of

my youth : but according to thy mercy think thou upon me, O Lord, for thy goodneſs.

7 Gracious and righteous is the Lord : therefore will he teach ſinners in the way.

8 Them that are meek ſhall he guide in judgement : and ſuch as are gentle, them ſhall he learn his way.

9 All the paths of the Lord are mercy and truth : unto ſuch as keep his covenant, and his teſtimonies.

10 For thy Name's ſake, O Lord : be merciful unto my ſin, for it is great.

11 What man is he, that feareth the Lord : him ſhall he teach in the way that he ſhall chooſe.

12 His ſoul ſhall dwell at eaſe : and his ſeed ſhall inherit the land.

13 The ſecret of the Lord is among them that fear him : and he will ſhew them his covenant.

14 Mine eyes are ever looking unto the Lord : for he ſhall pluck my feet out of the net.

15 Turn thee unto me, and have mercy upon me : for I am deſolate, and in miſery.

16 The ſorrows of my heart are enlarged : O bring thou me out of my troubles.

17 Look upon my adverſity and miſery : and forgive me all my ſin.

18 Conſider mine enemies, how many they are : and they bear a tyrannous hate againſt me.

19 O keep my ſoul, and deliver me : let me not be confounded, for I have put my truſt in thee.

20 Let perfectneſs and righteous dealing wait upon me : for my hope hath been in thee.

21 Deliver Iſrael, O God : out of all his troubles.

PSALM 26. *Judica me, Domine.*

BE thou my Judge, O Lord, for I have walked innocently : my truſt hath been alſo in the Lord, therefore ſhall I not fall.

2 Examine me, O Lord, and prove me : try out my reins and my heart.

3 For thy loving-kindneſs is ever before mine eyes : and I will walk in thy truth.

4 I have not dwelt with vain perſons : neither will I have fellowſhip with the deceitful.

5 I have hated the congregation of the wicked : and will not ſit among the ungodly.

6 I will waſh my hands in innocency, O Lord : and ſo will I go to thine altar ;

7 That I may ſhew the voice of thankſgiving : and tell of all thy wondrous works.

8 Lord, I have loved the habitation of thy houſe : and the place where thine honour dwelleth.

9 O ſhut not up my ſoul with the ſinners : nor my life with the blood-thirſty ;

10 In whoſe hands is wickedneſs : and their right hand is full of gifts.

11 But as for me, I will walk innocently : O deliver me, and be merciful unto me.

12 My foot ſtandeth right : I will praiſe the Lord in the congregations.

Evening Prayer.

Psalm 27. *Dominus illuminatio.*

THE Lord is my light, and my ſalvation ; whom then ſhall I fear : the Lord is the ſtrength of my life ; of whom then ſhall I be afraid ?

2 When the wicked, even mine enemies, and my foes, came upon me to eat up my fleſh : they ſtumbled and fell.

3 Though an hoſt of men were laid againſt me, yet ſhall not my heart be afraid : and though there roſe up war againſt me, yet will I put my truſt in him.

4 One thing have I deſired of the Lord, which I will require : even that I may dwell in the houſe of the Lord all the days of my life, to behold the fair beauty of the Lord, and to viſit his temple.

5 For in the time of trouble he ſhall hide me in his tabernacle : yea, in the ſecret place of his dwelling ſhall he hide me, and ſet me up upon a rock of ſtone.

6 And now ſhall he lift up mine head : above mine enemies round about me.

7 Therefore will I offer in his dwelling an oblation with great gladneſs: I will ſing, and ſpeak praiſes unto the Lord.

8 Hearken unto my voice, O Lord, when I cry unto thee: have mercy upon me, and hear me.

9 My heart hath talked of thee, Seek ye my face: Thy face, Lord, will I ſeek.

10 O hide not thou thy face from me: nor caſt thy ſervant away in diſpleaſure.

11 Thou haſt been my ſuccour: leave me not, neither forſake me, O God of my ſalvation.

12 When my father and my mother forſake me: the Lord taketh me up.

13 Teach me thy way, O Lord: and lead me in the right way, becauſe of mine enemies.

14 Deliver me not over into the will of mine adverſaries: for there are falſe witneſſes riſen up againſt me, and ſuch as ſpeak wrong.

15 I ſhould utterly have fainted: but that I believe verily to ſee the goodneſs of the Lord in the land of the living.

16 O tarry thou the Lord's leiſure: be ſtrong, and he ſhall comfort thine heart; and put thou thy truſt in the Lord.

PSALM 28. *Ad te, Domine.*

UNTO thee will I cry, O Lord my ſtrength: think no ſcorn of me; leſt, if thou make

as though thou heareſt not, I become like them that go down into the pit.

2 Hear the voice of my humble petitions, when I cry unto thee : when I hold up my hands towards the mercy-ſeat of thy holy temple.

3 O pluck me not away, neither deſtroy me with the ungodly and wicked doers : which ſpeak friendly to their neighbours, but imagine miſchief in their hearts.

4 Reward them according to their deeds : and according to the wickedneſs of their own inventions.

5 Recompenſe them after the work of their hands : pay them that they have deſerved.

6 For they regard not in their mind the works of the Lord, nor the operation of his hands : therefore ſhall he break them down, and not build them up.

7 Praiſed be the Lord : for he hath heard the voice of my humble petitions.

8 The Lord is my ſtrength, and my ſhield ; my heart hath truſted in him, and I am helped : therefore my heart danceth for joy, and in my ſong will I praiſe him.

9 The Lord is my ſtrength : and he is the wholſome defence of his Anointed.

10 O ſave thy people, and give thy bleſſing unto thine inheritance : feed them, and ſet them up for ever.

PSALM 29. *Afferte Domino.*

BRING unto the Lord, O ye mighty, bring young rams unto the Lord : aſcribe unto the Lord worſhip and ſtrength.

2 Give the Lord the honour due unto his Name : worſhip the Lord with holy worſhip.

3 It is the Lord, that commandeth the waters : it is the glorious God, that maketh the thunder.

4 It is the Lord, that ruleth the ſea ; the voice of the Lord is mighty in operation : the voice of the Lord is a glorious voice.

5 The voice of the Lord breaketh the cedar-trees : yea, the Lord breaketh the cedars of Libanus.

6 He maketh them alſo to ſkip like a calf : Libanus alſo, and Sirion, like a young unicorn.

7 The voice of the Lord divideth the flames of fire ; the voice of the Lord ſhaketh the wilderneſs : yea, the Lord ſhaketh the wilderneſs of Cades.

8 The voice of the Lord maketh the hinds to bring forth young, and diſcovereth the thick buſhes : in his temple doth every man ſpeak of his honour.

9 The Lord ſitteth above the water-flood : and the Lord remaineth a King for ever.

10 The Lord ſhall give ſtrength unto his people : the Lord ſhall give his people the bleſſing of peace.

Morning Prayer.

PSALM 30. *Exaltabo te, Domine.*

I Will magnify thee, O Lord, for thou haſt ſet me up : and not made my foes to triumph over me.

2 O Lord my God, I cried unto thee : and thou haſt healed me.

3 Thou, Lord, haſt brought my ſoul out of hell : thou haſt kept my life from them that go down to the pit.

4 Sing praiſes unto the Lord, O ye ſaints of his : and give thanks unto him for a remembrance of his holineſs.

5 For his wrath endureth but the twinkling of an eye, and in his pleaſure is life : heavineſs may endure for a night, but joy cometh in the morning.

6 And in my proſperity I ſaid, I ſhall never be removed : thou, Lord, of thy goodneſs haſt made my hill ſo ſtrong.

7 Thou didſt turn thy face from me : and I was troubled.

8 Then cried I unto thee, O Lord : and gat me to my Lord right humbly.

9 What profit is there in my blood : when I go down to the pit?

10 Shall the duſt give thanks unto thee : or ſhall it declare thy truth?

11 Hear, O Lord, and have mercy upon me : Lord, be thou my helper.

12 Thou haſt turned my heavineſs into joy : thou haſt put off my ſackcloth, and girded me with gladneſs.

13 Therefore ſhall every good man ſing of thy praiſe without ceaſing : O my God, I will give thanks unto thee for ever.

Psalm 31. *In te, Domine, ſperavi.*

IN thee, O Lord, have I put my truſt : let me never be put to confuſion, deliver me in thy righteouſneſs.

2 Bow down thine ear to me : make haſte to deliver me.

3 And be thou my ſtrong rock, and houſe of defence : that thou mayeſt ſave me.

4 For thou art my ſtrong rock, and my caſtle : be thou alſo my guide, and lead me for thy Name's ſake.

5 Draw me out of the net, that they have laid privily for me : for thou art my ſtrength.

6 Into thy hands I commend my ſpirit : for thou haſt redeemed me, O Lord, thou God of truth.

7 I have hated them that hold of ſuperſtitious vanities : and my truſt hath been in the Lord.

8 I will be glad, and rejoice in thy mercy : for thou haſt conſidered my trouble, and haſt known my ſoul in adverſities.

9 Thou haſt not ſhut me up into the hand

of the enemy : but haſt ſet my feet in a large room.

10 Have mercy upon me, O Lord, for I am in trouble : and mine eye is conſumed for very heavineſs; yea, my ſoul and my body.

11 For my life is waxen old with heavineſs : and my years with mourning.

12 My ſtrength faileth me, becauſe of mine iniquity : and my bones are conſumed.

13 I became a reproof among all mine enemies, but eſpecially among my neighbours: and they of mine acquaintance were afraid of me; and they that did ſee me without conveyed themſelves from me.

14 I am clean forgotten, as a dead man out of mind : I am become like a broken veſſel.

15 For I have heard the blaſphemy of the multitude : and fear is on every ſide, while they conſpire together againſt me, and take their counſel to take away my life.

16 But my hope hath been in thee, O Lord : I have ſaid, Thou art my God.

17 My time is in thy hand; deliver me from the hand of mine enemies : and from them that perſecute me.

18 Shew thy ſervant the light of thy countenance : and ſave me for thy mercy's ſake.

19 Let me not be confounded, O Lord, for I have called upon thee : let the ungodly

be put to confuſion, and be put to ſilence in the grave.

20 Let the lying lips be put to ſilence : which cruelly, diſdainfully, and deſpitefully, ſpeak againſt the righteous.

21 O how plentiful is thy goodneſs, which thou haſt laid up for them that fear thee : and that thou haſt prepared for them that put their truſt in thee, even before the ſons of men !

22 Thou ſhalt hide them privily by thine own preſence from the provoking of all men : thou ſhalt keep them ſecretly in thy tabernacle from the ſtrife of tongues.

23 Thanks be to the Lord : for he hath ſhewed me marvellous great kindneſs in a ſtrong city.

24 And when I made haſte, I ſaid : I am caſt out of the ſight of thine eyes.

25 Nevertheleſs, thou heardeſt the voice of my prayer : when I cried unto thee.

26 O love the Lord, all ye his ſaints : for the Lord preſerveth them that are faithful, and plenteouſly rewardeth the proud doer.

27 Be ſtrong, and he ſhall eſtabliſh your heart : all ye that put your truſt in the Lord.

Evening Prayer.

PSALM 32. *Beati, quorum.*

BLESSED is he whoſe unrighteouſneſs is forgiven : and whoſe ſin is covered.

2 Bleſſed is the man unto whom the Lord imputeth no ſin : and in whoſe ſpirit there is no guile.

3 For while I held my tongue : my bones conſumed away through my daily complaining.

4 For thy hand is heavy upon me day and night : and my moiſture is like the drought in ſummer.

5 I will acknowledge my ſin unto thee : and mine unrighteouſneſs have I not hid.

6 I ſaid, I will confeſs my ſins unto the Lord : and ſo thou forgaveſt the wickedneſs of my ſin.

7 For this ſhall every one that is godly make his prayer unto thee, in a time when thou mayeſt be found : but in the great waterfloods they ſhall not come nigh him.

8 Thou art a place to hide me in, thou ſhalt preſerve me from trouble : thou ſhalt compaſs me about with ſongs of deliverance.

9 I will inform thee, and teach thee in the way wherein thou ſhalt go : and I will guide thee with mine eye.

10 Be ye not like to horſe and mule, which have no underſtanding : whoſe mouths muſt be held with bit and bridle, leſt they fall upon thee.

11 Great plagues remain for the ungodly : but whoſo putteth his truſt in the Lord, mercy embraceth him on every ſide.

12 Be glad, O ye righteous, and rejoice in the Lord : and be joyful, all ye that are true of heart.

PSALM 33. *Exultate, justi.*

REJOICE in the Lord, O ye righteous : for it becometh well the juſt to be thankful.

2 Praiſe the Lord with harp : ſing praiſes unto him with the lute, and inſtrument of ten ſtrings.

3 Sing unto the Lord a new ſong : ſing praiſes luſtily unto him with a good courage.

4 For the word of the Lord is true : and all his works are faithful.

5 He loveth righteouſneſs and judgement : the earth is full of the goodneſs of the Lord.

6 By the word of the Lord were the heavens made : and all the hoſts of them by the breath of his mouth.

7 He gathereth the waters of the ſea together, as it were upon an heap : and layeth up the deep, as in a treaſure-houſe.

8 Let all the earth fear the Lord : ſtand in awe of him, all ye that dwell in the world.

9 For he ſpake, and it was done : he commanded, and it ſtood faſt.

10 The Lord bringeth the counſel of the heathen to nought : and maketh the devices of the people to be of none effect, and caſteth out the counſels of princes.

11 The counſel of the Lord ſhall endure for ever : and the thoughts of his heart from generation to generation.

12 Bleſſed are the people, whoſe God is the Lord Jehovah : and bleſſed are the folk, that he hath choſen to him to be his inheritance.

13 The Lord looked down from heaven, and beheld all the children of men : from the habitation of his dwelling he conſidereth all them that dwell on the earth.

14 He faſhioneth all the hearts of them : and underſtandeth all their works.

15 There is no king that can be ſaved by the multitude of an hoſt : neither is any mighty man delivered by much ſtrength.

16 A horſe is counted but a vain thing to ſave a man : neither ſhall he deliver any man by his great ſtrength.

17 Behold, the eye of the Lord is upon them that fear him : and upon them that put their truſt in his mercy ;

18 To deliver their ſoul from death : and to feed them in the time of dearth.

19 Our ſoul hath patiently tarried for the Lord : for he is our help, and our ſhield.

20 For our heart ſhall rejoice in him : becauſe we have hoped in his holy Name.

21 Let thy merciful kindneſs, O Lord, be upon us : like as we do put our truſt in thee.

PSALM 34. *Benedicam Domino.*

I Will alway give thanks unto the Lord : his praiſe ſhall ever be in my mouth.

2 My ſoul ſhall make her boaſt in the Lord : the humble ſhall hear thereof, and be glad.

3 O praiſe the Lord with me : and let us magnify his Name together.

4 I ſought the Lord, and he heard me : yea, he delivered me out of all my fear.

5 They had an eye unto him, and were lightened : and their faces were not aſhamed.

6 Lo, the poor crieth, and the Lord heareth him : yea, and ſaveth him out of all his troubles.

7 The angel of the Lord tarrieth round about them that fear him : and delivereth them.

8 O taſte, and ſee, how gracious the Lord is : bleſſed is the man that truſteth in him.

9 O fear the Lord, ye that are his ſaints : for they that fear him lack nothing.

10 The lions do lack, and ſuffer hunger : but they who ſeek the Lord ſhall want no manner of thing that is good.

11 Come, ye children, and hearken unto me : I will teach you the fear of the Lord.

12 What man is he that luſteth to live : and would fain ſee good days?

13 Keep thy tongue from evil : and thy lips, that they ſpeak no guile.

14 Eſchew evil, and do good : ſeek peace, and enſue it.

15 The eyes of the Lord are over the righteous : and his ears are open unto their prayers.

16 The countenance of the Lord is againſt them that do evil : to root out the remembrance of them from the earth.

17 The righteous cry, and the Lord heareth them : and delivereth them out of all their troubles.

18 The Lord is nigh unto them that are of a contrite heart : and will ſave ſuch as be of an humble ſpirit.

19 Great are the troubles of the righteous : but the Lord delivereth him out of all.

20 He keepeth all his bones : ſo that not one of them is broken.

21 But misfortune ſhall ſlay the ungodly : and they that hate the righteous ſhall be deſolate.

22 The Lord delivereth the ſouls of his ſervants : and all they that put their truſt in him ſhall not be deſtitute.

Morning Prayer.

PSALM 35. *Judica, Domine.*

PLEAD thou my cauſe, O Lord, with them that ſtrive with me : and fight thou againſt them that fight againſt me.

2 Lay hand upon the ſhield and buckler : and ſtand up to help me.

3 Bring forth the ſpear, and ſtop the way againſt them that perſecute me : ſay unto my ſoul, I am thy ſalvation.

4 Let them be confounded, and put to ſhame, that ſeek after my ſoul : let them be turned back, and brought to confuſion, that imagine miſchief for me.

5 Let them be as the duſt before the wind : and the angel of the Lord ſcattering them.

6 Let their way be dark and ſlippery : and let the angel of the Lord perſecute them.

7 For they have privily laid their net to deſtroy me without a cauſe : yea, even without a cauſe have they made a pit for my ſoul.

8 Let a ſudden deſtruction come upon him unawares, and his net, that he hath laid privily, catch himſelf : that he may fall into his own miſchief.

9 And, my ſoul, be joyful in the Lord : it ſhall rejoice in his ſalvation.

10 All my bones ſhall ſay, Lord, who is like unto thee, who delivereſt the poor from him that is too ſtrong for him : yea, the poor, and him that is in miſery, from him that ſpoileth him ?

11 Falſe witneſſes did riſe up : they laid to my charge things that I knew not.

12 They rewarded me evil for good : to the great diſcomfort of my ſoul.

13 Nevertheleſs, when they were ſick, I

put on ſackcloth, and humbled my ſoul with faſting : and my prayer ſhall turn into mine own boſom.

14 I behaved myſelf as though it had been my friend, or my brother : I went heavily, as one that mourneth for his mother.

15 But in mine adverſity they rejoiced, and gathered themſelves together : yea, the very abjects came together againſt me unawares, making mouths at me, and ceaſed not.

16 With the flatterers were buſy mockers : who gnaſhed upon me with their teeth.

17 Lord, how long wilt thou look upon this : O deliver my ſoul from the calamities which they bring on me, and my darling from the lions.

18 So will I give thee thanks in the great congregation : I will praiſe thee among much people.

19 O let not them that are mine enemies triumph over me ungodly : neither let them wink with their eyes that hate me without a cauſe.

20 And why? their communing is not for peace : but they imagine deceitful words againſt them that are quiet in the land.

21 They gaped upon me with their mouths, and ſaid : Fie on thee, fie on thee, we ſaw it with our eyes.

22 This thou haſt ſeen, O Lord : hold not

thy tongue then, go not far from me, O Lord.

23 Awake, and ſtand up to judge my quarrel : avenge thou my cauſe, my God, and my Lord.

24 Judge me, O Lord my God, according to thy righteouſneſs : and let them not triumph over me.

25 Let them not ſay in their hearts, There, there, ſo would we have it : neither let them ſay, We have devoured him.

26 Let them be put to confuſion and ſhame together, that rejoice at my trouble : let them be clothed with rebuke and diſhonour, that boaſt themſelves againſt me.

27 Let them be glad and rejoice, that favour my righteous dealing : yea, let them ſay alway, Bleſſed be the Lord, who hath pleaſure in the proſperity of his ſervant.

28 And as for my tongue, it ſhall be talking of thy righteouſneſs : and of thy praiſe all the day long.

Psalm 36. *Dixit injuſtus.*

MY heart ſheweth me the wickedneſs of the ungodly : that there is no fear of God before his eyes.

2 For he flattereth himſelf in his own ſight : until his abominable ſin be found out.

3 The words of his mouth are unrighteous,

and full of deceit : he hath left off to behave himſelf wiſely, and to do good.

4 He imagineth miſchief upon his bed, and hath ſet himſelf in no good way : neither doth he abhor any thing that is evil.

5 Thy mercy, O Lord, reacheth unto the heavens : and thy faithfulneſs unto the clouds.

6 Thy righteouſneſs ſtandeth like the ſtrong mountains : thy judgements are like the great deep.

7 Thou, Lord, ſhalt ſave both man and beaſt; How excellent is thy mercy, O God : and the children of men ſhall put their truſt under the ſhadow of thy wings.

8 They ſhall be ſatisfied with the plenteouſneſs of thy houſe : and thou ſhalt give them drink of thy pleaſures, as out of the river.

9 For with thee is the well of life : and in thy light ſhall we ſee light.

10 O continue forth thy loving-kindneſs unto them that know thee : and thy righteouſneſs unto them that are true of heart.

11 O let not the foot of pride come againſt me : and let not the hand of the ungodly caſt me down.

12 There are they fallen, all that work wickedneſs : they are caſt down, and ſhall not be able to ſtand.

Evening Prayer.

PSALM 37. *Noli æmulari.*

FRET not thyſelf becauſe of the ungodly: neither be thou envious againſt the evil doers.

2 For they ſhall ſoon be cut down like the graſs: and be withered even as the green herb.

3 Put thou thy truſt in the Lord, and be doing good: dwell in the land, and verily thou ſhalt be fed.

4 Delight thou in the Lord: and he ſhall give thee thy heart's deſire.

5 Commit thy way unto the Lord, and put thy truſt in him: and he ſhall bring it to paſs.

6 He ſhall make thy righteouſneſs as clear as the light: and thy juſt dealing as the noon-day.

7 Hold thee ſtill in the Lord, and abide patiently upon him: but grieve not thyſelf at him, whoſe way doth proſper, againſt the man that doeth after evil counſels.

8 Leave off from wrath, and let go diſpleaſure: fret not thyſelf, elſe ſhalt thou be moved to do evil.

9 Wicked doers ſhall be rooted out: and they that patiently abide the Lord, thoſe ſhall inherit the land.

10 Yet a little while, and the ungodly ſhall

be clean gone: thou ſhalt look after his place, and he ſhall be away.

11 But the meek-ſpirited ſhall poſſeſs the earth: and ſhall be refreſhed in the multitude of peace.

12 The ungodly ſeeketh counſel againſt the juſt: and gnaſheth upon him with his teeth.

13 The Lord ſhall laugh him to ſcorn: for he hath ſeen that his day is coming.

14 The ungodly have drawn out the ſword, and have bent their bow: to caſt down the poor and needy, and to ſlay ſuch as are of a right converſation.

15 Their ſword ſhall go through their own heart: and their bow ſhall be broken.

16 A ſmall thing that the righteous hath: is better than great riches of the ungodly.

17 For the arms of the ungodly ſhall be broken: and the Lord upholdeth the righteous.

18 The Lord knoweth the days of the godly: and their inheritance ſhall endure for ever.

19 They ſhall not be confounded in the perilous time: and in the days of dearth they ſhall have enough.

20 As for the ungodly, they ſhall periſh; and the enemies of the Lord ſhall conſume as the fat of lambs: yea, even as the ſmoke, ſhall they conſume away.

21 The ungodly borroweth, and payeth not again : but the righteous is merciful, and liberal.

22 Such as are bleſſed of God ſhall poſſeſs the land : and they that are curſed of him ſhall be rooted out.

23 The Lord ordereth a good man's going : and maketh his way acceptable to himſelf.

24 Though he fall, he ſhall not be caſt away : for the Lord upholdeth him with his hand.

25 I have been young, and now am old : and yet ſaw I never the righteous forſaken, nor his ſeed begging their bread.

26 The righteous is ever merciful, and lendeth : and his ſeed is bleſſed.

27 Flee from evil, and do the thing that is good : and dwell for evermore.

28 For the Lord loveth the thing that is right : he forſaketh not his that be godly, but they are preſerved for ever.

29 The unrighteous ſhall be puniſhed : as for the ſeed of the ungodly, it ſhall be rooted out.

30 The righteous ſhall inherit the land : and dwell therein for ever.

31 The mouth of the righteous is exerciſed in wiſdom : and his tongue will be talking of judgement.

32 The law of his God is in his heart: and his goings ſhall not ſlide.

33 The ungodly ſeeth the righteous: and ſeeketh occaſion to ſlay him.

34 The Lord will not leave him in his hand: nor condemn him when he is judged.

35 Hope thou in the Lord, and keep his way, and he ſhall promote thee, that thou ſhalt poſſeſs the land: when the ungodly ſhall periſh, thou ſhalt ſee it.

36 I myſelf have ſeen the ungodly in great power: and flouriſhing like a green bay-tree.

37 I went by, and lo, he was gone: I ſought him, but his place could no where be found.

38 Keep innocency, and take heed unto the thing that is right: for that ſhall bring a man peace at the laſt.

39 As for the tranſgreſſors, they ſhall periſh together: and the end of the ungodly is, they ſhall be rooted out at the laſt.

40 But the ſalvation of the righteous cometh of the Lord: who is alſo their ſtrength in the time of trouble.

41 And the Lord ſhall ſtand by them, and ſave them: he ſhall deliver them from the ungodly, and ſhall ſave them, becauſe they put their truſt in him.

Morning Prayer.

PSALM 38. *Domine, ne in furore.*

PUT me not to rebuke, O Lord, in thine anger : neither chaſten me in thy heavy diſpleaſure.

2 For thine arrows ſtick faſt in me : and thy hand preſſeth me ſore.

3 There is no health in my fleſh, becauſe of thy diſpleaſure : neither is there any reſt in my bones, by reaſon of my ſin.

4 For my wickedneſſes are gone over my head : and are like a ſore burden, too heavy for me to bear.

5 My wounds ſtink, and are corrupt : through my fooliſhneſs.

6 I am brought into ſo great trouble and miſery : that I go mourning all the day long.

7 For my loins are filled with a ſore diſeaſe : and there is no whole part in my body.

8 I am feeble, and ſore ſmitten : I have roared for the very diſquietneſs of my heart.

9 Lord, thou knoweſt all my deſire : and my groaning is not hid from thee.

10 My heart panteth, my ſtrength hath failed me : and the ſight of mine eyes is gone from me.

11 My lovers and my neighbours did ſtand looking upon my trouble : and my kinſmen ſtood afar off.

12 They alſo that ſought after my life laid ſnares for me : and they that went about to do me evil talked of wickedneſs, and imagined deceit all the day long.

13 As for me, I was like a deaf man, and heard not : and as one that is dumb, who doth not open his mouth.

14 I became even as a man that heareth not : and in whoſe mouth are no reproofs.

15 For in thee, O Lord, have I put my truſt : thou ſhalt anſwer for me, O Lord my God.

16 I have required that they, even mine enemies, ſhould not triumph over me : for when my foot ſlipped, they rejoiced greatly againſt me.

17 And I, truly, am ſet in the plague : and my heavineſs is ever in my ſight.

18 For I will confeſs my wickedneſs : and be ſorry for my ſin.

19 But mine enemies live, and are mighty : and they that hate me wrongfully are many in number.

20 They alſo that reward evil for good are againſt me : becauſe I follow the thing that good is.

21 Forſake me not, O Lord my God : be not thou far from me.

22 Haſte thee to help me : O Lord God of my ſalvation.

PSALM 39. *Dixi, cuſtodiam.*

I Said, I will take heed to my ways : that I offend not in my tongue.

2 I will keep my mouth as it were with a bridle : while the ungodly is in my ſight.

3 I held my tongue, and ſpake nothing : I kept ſilence, yea, even from good words ; but it was pain and grief to me.

4 My heart was hot within me, and while I was thus muſing the fire kindled : and at the laſt I ſpake with my tongue ;

5 Lord, let me know mine end, and the number of my days : that I may be certified how long I have to live.

6 Behold, thou haſt made my days as it were a ſpan long : and mine age is even as nothing in reſpect of thee ; and verily every man living is altogether vanity.

7 For man walketh in a vain ſhadow, and diſquieteth himſelf in vain : he heapeth up riches, and cannot tell who ſhall gather them.

8 And now, Lord, what is my hope : truly my hope is even in thee.

9 Deliver me from all mine offences : and make me not a rebuke unto the fooliſh.

10 I became dumb, and opened not my mouth : for it was thy doing.

11 Take thy plague away from me : I am even conſumed by the means of thy heavy hand.

12 When thou with rebukes doſt chaſten man for ſin, thou makeſt his beauty to conſume away, like as it were a moth fretting a garment: every man therefore is but vanity.

13 Hear my prayer, O Lord, and with thine ears conſider my calling: hold not thy peace at my tears.

14 For I am a ſtranger with thee: and a ſojourner, as all my fathers were.

15 O ſpare me a little, that I may recover my ſtrength: before I go hence, and be no more ſeen.

PSALM 40. *Expectans expectavi.*

I Waited patiently for the Lord: and he inclined unto me, and heard my calling.

2 He brought me alſo out of the horrible pit, out of the mire and clay: and ſet my feet upon the rock, and ordered my goings.

3 And he hath put a new ſong in my mouth: even a thankſgiving unto our God.

4 Many ſhall ſee it, and fear: and ſhall put their truſt in the Lord.

5 Bleſſed is the man that hath ſet his hope in the Lord: and turned not unto the proud, and to ſuch as go about with lies.

6 O Lord my God, great are the wondrous works which thou haſt done, like as be alſo thy thoughts which are to us-ward: and yet there is no man that ordereth them unto thee.

7 If I ſhould declare them, and ſpeak of them : they ſhould be more than I am able to expreſs.

8 Sacrifice, and meat-offering, thou wouldeſt not : but mine ears haſt thou opened.

9 Burnt-offerings, and ſacrifice for ſin, haſt thou not required : then ſaid I, Lo, I come,

10 In the volume of the book it is written of me, that I ſhould fulfil thy will, O my God : I am content to do it ; yea, thy law is within my heart.

11 I have declared thy righteouſneſs in the great congregation : lo, I will not refrain my lips, O Lord, and that thou knoweſt.

12 I have not hid thy righteouſneſs within my heart : my talk hath been of thy truth, and of thy ſalvation.

13 I have not kept back thy loving mercy and truth : from the great congregation.

14 Withdraw not thou thy mercy from me, O Lord : let thy loving-kindneſs and thy truth alway preſerve me.

15 For innumerable troubles are come about me ; my ſins have taken ſuch hold upon me that I am not able to look up : yea, they are more in number than the hairs of my head, and my heart hath failed me.

16 O Lord, let it be thy pleaſure to deliver me : make haſte, O Lord, to help me.

17 Let them be aſhamed, and confounded together, that ſeek after my ſoul to deſtroy it: let them be driven backward, and put to rebuke, that wiſh me evil.

18 Let them be deſolate, and rewarded with ſhame: that ſay unto me, Fie upon thee, fie upon thee.

19 Let all thoſe that ſeek thee be joyful and glad in thee: and let ſuch as love thy ſalvation ſay alway, The Lord be praiſed.

20 As for me, I am poor and needy: but the Lord careth for me.

21 Thou art my helper and redeemer: make no long tarrying, O my God.

Evening Prayer.

Psalm 41. *Beatus qui intelligit.*

BLESSED is he that conſidereth the poor and needy: the Lord ſhall deliver him in the time of trouble.

2 The Lord preſerve him, and keep him alive, that he may be bleſſed upon earth: and deliver not thou him into the will of his enemies.

3 The Lord comfort him, when he lieth ſick upon his bed: make thou all his bed in his ſickneſs.

4 I ſaid, Lord, be merciful unto me: heal my ſoul, for I have ſinned againſt thee.

5 Mine enemies ſpeak evil of me: When ſhall he die, and his name periſh?

6 And if he come to ſee me, he ſpeaketh vanity: and his heart conceiveth falſehood within himſelf, and when he cometh forth he telleth it.

7 All mine enemies whiſper together againſt me: even againſt me do they imagine this evil.

8 Let the ſentence of guiltineſs proceed againſt him: and now that he lieth, let him riſe up no more.

9 Yea, even mine own familiar friend, whom I truſted: who did alſo eat of my bread, hath laid great wait for me.

10 But be thou merciful unto me, O Lord: raiſe thou me up again, and I ſhall reward them.

11 By this I know thou favoureſt me: that mine enemy doth not triumph againſt me.

12 And when I am in my health, thou upholdeſt me: and ſhalt ſet me before thy face for ever.

13 Bleſſed be the Lord God of Iſrael: world without end. Amen.

PSALM 42. *Quemadmodum.*

LIKE as the hart deſireth the water-brooks: ſo longeth my ſoul after thee, O God.

2 My ſoul is athirſt for God, yea, even for

the living God: when ſhall I come to appear before the preſence of God?

3 My tears have been my meat day and night: while they daily ſay unto me, Where is now thy God?

4 Now when I think thereupon, I pour out my heart by myſelf: for I went with the multitude, and brought them forth into the houſe of God;

5 In the voice of praiſe and thankſgiving: among ſuch as keep holy-day.

6 Why art thou ſo full of heavineſs, O my ſoul: and why art thou ſo diſquieted within me?

7 Put thy truſt in God: for I will yet give him thanks for the help of his countenance.

8 My God, my ſoul is vexed within me: therefore will I remember thee concerning the land of Jordan, and the little hill of Hermon.

9 One deep calleth another, becauſe of the noiſe of the water-pipes: all thy waves and ſtorms are gone over me.

10 The Lord hath granted his loving-kindneſs in the day-time: and in the night-ſeaſon did I ſing of him, and made my prayer unto the God of my life.

11 I will ſay unto the God of my ſtrength, Why haſt thou forgotten me: why go I thus heavily, while the enemy oppreſſeth me?

12 My bones are ſmitten aſunder as with

a ſword: while mine enemies that trouble me caſt me in the teeth;

13 Namely, while they ſay daily unto me: Where is now thy God?

14 Why art thou ſo vexed, O my ſoul: and why art thou ſo diſquieted within me?

15 O put thy truſt in God: for I will yet thank him, which is the help of my countenance, and my God.

Psalm 43. *Judica me, Deus.*

GIVE ſentence with me, O God, and defend my cauſe againſt the ungodly people: O deliver me from the deceitful and wicked man.

2 For thou art the God of my ſtrength, why haſt thou put me from thee: and why go I ſo heavily, while the enemy oppreſſeth me?

3 O ſend out thy light and thy truth, that they may lead me: and bring me unto thy holy hill, and to thy dwelling.

4 And that I may go unto the altar of God, even unto the God of my joy and gladneſs: and upon the harp will I give thanks unto thee, O God, my God.

5 Why art thou ſo heavy, O my ſoul: and why art thou ſo diſquieted within me?

6 O put thy truſt in God: for I will yet give him thanks, which is the help of my countenance, and my God.

Morning Prayer.

PSALM 44. *Deus, auribus.*

WE have heard with our ears, O God, our fathers have told us : what thou haſt done in their time of old ;

2 How thou haſt driven out the heathen with thy hand, and planted them in : how thou haſt deſtroyed the nations, and caſt them out.

3 For they gat not the land in poſſeſſion through their own ſword : neither was it their own arm that helped them ;

4 But thy right hand, and thine arm, and the light of thy countenance : becauſe thou hadſt a favour unto them.

5 Thou art my King, O God : ſend help unto Jacob.

6 Through thee will we overthrow our enemies : and in thy Name will we tread them under, that riſe up againſt us.

7 For I will not truſt in my bow : it is not my ſword that ſhall help me ;

8 But it is thou that ſaveſt us from our enemies : and putteſt them to confuſion that hate us.

9 We make our boaſt of God all day long : and will praiſe thy Name for ever.

10 But now thou art far off, and putteſt us to confuſion : and goeſt not forth with our armies.

11 Thou makeſt us to turn our backs upon our enemies: ſo that they which hate us ſpoil our goods.

12 Thou letteſt us be eaten up like ſheep: and haſt ſcattered us among the heathen.

13 Thou ſelleſt thy people for nought: and takeſt no money for them.

14 Thou makeſt us to be rebuked of our neighbours: to be laughed to ſcorn, and had in deriſion of them that are round about us.

15 Thou makeſt us to be a by-word among the heathen: and that the people ſhake their heads at us.

16 My confuſion is daily before me: and the ſhame of my face hath covered me;

17 For the voice of the ſlanderer and blaſphemer: for the enemy and avenger.

18 And though all this be come upon us, yet do we not forget thee: nor behave ourſelves frowardly in thy covenant.

19 Our heart is not turned back: neither our ſteps gone out of thy way;

20 No, not when thou haſt ſmitten us into the place of dragons: and covered us with the ſhadow of death.

21 If we have forgotten the Name of our God, and holden up our hands to any ſtrange god: ſhall not God ſearch it out? for he knoweth the very ſecrets of the heart.

22 For thy ſake alſo are we killed all the day long : and are counted as ſheep appointed to be ſlain.

23 Up, Lord, why ſleepeſt thou : awake, and be not abſent from us for ever.

24 Wherefore hideſt thou thy face : and forgetteſt our miſery and trouble?

25 For our ſoul is brought low, even unto the duſt : our belly cleaveth unto the ground.

26 Ariſe, and help us : and deliver us for thy mercy's ſake.

PSALM 45. *Eructavit cor meum.*

MY heart is inditing of a good matter : I ſpeak of the things which I have made unto the King.

2 My tongue is the pen : of a ready writer.

3 Thou art fairer than the children of men : full of grace are thy lips, becauſe God hath bleſſed thee for ever.

4 Gird thee with thy ſword upon thy thigh, O thou moſt Mighty : according to thy worſhip and renown.

5 Good luck have thou with thine honour : ride on, becauſe of the word of truth, of meekneſs, and righteouſneſs ; and thy right hand ſhall teach thee terrible things.

6 Thy arrows are very ſharp, and the people ſhall be ſubdued unto thee : even in the midſt among the King's enemies.

7 Thy ſeat, O God, endureth for ever: the ſceptre of thy kingdom is a right ſceptre.

8 Thou haſt loved righteouſneſs, and hated iniquity: wherefore God, even thy God, hath anointed thee with the oil of gladneſs above thy fellows.

9 All thy garments ſmell of myrrh, aloes, and caſſia: out of the ivory palaces, whereby they have made thee glad.

10 Kings' daughters were among thy honourable women: upon thy right hand did ſtand the queen in a veſture of gold, wrought about with divers colours.

11 Hearken, O daughter, and conſider, incline thine ear: forget alſo thine own people, and thy father's houſe.

12 So ſhall the King have pleaſure in thy beauty: for he is thy Lord God, and worſhip thou him.

13 And the daughter of Tyre ſhall be there with a gift: like as the rich alſo among the people ſhall make their ſupplication before thee.

14 The King's daughter is all glorious within: her clothing is of wrought gold.

15 She ſhall be brought unto the King in raiment of needle-work: the virgins that be her fellows ſhall bear her company, and ſhall be brought unto thee.

16 With joy and gladneſs ſhall they be

brought : and ſhall enter into the King's palace.

17 Inſtead of thy fathers thou ſhalt have children : whom thou mayeſt make princes in all lands.

18 I will remember thy Name from one generation to another : therefore ſhall the people give thanks unto thee, world without end.

PSALM 46. *Deus noſter refugium.*

GOD is our hope and ſtrength : a very preſent help in trouble.

2 Therefore will we not fear, though the earth be moved : and though the hills be carried into the midſt of the ſea.

3 Though the waters thereof rage and ſwell : and though the mountains ſhake at the tempeſt of the ſame.

4 The rivers of the flood thereof ſhall make glad the city of God : the holy place of the tabernacle of the moſt Higheſt.

5 God is in the midſt of her, therefore ſhall ſhe not be removed : God ſhall help her, and that right early.

6 The heathen make much ado, and the kingdoms are moved : but God hath ſhewed his voice, and the earth ſhall melt away.

7 The Lord of hoſts is with us : the God of Jacob is our refuge.

8 O come hither, and behold the works of

the Lord: what deſtruction he hath brought upon the earth.

9 He maketh wars to ceaſe in all the world: he breaketh the bow, and knappeth the ſpear in ſunder, and burneth the chariots in the fire.

10 Be ſtill then, and know that I am God: I will be exalted among the heathen, and I will be exalted in the earth.

11 The Lord of hoſts is with us: the God of Jacob is our refuge.

Evening Prayer.

PSALM 47. *Omnes gentes, plaudite.*

O Clap your hands together, all ye people: O ſing unto God with a voice of melody.

2 For the Lord is high, and to be feared: he is the great King upon all the earth.

3 He ſhall ſubdue the people under us: and the nations under our feet.

4 He ſhall chooſe out an heritage for us: even the worſhip of Jacob, whom he loved.

5 God is gone up with a merry noiſe: and the Lord with the ſound of the trump.

6 O ſing praiſes, ſing praiſes unto our God: O ſing praiſes, ſing praiſes unto our King.

7 For God is the King of all the earth: ſing ye praiſes with underſtanding.

8 God reigneth over the heathen : God ſitteth upon his holy ſeat.

9 The princes of the people are joined unto the people of the God of Abraham : for God, which is very high exalted, doth defend the earth, as it were with a ſhield.

PSALM 48. *Magnus Dominus.*

GREAT is the Lord, and highly to be praiſed : in the city of our God, even upon his holy hill.

2 The hill of Sion is a fair place, and the joy of the whole earth : upon the north-ſide lieth the city of the great King; God is well known in her palaces as a ſure refuge.

3 For lo, the kings of the earth : are gathered, and gone by together.

4 They marvelled to ſee ſuch things : they were aſtoniſhed, and ſuddenly caſt down.

5 Fear came there upon them, and ſorrow : as upon a woman in her travail.

6 Thou ſhalt break the ſhips of the ſea through the eaſt-wind.

7 Like as we have heard, ſo have we ſeen in the city of the Lord of hoſts, in the city of our God : God upholdeth the ſame for ever.

8 We wait for thy loving-kindneſs, O God : in the midſt of thy temple.

9 O God, according to thy Name, ſo is thy praiſe unto the world's end : thy right hand is full of righteouſneſs.

10 Let the mount Sion rejoice, and the daughter of Judah be glad : becauſe of thy judgements.

11 Walk about Sion, and go round about her : and tell the towers thereof.

12 Mark well her bulwarks, ſet up her houſes : that ye may tell them that come after.

13 For this God is our God for ever and ever : he ſhall be our guide unto death.

PSALM 49. *Audite hæc, omnes.*

O Hear ye this, all ye people : ponder it with your ears, all ye that dwell in the world ;

2 High and low, rich and poor : one with another.

3 My mouth ſhall ſpeak of wiſdom : and my heart ſhall muſe of underſtanding.

4 I will incline mine ear to the parable : and ſhew my dark ſpeech upon the harp.

5 Wherefore ſhould I fear in the days of wickedneſs : and when the wickedneſs of my heels compaſſeth me round about ?

6 There be ſome that put their truſt in their goods : and boaſt themſelves in the multitude of their riches.

7 But no man may deliver his brother : nor make agreement unto God for him ;

8 For it coſt more to redeem their ſouls : ſo that he muſt let that alone for ever ;

9 Yea, though he live long: and ſee not the grave.

10 For he ſeeth that wiſe men alſo die, and periſh together: as well as the ignorant and fooliſh, and leave their riches for other.

11 And yet they think that their houſes ſhall continue for ever: and that their dwelling-places ſhall endure from one generation to another; and call the lands after their own names.

12 Nevertheleſs, man will not abide in honour: ſeeing he may be compared unto the beaſts that periſh; this is the way of them.

13 This is their fooliſhneſs: and their poſterity praiſe their ſaying.

14 They lie in the hell like ſheep, death gnaweth upon them, and the righteous ſhall have domination over them in the morning: their beauty ſhall conſume in the ſepulchre out of their dwelling.

15 But God hath delivered my ſoul from the place of hell: for he ſhall receive me.

16 Be not thou afraid, though one be made rich: or if the glory of his houſe be increaſed;

17 For he ſhall carry nothing away with him when he dieth: neither ſhall his pomp follow him.

18 For while he lived, he counted himſelf an happy man: and ſo long as thou

doeſt well unto thyſelf, men will ſpeak good of thee.

19 He ſhall follow the generation of his fathers: and ſhall never ſee light.

20 Man being in honour hath no underſtanding: but is compared unto the beaſts that periſh.

Morning Prayer.

Psalm 50. *Deus deorum.*

THE Lord, even the moſt mighty God, hath ſpoken: and called the world, from the riſing up of the ſun, unto the going down thereof.

2 Out of Sion hath God appeared: in perfect beauty.

3 Our God ſhall come, and ſhall not keep ſilence: there ſhall go before him a conſuming fire, and a mighty tempeſt ſhall be ſtirred up round about him.

4 He ſhall call the heaven from above: and the earth, that he may judge his people.

5 Gather my ſaints together unto me: thoſe that have made a covenant with me with ſacrifice.

6 And the heaven ſhall declare his righteouſneſs: for God is Judge himſelf.

7 Hear, O my people, and I will ſpeak: I myſelf will teſtify againſt thee, O Iſrael; for I am God, even thy God.

8 I will not reprove thee becauſe of thy ſacrifices, or for thy burnt-offerings: becauſe they were not alway before me.

9 I will take no bullock out of thine houſe: nor he-goat out of thy folds.

10 For all the beaſts of the foreſt are mine: and ſo are the cattle upon a thouſand hills.

11 I know all the fowls upon the mountains: and the wild beaſts of the field are in my ſight.

12 If I be hungry, I will not tell thee: for the whole world is mine, and all that is therein.

13 Thinkeſt thou that I will eat bulls' fleſh: and drink the blood of goats?

14 Offer unto God thankſgiving: and pay thy vows unto the moſt Higheſt.

15 And call upon me in the time of trouble: ſo will I hear thee, and thou ſhalt praiſe me.

16 But unto the ungodly ſaid God: Why doſt thou preach my laws, and takeſt my covenant in thy mouth;

17 Whereas thou hateſt to be reformed: and haſt caſt my words behind thee?

18 When thou ſaweſt a thief, thou conſentedſt unto him: and haſt been partaker with the adulterers.

19 Thou haſt let thy mouth ſpeak wicked-

neſs : and with thy tongue thou haſt ſet forth deceit.

20 Thou ſateſt, and ſpakeſt againſt thy brother : yea, and haſt ſlandered thine own mother's ſon.

21 Theſe things haſt thou done, and I held my tongue, and thou thoughteſt wickedly, that I am even ſuch a one as thyſelf : but I will reprove thee, and ſet before thee the things that thou haſt done.

22 O conſider this, ye that forget God : leſt I pluck you away, and there be none to deliver you.

23 Whoſo offereth me thanks and praiſe, he honoureth me : and to him that ordereth his converſation right will I ſhew the ſalvation of God.

Psalm 51. *Miſerere mei, Deus.*

HAVE mercy upon me, O God, after thy great goodneſs : according to the multitude of thy mercies do away mine offences.

2 Waſh me throughly from my wickedneſs : and cleanſe me from my ſin.

3 For I acknowledge my faults : and my ſin is ever before me.

4 Againſt thee only have I ſinned, and done this evil in thy ſight : that thou mighteſt be juſtified in thy ſaying, and clear when thou art judged.

5 Behold, I was ſhapen in wickedneſs: and in ſin hath my mother conceived me.

6 But lo, thou requireſt truth in the inward parts: and ſhalt make me to underſtand wiſdom ſecretly.

7 Thou ſhalt purge me with hyſſop, and I ſhall be clean: thou ſhalt waſh me, and I ſhall be whiter than ſnow.

8 Thou ſhalt make me hear of joy and gladneſs: that the bones which thou haſt broken may rejoice.

9 Turn thy face from my ſins: and put out all my miſdeeds.

10 Make me a clean heart, O God: and renew a right ſpirit within me.

11 Caſt me not away from thy preſence: and take not thy holy Spirit from me.

12 O give me the comfort of thy help again: and ſtabliſh me with thy free Spirit.

13 Then ſhall I teach thy ways unto the wicked: and ſinners ſhall be converted unto thee.

14 Deliver me from blood-guiltineſs, O God, thou that art the God of my health: and my tongue ſhall ſing of thy righteouſneſs.

15 Thou ſhalt open my lips, O Lord: and my mouth ſhall ſhew thy praiſe.

16 For thou deſireſt no ſacrifice, elſe would I give it thee: but thou delighteſt not in burnt-offerings.

17 The ſacrifice of God is a troubled ſpirit: a broken and contrite heart, O God, ſhalt thou not deſpiſe.

18 O be favourable and gracious unto Sion: build thou the walls of Jeruſalem.

19 Then ſhalt thou be pleaſed with the ſacrifice of righteouſneſs, with the burnt-offerings and oblations: then ſhall they offer young bullocks upon thine altar.

Psalm 52. *Quid gloriaris?*

WHY boaſteſt thou thyſelf, thou tyrant: that thou canſt do miſchief;

2 Whereas the goodneſs of God: endureth yet daily?

3 Thy tongue imagineth wickedneſs: and with lies thou cutteſt like a ſharp razor.

4 Thou haſt loved unrighteouſneſs more than goodneſs: and to talk of lies more than righteouſneſs.

5 Thou haſt loved to ſpeak all words that may do hurt: O thou falſe tongue.

6 Therefore ſhall God deſtroy thee for ever: he ſhall take thee, and pluck thee out of thy dwelling, and root thee out of the land of the living.

7 The righteous alſo ſhall ſee this, and fear: and ſhall laugh him to ſcorn;

8 Lo, this is the man that took not God for his ſtrength: but truſted unto the multi-

tude of his riches, and ſtrengthened himſelf in his wickedneſs.

9 As for me, I am like a green olive-tree in the houſe of God: my truſt is in the tender mercy of God for ever and ever.

10 I will always give thanks unto thee for that thou haſt done: and I will hope in thy Name, for thy ſaints like it well.

Evening Prayer.

PSALM 53. *Dixit inſipiens.*

THE fooliſh body hath ſaid in his heart: There is no God.

2 Corrupt are they, and become abominable in their wickedneſs: there is none that doeth good.

3 God looked down from heaven upon the children of men: to ſee if there were any, that would underſtand, and ſeek after God.

4 But they are all gone out of the way, they are altogether become abominable: there is alſo none that doeth good, no not one.

5 Are not they without underſtanding that work wickedneſs: eating up my people as if they would eat bread? they have not called upon God.

6 They were afraid where no fear was: for God hath broken the bones of him that beſieged thee; thou haſt put them to confuſion, becauſe God hath deſpiſed them.

7 Oh, that the ſalvation were given unto Iſrael out of Sion : Oh, that the Lord would deliver his people out of captivity!

8 Then ſhould Jacob rejoice : and Iſrael ſhould be right glad.

PSALM 54. *Deus, in nomine.*

SAVE me, O God, for thy Name's ſake : and avenge me in thy ſtrength.

2 Hear my prayer, O God : and hearken unto the words of my mouth.

3 For ſtrangers are riſen up againſt me : and tyrants, which have not God before their eyes, ſeek after my ſoul.

4 Behold, God is my helper : the Lord is with them that uphold my ſoul.

5 He ſhall reward evil unto mine enemies : deſtroy thou them in thy truth.

6 An offering of a free heart will I give thee, and praiſe thy Name, O Lord : becauſe it is ſo comfortable.

7 For he hath delivered me out of all my trouble : and mine eye hath ſeen his deſire upon mine enemies.

PSALM 55. *Exaudi, Deus.*

HEAR my prayer, O God : and hide not thyſelf from my petition.

2 Take heed unto me, and hear me : how I mourn in my prayer, and am vexed.

3 The enemy crieth ſo, and the ungodly cometh on ſo faſt : for they are minded to do

me ſome miſchief; ſo malicioufly are they ſet againſt me.

4 My heart is diſquieted within me: and the fear of death is fallen upon me.

5 Fearfulneſs and trembling are come upon me: and an horrible dread hath overwhelmed me.

6 And I ſaid, O that I had wings like a dove: for then would I flee away, and be at reſt.

7 Lo, then would I get me away far off: and remain in the wilderneſs.

8 I would make haſte to eſcape: becauſe of the ſtormy wind and tempeſt.

9 Deſtroy their tongues, O Lord, and divide them: for I have ſpied unrighteouſneſs and ſtrife in the city.

10 Day and night they go about within the walls thereof: miſchief alſo and ſorrow are in the midſt of it.

11 Wickedneſs is therein: deceit and guile go not out of their ſtreets.

12 For it is not an open enemy, that hath done me this diſhonour: for then I could have borne it.

13 Neither was it mine adverſary, that did magnify himſelf againſt me: for then peradventure I would have hid myſelf from him.

14 But it was even thou, my companion: my guide, and mine own familiar friend.

15 We took ſweet counſel together : and walked in the houſe of God as friends.

16 Let death come haſtily upon them, and let them go down quick into hell : for wickedneſs is in their dwellings, and among them.

17 As for me, I will call upon God : and the Lord ſhall ſave me.

18 In the evening, and morning, and at noon-day will I pray, and that inſtantly : and he ſhall hear my voice.

19 It is he that hath delivered my ſoul in peace from the battle that was againſt me : for there were many with me.

20 Yea, even God, that endureth for ever, ſhall hear me, and bring them down : for they will not turn, nor fear God.

21 He laid his hands upon ſuch as be at peace with him : and he brake his covenant.

22 The words of his mouth were ſofter than butter, having war in his heart : his words were ſmoother than oil, and yet be they very ſwords.

23 O caſt thy burden upon the Lord, and he ſhall nouriſh thee : and ſhall not ſuffer the righteous to fall for ever.

24 And as for them : thou, O God, ſhalt bring them into the pit of deſtruction.

25 The blood-thirſty and deceitful men ſhall not live out half their days : nevertheleſs, my truſt ſhall be in thee, O Lord.

Morning Prayer.

Psalm 56. *Miſerere mei, Deus.*

BE merciful unto me, O God, for man goeth about to devour me: he is daily fighting, and troubling me.

2 Mine enemies are daily in hand to ſwallow me up: for they be many that fight againſt me, O thou moſt Higheſt.

3 Nevertheleſs, though I am ſometime afraid: yet put I my truſt in thee.

4 I will praiſe God, becauſe of his word: I have put my truſt in God, and will not fear what fleſh can do unto me.

5 They daily miſtake my words: all that they imagine is to do me evil.

6 They hold all together, and keep themſelves cloſe: and mark my ſteps, when they lay wait for my ſoul.

7 Shall they eſcape for their wickedneſs: thou, O God, in thy diſpleaſure ſhalt caſt them down.

8 Thou telleſt my flittings; put my tears into thy bottle: are not theſe things noted in thy book?

9 Whenſoever I call upon thee, then ſhall mine enemies be put to flight: this I know; for God is on my ſide.

10 In God's word will I rejoice: in the Lord's word will I comfort me.

11 Yea, in God have I put my truſt: I will not be afraid what man can do unto me.

12 Unto thee, O God, will I pay my vows: unto thee will I give thanks.

13 For thou haſt delivered my ſoul from death, and my feet from falling: that I may walk before God in the light of the living.

Psalm 57. *Miſerere mei, Deus.*

BE merciful unto me, O God, be merciful unto me, for my ſoul truſteth in thee: and under the ſhadow of thy wings ſhall be my refuge, until this tyranny be over-paſt.

2 I will call unto the moſt high God: even unto the God that ſhall perform the cauſe which I have in hand.

3 He ſhall ſend from heaven: and ſave me from the reproof of him that would eat me up.

4 God ſhall ſend forth his mercy and truth: my ſoul is among lions.

5 And I lie even among the children of men, that are ſet on fire: whoſe teeth are ſpears and arrows, and their tongue a ſharp ſword.

6 Set up thyſelf, O God, above the heavens: and thy glory above all the earth.

7 They have laid a net for my feet, and preſſed down my ſoul: they have digged a pit before me, and are fallen into the midſt of it themſelves.

8 My heart is fixed, O God, my heart is fixed: I will ſing, and give praiſe.

9 Awake up, my glory; awake, lute and harp: I myſelf will awake right early.

10 I will give thanks unto thee, O Lord, among the people: and I will ſing unto thee among the nations.

11 For the greatneſs of thy mercy reacheth unto the heavens: and thy truth unto the clouds.

12 Set up thyſelf, O God, above the heavens: and thy glory above all the earth.

PSALM 58. *Si vere utique.*

ARE your minds ſet upon righteouſneſs, O ye congregation: and do ye judge the thing that is right, O ye ſons of men?

2 Yea, ye imagine miſchief in your heart upon the earth: and your hands deal with wickedneſs.

3 The ungodly are froward, even from their mother's womb: as ſoon as they are born, they go aſtray, and ſpeak lies.

4 They are as venomous as the poiſon of a ſerpent: even like the deaf adder that ſtoppeth her ears;

5 Which refuſeth to hear the voice of the charmer: charm he never ſo wiſely.

6 Break their teeth, O God, in their mouths; ſmite the jaw-bones of the lions, O Lord: let them fall away like water that runneth apace;

and when they ſhoot their arrows let them be rooted out.

7 Let them conſume away like a ſnail, and be like the untimely fruit of a woman: and let them not ſee the ſun.

8 Or ever your pots be made hot with thorns: ſo let indignation vex him, even as a thing that is raw.

9 The righteous ſhall rejoice when he ſeeth the vengeance: he ſhall waſh his footſteps in the blood of the ungodly.

10 So that a man ſhall ſay, Verily there is a reward for the righteous: doubtleſs there is a God that judgeth the earth.

Evening Prayer.

PSALM 59. *Eripe me de inimicis.*

DELIVER me from mine enemies, O God: defend me from them that riſe up againſt me.

2 O deliver me from the wicked doers: and ſave me from the blood-thirſty men.

3 For lo, they lie waiting for my ſoul: the mighty men are gathered againſt me, without any offence or fault of me, O Lord.

4 They run and prepare themſelves without my fault: ariſe thou therefore to help me, and behold.

5 Stand up, O Lord God of hoſts, thou God of Iſrael, to viſit all the heathen: and be

not merciful unto them that offend of malicious wickedneſs.

6 They go to and fro in the evening: they grin like a dog, and run about through the city.

7 Behold, they ſpeak with their mouth, and ſwords are in their lips: for who doth hear?

8 But thou, O Lord, ſhalt have them in deriſion: and thou ſhalt laugh all the heathen to ſcorn.

9 My ſtrength will I aſcribe unto thee: for thou art the God of my refuge.

10 God ſheweth me his goodneſs plenteouſly: and God ſhall let me ſee my deſire upon mine enemies.

11 Slay them not, leſt my people forget it: but ſcatter them abroad among the people, and put them down, O Lord, our defence.

12 For the ſin of their mouth, and for the words of their lips, they ſhall be taken in their pride: and why? their preaching is of curſing and lies.

13 Conſume them in thy wrath, conſume them, that they may periſh: and know that it is God that ruleth in Jacob, and unto the ends of the world.

14 And in the evening they will return: grin like a dog, and will go about the city.

15 They will run here and there for meat: and grudge if they be not ſatisfied.

16 As for me, I will ſing of thy power, and will praiſe thy mercy betimes in the morning: for thou haſt been my defence and refuge in the day of my trouble.

17 Unto thee, O my ſtrength, will I ſing: for thou, O God, art my refuge, and my merciful God.

Psalm 60. *Deus, repuliſti nos.*

O God, thou haſt caſt us out, and ſcattered us abroad: thou haſt alſo been diſpleaſed; O turn thee unto us again.

2 Thou haſt moved the land, and divided it: heal the ſores thereof, for it ſhaketh.

3 Thou haſt ſhewed thy people heavy things: thou haſt given us a drink of deadly wine.

4 Thou haſt given a token for ſuch as fear thee: that they may triumph becauſe of the truth.

5 Therefore were thy beloved delivered: help me with thy right hand, and hear me.

6 God hath ſpoken in his holineſs, I will rejoice, and divide Sichem: and mete out the valley of Succoth.

7 Gilead is mine, and Manaſſes is mine: Ephraim alſo is the ſtrength of my head; Judah is my law-giver;

8 Moab is my waſh-pot; over Edom will I caſt out my ſhoe: Philiſtia, be thou glad of me.

9 Who will lead me into the ſtrong city: who will bring me into Edom?

10 Haſt not thou caſt us out, O God: wilt not thou, O God, go out with our hoſts?

11 O be thou our help in trouble: for vain is the help of man.

12 Through God will we do great acts: for it is he that ſhall tread down our enemies.

PSALM 61. *Exaudi, Deus.*

HEAR my crying, O God: give ear unto my prayer.

2 From the ends of the earth will I call upon thee: when my heart is in heavineſs.

3 O ſet me up upon the rock that is higher than I: for thou haſt been my hope, and a ſtrong tower for me againſt the enemy.

4 I will dwell in thy tabernacle for ever: and my truſt ſhall be under the covering of thy wings.

5 For thou, O Lord, haſt heard my deſires: and haſt given an heritage unto thoſe that fear thy Name.

6 Thou ſhalt grant the King a long life: that his years may endure throughout all generations.

7 He ſhall dwell before God for ever: O prepare thy loving mercy and faithfulneſs, that they may preſerve him.

8 So will I alway ſing praiſe unto thy Name: that I may daily perform my vows.

Morning Prayer.

Psalm 62. *Nonne Deo?*

MY ſoul truly waiteth ſtill upon God: for of him cometh my ſalvation.

2 He verily is my ſtrength and my ſalvation: he is my defence, ſo that I ſhall not greatly fall.

3 How long will ye imagine miſchief againſt every man: ye ſhall be ſlain all the ſort of you; yea, as a tottering wall ſhall ye be, and like a broken hedge.

4 Their device is only how to put him out whom God will exalt: their delight is in lies; they give good words with their mouth, but curſe with their heart.

5 Nevertheleſs, my ſoul, wait thou ſtill upon God: for my hope is in him.

6 He truly is my ſtrength and my ſalvation: he is my defence, ſo that I ſhall not fall.

7 In God is my health, and my glory: the rock of my might, and in God is my truſt.

8 O put your truſt in him alway, ye people: pour out your hearts before him, for God is our hope.

9 As for the children of men, they are but vanity: the children of men are deceitful upon the weights, they are altogether lighter than vanity itſelf.

10 O truſt not in wrong and robbery, give

not yourſelves unto vanity: if riches increaſe, ſet not your heart upon them.

11 God ſpake once, and twice I have alſo heard the ſame: that power belongeth unto God;

12 And that thou, Lord, art merciful: for thou rewardeſt every man according to his work.

Psalm 63. *Deus, Deus meus.*

O God, thou art my God: early will I ſeek thee.

2 My ſoul thirſteth for thee, my fleſh alſo longeth after thee: in a barren and dry land where no water is.

3 Thus have I looked for thee in holineſs: that I might behold thy power and glory.

4 For thy loving-kindneſs is better than the life itſelf: my lips ſhall praiſe thee.

5 As long as I live will I magnify thee on this manner: and lift up my hands in thy Name.

6 My ſoul ſhall be ſatisfied, even as it were with marrow and fatneſs: when my mouth praiſeth thee with joyful lips.

7 Have I not remembered thee in my bed: and thought upon thee when I was waking?

8 Becauſe thou haſt been my helper: therefore under the ſhadow of thy wings will I rejoice.

9 My ſoul hangeth upon thee : thy right hand hath upholden me.

10 Theſe alſo that ſeek the hurt of my ſoul : they ſhall go under the earth.

11 Let them fall upon the edge of the ſword : that they may be a portion for foxes.

12 But the King ſhall rejoice in God ; all they alſo that ſwear by him ſhall be commended : for the mouth of them that ſpeak lies ſhall be ſtopped.

PSALM 64. *Exaudi, Deus.*

HEAR my voice, O God, in my prayer : preſerve my life from fear of the enemy.

2 Hide me from the gathering together of the froward : and from the inſurrection of wicked doers ;

3 Who have whet their tongue like a ſword : and ſhoot out their arrows, even bitter words ;

4 That they may privily ſhoot at him that is perfect : ſuddenly do they hit him, and fear not.

5 They encourage themſelves in miſchief : and commune among themſelves how they may lay ſnares, and ſay, that no man ſhall ſee them.

6 They imagine wickedneſs, and practiſe it : that they keep ſecret among themſelves, every man in the deep of his heart.

7 But God ſhall ſuddenly ſhoot at them with a ſwift arrow : that they ſhall be wounded.

8 Yea, their own tongues ſhall make them fall : inſomuch that whoſo ſeeth them ſhall laugh them to ſcorn.

9 And all men that ſee it ſhall ſay, This hath God done ; for they ſhall perceive that it is his work.

10 The righteous ſhall rejoice in the Lord, and put his truſt in him : and all they that are true of heart ſhall be glad.

Evening Prayer.

Psalm 65. *Te decet hymnus.*

THOU, O God, art praiſed in Sion : and unto thee ſhall the vow be performed in Jeruſalem.

2 Thou that heareſt the prayer : unto thee ſhall all fleſh come.

3 My miſdeeds prevail againſt me : O be thou merciful unto our ſins.

4 Bleſſed is the man, whom thou chooſeſt, and receiveſt unto thee : he ſhall dwell in thy court, and ſhall be ſatisfied with the pleaſures of thy houſe, even of thy holy temple.

5 Thou ſhalt ſhew us wonderful things in thy righteouſneſs, O God of our ſalvation : thou that art the hope of all the ends of the earth, and of them that remain in the broad ſea.

6 Who in his ſtrength ſetteth faſt the mountains : and is girded about with power.

7 Who ſtilleth the raging of the ſea : and

the noiſe of his waves, and the madneſs of the people.

8 They alſo that dwell in the uttermoſt parts of the earth ſhall be afraid at thy tokens: thou that makeſt the outgoings of the morning and evening to praiſe thee.

9 Thou viſiteſt the earth, and bleſſeſt it: thou makeſt it very plenteous.

10 The river of God is full of water: thou prepareſt their corn, for ſo thou provideſt for the earth.

11 Thou watereſt her furrows, thou ſendeſt rain into the little valleys thereof: thou makeſt it ſoft with the drops of rain, and bleſſeſt the increaſe of it.

12 Thou crowneſt the year with thy goodneſs: and thy clouds drop fatneſs.

13 They ſhall drop upon the dwellings of the wilderneſs: and the little hills ſhall rejoice on every ſide.

14 The folds ſhall be full of ſheep: the valleys alſo ſhall ſtand ſo thick with corn, that they ſhall laugh and ſing.

Psalm 66. *Jubilate Deo.*

O Be joyful in God, all ye lands: ſing praiſes unto the honour of his Name, make his praiſe to be glorious.

2 Say unto God, O how wonderful art thou in thy works: through the greatneſs of thy power ſhall thine enemies be found liars unto thee.

3 For all the world ſhall worſhip thee : ſing of thee, and praiſe thy Name.

4 O come hither, and behold the works of God : how wonderful he is in his doing toward the children of men.

5 He turned the ſea into dry land : ſo that they went through the water on foot ; there did we rejoice thereof.

6 He ruleth with his power for ever ; his eyes behold the people : and ſuch as will not believe ſhall not be able to exalt themſelves.

7 O praiſe our God, ye people : and make the voice of his praiſe to be heard ;

8 Who holdeth our ſoul in life : and ſuffereth not our feet to ſlip.

9 For thou, O God, haſt proved us : thou alſo haſt tried us, like as ſilver is tried.

10 Thou broughteſt us into the ſnare : and laideſt trouble upon our loins.

11 Thou ſufferedſt men to ride over our heads : we went through fire and water, and thou broughteſt us out into a wealthy place.

12 I will go into thine houſe with burnt-offerings : and will pay thee my vows, which I promiſed with my lips, and ſpake with my mouth, when I was in trouble.

13 I will offer unto thee fat burnt-ſacrifices, with the incenſe of rams : I will offer bullocks and goats.

14 O come hither, and hearken, all ye that

fear God : and I will tell you what he hath done for my ſoul.

15 I called unto him with my mouth : and gave him praiſes with my tongue.

16 If I incline unto wickedneſs with mine heart : the Lord will not hear me.

17 But God hath heard me : and conſidered the voice of my prayer.

18 Praiſed be God who hath not caſt out my prayer : nor turned his mercy from me.

Psalm 67. *Deus miſereatur.*

GOD be merciful unto us, and bleſs us : and ſhew us the light of his countenance, and be merciful unto us ;

2 That thy way may be known upon earth : thy ſaving health among all nations.

3 Let the people praiſe thee, O God : yea, let all the people praiſe thee.

4 O let the nations rejoice and be glad : for thou ſhalt judge the folk righteouſly, and govern the nations upon earth.

5 Let the people praiſe thee, O God : let all the people praiſe thee.

6 Then ſhall the earth bring forth her increaſe : and God, even our own God, ſhall give us his bleſſing.

7 God ſhall bleſs us : and all the ends of the world ſhall fear him.

Morning Prayer.

Psalm 68. *Exurgat Deus.*

LET God ariſe, and let his enemies be ſcattered: let them alſo that hate him flee before him.

2 Like as the ſmoke vaniſheth, ſo ſhalt thou drive them away: and like as wax melteth at the fire, ſo let the ungodly periſh at the preſence of God.

3 But let the righteous be glad and rejoice before God: let them alſo be merry and joyful.

4 O ſing unto God, and ſing praiſes unto his Name: magnify him that rideth upon the heavens, as it were upon an horſe; praiſe him in his Name JAH, and rejoice before him.

5 He is a Father of the fatherleſs, and defendeth the cauſe of the widows: even God in his holy habitation.

6 He is the God that maketh men to be of one mind in an houſe, and bringeth the priſoners out of captivity: but letteth the runagates continue in ſcarceneſs.

7 O God, when thou wenteſt forth before the people: when thou wenteſt through the wilderneſs,

8 The earth ſhook, and the heavens dropped at the preſence of God: even as Sinai alſo was moved at the preſence of God, who is the God of Iſrael.

9 Thou, O God, ſenteſt a gracious rain upon thine inheritance: and refreſhedſt it when it was weary.

10 Thy congregation ſhall dwell therein: for thou, O God, haſt of thy goodneſs prepared for the poor.

11 The Lord gave the word: great was the company of the preachers.

12 Kings with their armies did flee, and were diſcomfited: and they of the houſhold divided the ſpoil.

13 Though ye have lien among the pots, yet ſhall ye be as the wings of a dove: that is covered with ſilver wings, and her feathers like gold.

14 When the Almighty ſcattered kings for their ſake: then were they as white as ſnow in Salmon.

15 As the hill of Baſan, ſo is God's hill: even an high hill, as the hill of Baſan.

16 Why hop ye ſo, ye high hills? this is God's hill, in the which it pleaſeth him to dwell: yea, the Lord will abide in it for ever.

17 The chariots of God are twenty thouſand, even thouſands of angels: and the Lord is among them, as in the holy place of Sinai.

18 Thou art gone up on high, thou haſt led captivity captive, and received gifts for men: yea, even for thine enemies, that the Lord God might dwell among them.

19 Praiſed be the Lord daily : even the God who helpeth us, and poureth his benefits upon us.

20 He is our God, even the God of whom cometh ſalvation : God is the Lord, by whom we eſcape death.

21 God ſhall wound the head of his enemies : and the hairy ſcalp of ſuch a one as goeth on ſtill in his wickedneſs.

22 The Lord hath ſaid, I will bring my people again, as I did from Baſan : mine own will I bring again, as I did ſometime from the deep of the ſea.

23 That thy foot may be dipped in the blood of thine enemies : and that the tongue of thy dogs may be red through the ſame.

24 It is well ſeen, O God, how thou goeſt : how thou, my God and King, goeſt in the ſanctuary.

25 The ſingers go before, the minſtrels follow after : in the midſt are the damſels playing with the timbrels.

26 Give thanks, O Iſrael, unto God the Lord in the congregations : from the ground of the heart.

27 There is little Benjamin their ruler, and the princes of Judah their counſel : the princes of Zabulon, and the princes of Nephthali.

28 Thy God hath ſent forth ſtrength for

thee : ſtabliſh the thing, O God, that thou haſt wrought in us,

29 For thy temple's ſake at Jeruſalem : ſo ſhall kings bring preſents unto thee.

30 When the company of the ſpear-men, and multitude of the mighty are ſcattered abroad among the beaſts of the people, ſo that they humbly bring pieces of ſilver : and when he hath ſcattered the people that delight in war ;

31 Then ſhall the princes come out of Egypt : the Morians' land ſhall ſoon ſtretch out her hands unto God.

32 Sing unto God, O ye kingdoms of the earth : O ſing praiſes unto the Lord ;

33 Who ſitteth in the heavens over all from the beginning : lo, he doth ſend out his voice, yea, and that a mighty voice.

34 Aſcribe ye the power to God over Iſrael : his worſhip, and ſtrength is in the clouds.

35 O God, wonderful art thou in thy holy places : even the God of Iſrael ; he will give ſtrength and power unto his people ; bleſſed be God.

Evening Prayer.

PSALM 69. *Salvum me fac.*

SAVE me, O God : for the waters are come in, even unto my ſoul.

2 I ſtick faſt in the deep mire, where no

ground is : I am come into deep waters, ſo that the floods run over me.

3 I am weary of crying; my throat is dry : my ſight faileth me for waiting ſo long upon my God.

4 They that hate me without a cauſe are more than the hairs of my head : they that are mine enemies, and would deſtroy me guiltleſs, are mighty.

5 I paid them the things that I never took : God, thou knoweſt my ſimpleneſs, and my faults are not hid from thee.

6 Let not them that truſt in thee, O Lord God of hoſts, be aſhamed for my cauſe : let not thoſe that ſeek thee be confounded through me, O Lord God of Iſrael.

7 And why? for thy ſake have I ſuffered reproof : ſhame hath covered my face.

8 I am become a ſtranger unto my brethren : even an alien unto my mother's children.

9 For the zeal of thine houſe hath even eaten me : and the rebukes of them that rebuked thee are fallen upon me.

10 I wept, and chaſtened myſelf with faſting : and that was turned to my reproof.

11 I put on ſackcloth alſo : and they jeſted upon me.

12 They that ſit in the gate ſpeak againſt me : and the drunkards make ſongs upon me.

13 But, Lord, I make my prayer unto thee: in an acceptable time.

14 Hear me, O God, in the multitude of thy mercy: even in the truth of thy ſalvation.

15 Take me out of the mire, that I ſink not: O let me be delivered from them that hate me, and out of the deep waters.

16 Let not the water-flood drown me, neither let the deep ſwallow me up: and let not the pit ſhut her mouth upon me.

17 Hear me, O Lord, for thy loving-kindneſs is comfortable: turn thee unto me according to the multitude of thy mercies.

18 And hide not thy face from thy ſervant, for I am in trouble: O haſte thee, and hear me.

19 Draw nigh unto my ſoul, and ſave it: O deliver me, becauſe of mine enemies.

20 Thou haſt known my reproof, my ſhame, and my diſhonour: mine adverſaries are all in thy ſight.

21 Thy rebuke hath broken my heart; I am full of heavineſs: I looked for ſome to have pity on me, but there was no man, neither found I any to comfort me.

22 They gave me gall to eat: and when I was thirſty they gave me vinegar to drink.

23 Let their table be made a ſnare to take themſelves withal: and let the things that

ſhould have been for their wealth be unto them an occaſion of falling.

24 Let their eyes be blinded, that they ſee not: and ever bow thou down their backs.

25 Pour out thine indignation upon them: and let thy wrathful diſpleaſure take hold of them.

26 Let their habitation be void: and no man to dwell in their tents.

27 For they perſecute him whom thou haſt ſmitten: and they talk how they may vex them whom thou haſt wounded.

28 Let them fall from one wickedneſs to another: and not come into thy righteouſneſs.

29 Let them be wiped out of the book of the living: and not be written among the righteous.

30 As for me, when I am poor and in heavineſs: thy help, O God, ſhall lift me up.

31 I will praiſe the Name of God with a ſong: and magnify it with thankſgiving.

32 This alſo ſhall pleaſe the Lord: better than a bullock that hath horns and hoofs.

33 The humble ſhall conſider this, and be glad: ſeek ye after God, and your ſoul ſhall live.

34 For the Lord heareth the poor: and deſpiſeth not his priſoners.

35 Let heaven and earth praiſe him: the ſea, and all that moveth therein.

36 For God will ſave Sion, and build the cities of Judah : that men may dwell there, and have it in poſſeſſion.

37 The poſterity alſo of his ſervants ſhall inherit it : and they that love his Name ſhall dwell therein.

PSALM 70. *Deus in adjutorium.*

HASTE thee, O God, to deliver me : make haſte to help me, O Lord.

2 Let them be aſhamed and confounded that ſeek after my ſoul : let them be turned backward and put to confuſion that wiſh me evil.

3 Let them for their reward be ſoon brought to ſhame : that cry over me, There, there.

4 But let all thoſe that ſeek thee be joyful and glad in thee : and let all ſuch as delight in thy ſalvation ſay alway, The Lord be praiſed.

5 As for me, I am poor and in miſery : haſte thee unto me, O God.

6 Thou art my helper, and my redeemer : O Lord, make no long tarrying.

Morning Prayer.

PSALM 71. *In te, Domine, ſperavi.*

IN thee, O Lord, have I put my truſt, let me never be put to confuſion : but rid me, and deliver me, in thy righteouſneſs ; incline thine ear unto me, and ſave me.

2 Be thou my ſtrong hold, whereunto I may alway reſort: thou haſt promiſed to help me, for thou art my houſe of defence, and my caſtle.

3 Deliver me, O my God, out of the hand of the ungodly: out of the hand of the unrighteous and cruel man.

4 For thou, O Lord God, art the thing that I long for: thou art my hope, even from my youth.

5 Through thee have I been holden up ever ſince I was born: thou art he that took me out of my mother's womb; my praiſe ſhall be always of thee.

6 I am become as it were a monſter unto many: but my ſure truſt is in thee.

7 O let my mouth be filled with thy praiſe: that I may ſing of thy glory and honour all the day long.

8 Caſt me not away in the time of age: forſake me not when my ſtrength faileth me.

9 For mine enemies ſpeak againſt me, and they that lay wait for my ſoul take their counſel together, ſaying: God hath forſaken him; perſecute him, and take him, for there is none to deliver him.

10 Go not far from me, O God: my God, haſte thee to help me.

11 Let them be confounded and periſh that are againſt my ſoul: let them be covered

with ſhame and diſhonour that ſeek to do me evil.

12 As for me, I will patiently abide alway: and will praiſe thee more and more.

13 My mouth ſhall daily ſpeak of thy righteouſneſs and ſalvation: for I know no end thereof.

14 I will go forth in the ſtrength of the Lord God: and will make mention of thy righteouſneſs only.

15 Thou, O God, haſt taught me from my youth up until now: therefore will I tell of thy wondrous works.

16 Forſake me not, O God, in mine old age, when I am gray-headed: until I have ſhewed thy ſtrength unto this generation, and thy power to all them that are yet for to come.

17 Thy righteouſneſs, O God, is very high: and great things are they that thou haſt done; O God, who is like unto thee?

18 O what great troubles and adverſities haſt thou ſhewed me! and yet didſt thou turn and refreſh me: yea, and broughteſt me from the deep of the earth again.

19 Thou haſt brought me to great honour: and comforted me on every ſide.

20 Therefore will I praiſe thee and thy faithfulneſs, O God, playing upon an inſtrument of muſick: unto thee will I ſing upon the harp, O thou Holy One of Iſrael.

21 My lips will be fain when I ſing unto thee : and ſo will my ſoul whom thou haſt delivered.

22 My tongue alſo ſhall talk of thy righteouſneſs all the day long : for they are confounded and brought unto ſhame that ſeek to do me evil.

PSALM 72. *Deus, judicium.*

GIVE the King thy judgements, O God : and thy righteouſneſs unto the King's ſon.

2 Then ſhall he judge thy people according unto right : and defend the poor.

3 The mountains alſo ſhall bring peace : and the little hills righteouſneſs unto the people.

4 He ſhall keep the ſimple folk by their right : defend the children of the poor, and puniſh the wrong doer.

5 They ſhall fear thee, as long as the ſun and moon endureth : from one generation to another.

6 He ſhall come down like the rain into a fleece of wool : even as the drops that water the earth.

7 In his time ſhall the righteous flouriſh : yea, and abundance of peace, ſo long as the moon endureth.

8 His dominion ſhall be alſo from the one ſea to the other : and from the flood unto the world's end.

9 They that dwell in the wilderneſs ſhall kneel before him : his enemies ſhall lick the duſt.

10 The kings of Tharſis and of the iſles ſhall give preſents : the kings of Arabia and Saba ſhall bring gifts.

11 All kings ſhall fall down before him : all nations ſhall do him ſervice.

12 For he ſhall deliver the poor when he crieth : the needy alſo, and him that hath no helper.

13 He ſhall be favourable to the ſimple and needy : and ſhall preſerve the ſouls of the poor.

14 He ſhall deliver their ſouls from falſehood and wrong : and dear ſhall their blood be in his ſight.

15 He ſhall live, and unto him ſhall be given of the gold of Arabia : prayer ſhall be made ever unto him, and daily ſhall he be praiſed.

16 There ſhall be an heap of corn in the earth, high upon the hills : his fruit ſhall ſhake like Libanus, and ſhall be green in the city like graſs upon the earth.

17 His Name ſhall endure for ever; his Name ſhall remain under the ſun among the poſterities : which ſhall be bleſſed through him; and all the heathen ſhall praiſe him.

18 Bleſſed be the Lord God, even the

God of Iſrael : which only doeth wondrous things ;

19 And bleſſed be the Name of his Majeſty for ever : and all the earth ſhall be filled with his Majeſty. Amen, Amen.

Evening Prayer.

PSALM 73. *Quam bonus Iſrael !*

TRULY God is loving unto Iſrael : even unto ſuch as are of a clean heart.

2 Nevertheleſs, my feet were almoſt gone : my treadings had well-nigh ſlipt.

3 And why? I was grieved at the wicked : I do alſo ſee the ungodly in ſuch proſperity.

4 For they are in no peril of death : but are luſty and ſtrong.

5 They come in no misfortune like other folk : neither are they plagued like other men.

6 And this is the cauſe that they are ſo holden with pride : and overwhelmed with cruelty.

7 Their eyes ſwell with fatneſs : and they do even what they luſt.

8 They corrupt other, and ſpeak of wicked blaſphemy : their talking is againſt the moſt High.

9 For they ſtretch forth their mouth unto the heaven : and their tongue goeth through the world.

10 Therefore fall the people unto them: and thereout ſuck they no ſmall advantage.

11 Tuſh, ſay they, how ſhould God perceive it: is there knowledge in the moſt High?

12 Lo, theſe are the ungodly, theſe proſper in the world, and theſe have riches in poſſeſſion: and I ſaid, Then have I cleanſed my heart in vain, and waſhed mine hands in innocency.

13 All the day long have I been puniſhed: and chaſtened every morning.

14 Yea, and I had almoſt ſaid even as they: but lo, then I ſhould have condemned the generation of thy children.

15 Then thought I to underſtand this: but it was too hard for me,

16 Until I went into the ſanctuary of God: then underſtood I the end of theſe men;

17 Namely, how thou doſt ſet them in ſlippery places: and caſteſt them down, and deſtroyeſt them.

18 Oh, how ſuddenly do they conſume: periſh, and come to a fearful end!

19 Yea, even like as a dream when one awaketh: ſo ſhalt thou make their image to vaniſh out of the city.

20 Thus my heart was grieved: and it went even through my reins.

21 So fooliſh was I, and ignorant: even as it were a beaſt before thee.

22 Nevertheleſs, I am alway by thee : for thou haſt holden me by my right hand.

23 Thou ſhalt guide me with thy counſel : and after that receive me with glory.

24 Whom have I in heaven but thee : and there is none upon earth that I deſire in compariſon of thee.

25 My fleſh and my heart faileth : but God is the ſtrength of my heart, and my portion for ever.

26 For lo, they that forſake thee ſhall periſh : thou haſt deſtroyed all them that commit fornication againſt thee.

27 But it is good for me to hold me faſt by God, to put my truſt in the Lord God : and to ſpeak of all thy works in the gates of the daughter of Sion.

PSALM 74. *Ut quid, Deus ?*

O God, wherefore art thou abſent from us ſo long : why is thy wrath ſo hot againſt the ſheep of thy paſture ?

2 O think upon thy congregation : whom thou haſt purchaſed, and redeemed of old.

3 Think upon the tribe of thine inheritance : and mount Sion, wherein thou haſt dwelt.

4 Lift up thy feet, that thou mayeſt utterly deſtroy every enemy : which hath done evil in thy ſanctuary.

5 Thine adverſaries roar in the midſt of

thy congregations: and ſet up their banners for tokens.

6 He that hewed timber afore out of the thick trees: was known to bring it to an excellent work.

7 But now they break down all the carved work thereof: with axes and hammers.

8 They have ſet fire upon thy holy places: and have defiled the dwelling-place of thy Name, even unto the ground.

9 Yea, they ſaid in their hearts, Let us make havock of them altogether: thus have they burnt up all the houſes of God in the land.

10 We ſee not our tokens, there is not one prophet more: no, not one is there among us, that underſtandeth any more.

11 O God, how long ſhall the adverſary do this diſhonour: how long ſhall the enemy blaſpheme thy Name, for ever?

12 Why withdraweſt thou thy hand: why pluckeſt thou not thy right hand out of thy boſom to conſume the enemy?

13 For God is my King of old: the help that is done upon earth he doeth it himſelf.

14 Thou didſt divide the ſea through thy power: thou brakeſt the heads of the dragons in the waters.

15 Thou ſmoteſt the heads of Leviathan in pieces: and gaveſt him to be meat for the people in the wilderneſs.

16 Thou broughteſt out fountains and waters out of the hard rocks : thou driedſt up mighty waters.

17 The day is thine, and the night is thine : thou haſt prepared the light and the ſun.

18 Thou haſt ſet all the borders of the earth : thou haſt made ſummer and winter.

19 Remember this, O Lord, how the enemy hath rebuked : and how the fooliſh people hath blaſphemed thy Name.

20 O deliver not the ſoul of thy turtle-dove unto the multitude of the enemies : and forget not the congregation of the poor for ever.

21 Look upon the covenant : for all the earth is full of darkneſs, and cruel habitations.

22 O let not the ſimple go away aſhamed : but let the poor and needy give praiſe unto thy Name.

23 Ariſe, O God, maintain thine own cauſe : remember how the fooliſh man blaſphemeth thee daily.

24 Forget not the voice of thine enemies : the preſumption of them that hate thee increaſeth ever more and more.

Morning Prayer.

PSALM 75. *Confitebimur tibi.*

UNTO thee, O God, do we give thanks : yea, unto thee do we give thanks.

2 Thy Name alſo is ſo nigh : and that do thy wondrous works declare.

3 When I receive the congregation : I ſhall judge according unto right.

4 The earth is weak, and all the inhabiters thereof . I bear up the pillars of it.

5 I ſaid unto the fools, Deal not ſo madly: and to the ungodly, Set not up your horn.

6 Set not up your horn on high : and ſpeak not with a ſtiff neck.

7 For promotion cometh neither from the eaſt, nor from the weſt : nor yet from the ſouth.

8 And why ? God is the Judge : he putteth down one, and ſetteth up another.

9 For in the hand of the Lord there is a cup, and the wine is red : it is full mixed, and he poureth out of the ſame.

10 As for the dregs thereof : all the ungodly of the earth ſhall drink them, and ſuck them out.

11 But I will talk of the God of Jacob : and praiſe him for ever.

12 All the horns of the ungodly alſo will I break : and the horns of the righteous ſhall be exalted.

Psalm 76. *Notus in Judæa.*

IN Jewry is God known : his Name is great in Iſrael.

2 At Salem is his tabernacle : and his dwelling in Sion.

3 There brake he the arrows of the bow: the ſhield, the ſword, and the battle.

4 Thou art of more honour and might: than the hills of the robbers.

5 The proud are robbed, they have ſlept their ſleep: and all the men whoſe hands were mighty have found nothing.

6 At thy rebuke, O God of Jacob: both the chariot and horſe are fallen.

7 Thou, even thou art to be feared: and who may ſtand in thy ſight when thou art angry?

8 Thou didſt cauſe thy judgement to be heard from heaven: the earth trembled, and was ſtill,

9 When God aroſe to judgement: and to help all the meek upon earth.

10 The fierceneſs of man ſhall turn to thy praiſe: and the fierceneſs of them ſhalt thou refrain.

11 Promiſe unto the Lord your God, and keep it, all ye that are round about him: bring preſents unto him that ought to be feared.

12 He ſhall refrain the ſpirit of princes: and is wonderful among the kings of the earth.

Psalm 77. *Voce mea ad Dominum.*

I Will cry unto God with my voice: even unto God will I cry with my voice, and he ſhall hearken unto me.

2 In the time of my trouble I ſought the

Lord : my ſore ran, and ceaſed not in the night ſeaſon; my ſoul refuſed comfort.

3 When I am in heavineſs, I will think upon God : when my heart is vexed, I will complain.

4 Thou holdeſt mine eyes waking : I am ſo feeble, that I cannot ſpeak.

5 I have conſidered the days of old : and the years that are paſt.

6 I call to remembrance my ſong : and in the night I commune with mine own heart, and ſearch out my ſpirits.

7 Will the Lord abſent himſelf for ever : and will he be no more intreated?

8 Is his mercy clean gone for ever : and is his promiſe come utterly to an end for evermore?

9 Hath God forgotten to be gracious : and will he ſhut up his loving-kindneſs in diſpleaſure?

10 And I ſaid, It is mine own infirmity : but I will remember the years of the right hand of the moſt Higheſt.

11 I will remember the works of the Lord : and call to mind thy wonders of old time.

12 I will think alſo of all thy works : and my talking ſhall be of thy doings.

13 Thy way, O God, is holy : who is ſo great a God as our God?

14 Thou art the God that doeth won-

ders : and haſt declared thy power among the people.

15 Thou haſt mightily delivered thy people : even the ſons of Jacob and Joſeph.

16 The waters ſaw thee, O God, the waters ſaw thee, and were afraid : the depths alſo were troubled.

17 The clouds poured out water, the air thundered : and thine arrows went abroad.

18 The voice of thy thunder was heard round about : the lightnings ſhone upon the ground; the earth was moved, and ſhook withal.

19 Thy way is in the ſea, and thy paths in the great waters : and thy footſteps are not known.

20 Thou leddeſt thy people like ſheep : by the hand of Moſes and Aaron.

Evening Prayer.

PSALM 78. *Attendite, popule.*

HEAR my law, O my people : incline your ears unto the words of my mouth.

2 I will open my mouth in a parable : I will declare hard ſentences of old;

3 Which we have heard and known : and ſuch as our fathers have told us;

4 That we ſhould not hide them from the children of the generations to come : but to ſhew the honour of the Lord, his mighty and wonderful works that he hath done.

5 He made a covenant with Jacob, and gave Iſrael a law : which he commanded our forefathers to teach their children ;

6 That their poſterity might know it : and the children which were yet unborn ;

7 To the intent that when they came up : they might ſhew their children the ſame ;

8 That they might put their truſt in God : and not to forget the works of God, but to keep his commandments ;

9 And not to be as their forefathers, a faithleſs and ſtubborn generation : a generation that ſet not their heart aright, and whoſe ſpirit cleaveth not ſtedfaſtly unto God ;

10 Like as the children of Ephraim : who being harneſſed, and carrying bows, turned themſelves back in the day of battle.

11 They kept not the covenant of God : and would not walk in his law ;

12 But forgat what he had done : and the wonderful works that he had ſhewed for them.

13 Marvellous things did he in the ſight of our forefathers, in the land of Egypt : even in the field of Zoan.

14 He divided the ſea, and let them go through : he made the waters to ſtand on an heap.

15 In the day-time alſo he led them with a cloud : and all the night through with a light of fire.

16 He clave the hard rocks in the wilderneſs: and gave them drink thereof, as it had been out of the great depth.

17 He brought waters out of the ſtony rock: ſo that it guſhed out like the rivers.

18 Yet for all this they ſinned more againſt him: and provoked the moſt Higheſt in the wilderneſs.

19 They tempted God in their hearts: and required meat for their luſt.

20 They ſpake againſt God alſo, ſaying: Shall God prepare a table in the wilderneſs?

21 He ſmote the ſtony rock indeed, that the water guſhed out, and the ſtreams flowed withal: but can he give bread alſo, or provide fleſh for his people?

22 When the Lord heard this, he was wroth: ſo the fire was kindled in Jacob, and there came up heavy diſpleaſure againſt Iſrael;

23 Becauſe they believed not in God: and put not their truſt in his help.

24 So he commanded the clouds above: and opened the doors of heaven.

25 He rained down manna alſo upon them for to eat: and gave them food from heaven.

26 So man did eat angels' food: for he ſent them meat enough.

27 He cauſed the eaſt-wind to blow under heaven: and through his power he brought in the ſouth-weſt-wind.

28 He rained flesh upon them as thick as dust: and feathered fowls like as the sand of the sea.

29 He let it fall among their tents: even round about their habitation.

30 So they did eat, and were well filled; for he gave them their own desire: they were not disappointed of their lust.

31 But while the meat was yet in their mouths, the heavy wrath of God came upon them, and slew the wealthiest of them: yea, and smote down the chosen men that were in Israel.

32 But for all this they sinned yet more: and believed not his wondrous works.

33 Therefore their days did he consume in vanity: and their years in trouble.

34 When he slew them, they sought him: and turned them early, and enquired after God.

35 And they remembered that God was their strength: and that the high God was their redeemer.

36 Nevertheless, they did but flatter him with their mouth: and dissembled with him in their tongue.

37 For their heart was not whole with him: neither continued they stedfast in his covenant.

38 But he was so merciful, that he forgave their misdeeds: and destroyed them not.

39 Yea, many a time turned he his wrath

away : and would not ſuffer his whole diſpleaſure to ariſe.

40 For he conſidered that they were but fleſh : and that they were even a wind that paſſeth away, and cometh not again.

41 Many a time did they provoke him in the wilderneſs : and grieved him in the deſert.

42 They turned back, and tempted God : and moved the Holy One in Iſrael.

43 They thought not of his hand : and of the day when he delivered them from the hand of the enemy ;

44 How he had wrought his miracles in Egypt : and his wonders in the field of Zoan.

45 He turned their waters into blood : ſo that they might not drink of the rivers.

46 He ſent lice among them, and devoured them up : and frogs to deſtroy them.

47 He gave their fruit unto the caterpillar : and their labour unto the graſshopper.

48 He deſtroyed their vines with hail-ſtones : and their mulberry-trees with the froſt.

49 He ſmote their cattle alſo with hail-ſtones : and their flocks with hot thunder-bolts.

50 He caſt upon them the furiouſneſs of his wrath, anger, diſpleaſure, and trouble : and ſent evil angels among them.

51 He made a way to his indignation, and ſpared not their ſoul from death : but gave their life over to the peſtilence ;

52 And ſmote all the firſt-born in Egypt: the moſt principal and mightieſt in the dwellings of Ham.

53 But as for his own people, he led them forth like ſheep: and carried them in the wilderneſs like a flock.

54 He brought them out ſafely, that they ſhould not fear: and overwhelmed their enemies with the ſea.

55 And brought them within the borders of his ſanctuary: even to his mountain which he purchaſed with his right hand.

56 He caſt out the heathen alſo before them: cauſed their land to be divided among them for an heritage, and made the tribes of Iſrael to dwell in their tents.

57 So they tempted, and diſpleaſed the moſt high God: and kept not his teſtimonies;

58 But turned their backs, and fell away like their forefathers: ſtarting aſide like a broken bow.

59 For they grieved him with their hill-altars: and provoked him to diſpleaſure with their images.

60 When God heard this, he was wroth: and took ſore diſpleaſure at Iſrael.

61 So that he forſook the tabernacle in Silo: even the tent that he had pitched among men.

62 He delivered their power into captivity: and their beauty into the enemy's hand.

63 He gave his people over alſo unto the ſword: and was wroth with his inheritance.

64 The fire conſumed their young men: and their maidens were not given to marriage.

65 Their prieſts were ſlain with the ſword: and there were no widows to make lamentation.

66 So the Lord awaked as one out of ſleep: and like a giant refreſhed with wine.

67 He ſmote his enemies in the hinder parts: and put them to a perpetual ſhame.

68 He refuſed the tabernacle of Joſeph: and choſe not the tribe of Ephraim;

69 But choſe the tribe of Judah: even the hill of Sion which he loved.

70 And there he built his temple on high: and laid the foundation of it like the ground which he hath made continually.

71 He choſe David alſo his ſervant: and took him away from the ſheep-folds.

72 As he was following the ewes great with young ones he took him: that he might feed Jacob his people, and Iſrael his inheritance.

73 So he fed them with a faithful and true heart: and ruled them prudently with all his power.

Morning Prayer.

PSALM 79. *Deus, venerunt.*

O God, the heathen are come into thine inheritance: thy holy temple have they

defiled, and made Jeruſalem an heap of ſtones.

2 The dead bodies of thy ſervants have they given to be meat unto the fowls of the air: and the fleſh of thy ſaints unto the beaſts of the land.

3 Their blood have they ſhed like water on every ſide of Jeruſalem: and there was no man to bury them.

4 We are become an open ſhame to our enemies: a very ſcorn and deriſion unto them that are round about us.

5 Lord, how long wilt thou be angry: ſhall thy jealouſy burn like fire for ever?

6 Pour out thine indignation upon the heathen that have not known thee: and upon the kingdoms that have not called upon thy Name.

7 For they have devoured Jacob: and laid waſte his dwelling-place.

8 O remember not our old ſins, but have mercy upon us, and that ſoon: for we are come to great miſery.

9 Help us, O God of our ſalvation, for the glory of thy Name: O deliver us, and be merciful unto our ſins, for thy Name's ſake.

10 Wherefore do the heathen ſay: Where is now their God?

11 O let the vengeance of thy ſervants' blood that is ſhed: be openly ſhewed upon the heathen in our ſight.

12 O let the ſorrowful ſighing of the priſoners come before thee: according to the greatneſs of thy power, preſerve thou thoſe that are appointed to die.

13 And for the blaſphemy wherewith our neighbours have blaſphemed thee: reward thou them, O Lord, ſeven-fold into their boſom.

14 So we, that are thy people, and ſheep of thy paſture, ſhall give thee thanks for ever: and will alway be ſhewing forth thy praiſe from generation to generation.

PSALM 80. *Qui regis Iſrael.*

HEAR, O thou Shepherd of Iſrael, thou that leadeſt Joſeph like a ſheep: ſhew thyſelf alſo, thou that ſitteſt upon the cherubims.

2 Before Ephraim, Benjamin, and Manaſſes: ſtir up thy ſtrength, and come, and help us.

3 Turn us again, O God: ſhew the light of thy countenance, and we ſhall be whole.

4 O Lord God of hoſts: how long wilt thou be angry with thy people that prayeth?

5 Thou feedeſt them with the bread of tears: and giveſt them plenteouſneſs of tears to drink.

6 Thou haſt made us a very ſtrife unto our neighbours: and our enemies laugh us to ſcorn.

7 Turn us again, thou God of hoſts: ſhew the light of thy countenance, and we ſhall be whole.

8 Thou haſt brought a vine out of Egypt: thou haſt caſt out the heathen, and planted it.

9 Thou madeſt room for it: and when it had taken root it filled the land.

10 The hills were covered with the ſhadow of it: and the boughs thereof were like the goodly cedar-trees.

11 She ſtretched out her branches unto the ſea: and her boughs unto the river.

12 Why haſt thou then broken down her hedge: that all they that go by pluck off her grapes?

13 The wild boar out of the wood doth root it up: and the wild beaſts of the field devour it.

14 Turn thee again, thou God of hoſts, look down from heaven: behold, and viſit this vine;

15 And the place of the vineyard that thy right hand hath planted: and the branch that thou madeſt ſo ſtrong for thyſelf.

16 It is burnt with fire, and cut down: and they ſhall periſh at the rebuke of thy countenance.

17 Let thy hand be upon the man of thy right hand: and upon the ſon of man, whom thou madeſt ſo ſtrong for thine own ſelf.

18 And ſo will not we go back from thee: O let us live, and we ſhall call upon thy Name.

19 Turn us again, O Lord God of hoſts: ſhew the light of thy countenance, and we ſhall be whole.

PSALM 81. *Exultate Deo.*

SING we merrily unto God our ſtrength: make a cheerful noiſe unto the God of Jacob.

2 Take the pſalm, bring hither the tabret: the merry harp with the lute.

3 Blow up the trumpet in the new-moon: even in the time appointed, and upon our ſolemn feaſt-day.

4 For this was made a ſtatute for Iſrael: and a law of the God of Jacob.

5 This he ordained in Joſeph for a teſtimony: when he came out of the land of Egypt, and had heard a ſtrange language.

6 I eaſed his ſhoulder from the burden: and his hands were delivered from making the pots.

7 Thou calledſt upon me in troubles, and I delivered thee: and heard thee what time as the ſtorm fell upon thee.

8 I proved thee alſo: at the waters of ſtrife.

9 Hear, O my people, and I will aſſure thee, O Iſrael: if thou wilt hearken unto me,

10 There ſhall no ſtrange god be in thee: neither ſhalt thou worſhip any other god.

11 I am the Lord thy God, who brought thee out of the land of Egypt: open thy mouth wide, and I ſhall fill it.

12 But my people would not hear my voice: and Iſrael would not obey me.

13 So I gave them up unto their own

hearts' luſts: and let them follow their own imaginations.

14 O that my people would have hearkened unto me: for if Iſrael had walked in my ways,

15 I ſhould ſoon have put down their enemies: and turned my hand againſt their adverſaries.

16 The haters of the Lord ſhould have been found liars: but their time ſhould have endured for ever.

17 He ſhould have fed them alſo with the fineſt wheat-flour: and with honey out of the ſtony rock ſhould I have ſatisfied thee.

Evening Prayer.

Psalm 82. *Deus ſtetit.*

GOD ſtandeth in the congregation of princes: he is a Judge among gods.

2 How long will ye give wrong judgement: and accept the perſons of the ungodly?

3 Defend the poor and fatherleſs: ſee that ſuch as are in need and neceſſity have right.

4 Deliver the out-caſt and poor: ſave them from the hand of the ungodly.

5 They will not be learned nor underſtand, but walk on ſtill in darkneſs: all the foundations of the earth are out of courſe.

6 I have ſaid, Ye are gods: and ye are all the children of the moſt Higheſt.

7 But ye ſhall die like men : and fall like one of the princes.

8 Ariſe, O God, and judge thou the earth : for thou ſhalt take all heathen to thine inheritance.

PSALM 83. *Deus, quis ſimilis ?*

HOLD not thy tongue, O God, keep not ſtill ſilence : refrain not thyſelf, O God.

2 For lo, thine enemies make a murmuring : and they that hate thee have lift up their head.

3 They have imagined craftily againſt thy people : and taken counſel againſt thy ſecret ones.

4 They have ſaid, Come, and let us root them out, that they be no more a people : and that the name of Iſrael may be no more in remembrance.

5 For they have caſt their heads together with one conſent : and are confederate againſt thee ;

6 The tabernacles of the Edomites, and the Iſmaelites : the Moabites, and Hagarens ;

7 Gebal, and Ammon, and Amalek : the Philiſtines, with them that dwell at Tyre.

8 Aſſur alſo is joined with them : and have holpen the children of Lot.

9 But do thou to them as unto the Madianites : unto Siſera, and unto Jabin at the brook of Kiſon ;

10 Who periſhed at Endor : and became as the dung of the earth.

11 Make them and their princes like Oreb and Zeb : yea, make all their princes like as Zeba and Salmana ;

12 Who ſay, Let us take to ourſelves : the houſes of God in poſſeſſion.

13 O my God, make them like unto a wheel : and as the ſtubble before the wind ;

14 Like as the fire that burneth up the wood : and as the flame that conſumeth the mountains.

15 Perſecute them even ſo with thy tempeſt : and make them afraid with thy ſtorm.

16 Make their faces aſhamed, O Lord : that they may ſeek thy Name.

17 Let them be confounded and vexed ever more and more : let them be put to ſhame, and periſh.

18 And they ſhall know that thou, whoſe Name is Jehovah : art only the moſt Higheſt over all the earth.

Psalm 84. *Quam dilecta !*

O How amiable are thy dwellings : thou Lord of hoſts !

2 My ſoul hath a deſire and longing to enter into the courts of the Lord : my heart and my fleſh rejoice in the living God.

3 Yea, the ſparrow hath found her an houſe, and the ſwallow a neſt where ſhe may lay her

young: even thy altars, O Lord of hosts, my King and my God.

4 Blessed are they that dwell in thy house: they will be alway praising thee.

5 Blessed is the man whose strength is in thee: in whose heart are thy ways.

6 Who going through the vale of misery use it for a well: and the pools are filled with water.

7 They will go from strength to strength: and unto the God of gods appeareth every one of them in Sion.

8 O Lord God of hosts, hear my prayer: hearken, O God of Jacob.

9 Behold, O God our defender, and look upon the face of thine Anointed.

10 For one day in thy courts: is better than a thousand.

11 I had rather be a door-keeper in the house of my God: than to dwell in the tents of ungodliness.

12 For the Lord God is a light and defence: the Lord will give grace and worship, and no good thing shall he withhold from them that live a godly life.

13 O Lord God of hosts: blessed is the man that putteth his trust in thee.

PSALM 85. *Benedixisti, Domine.*

LORD, thou art become gracious unto thy land: thou hast turned away the captivity of Jacob.

2 Thou haſt forgiven the offence of thy people: and covered all their ſins.

3 Thou haſt taken away all thy diſpleaſure: and turned thyſelf from thy wrathful indignation.

4 Turn us then, O God our Saviour: and let thine anger ceaſe from us.

5 Wilt thou be diſpleaſed at us for ever: and wilt thou ſtretch out thy wrath from one generation to another?

6 Wilt thou not turn again, and quicken us: that thy people may rejoice in thee?

7 Shew us thy mercy, O Lord: and grant us thy ſalvation.

8 I will hearken what the Lord God will ſay concerning me: for he ſhall ſpeak peace unto his people, and to his ſaints, that they turn not again.

9 For his ſalvation is nigh them that fear him: that glory may dwell in our land.

10 Mercy and truth are met together: righteouſneſs and peace have kiſſed each other.

11 Truth ſhall flouriſh out of the earth: and righteouſneſs hath looked down from heaven.

12 Yea, the Lord ſhall ſhew loving-kindneſs: and our land ſhall give her increaſe.

13 Righteouſneſs ſhall go before him: and he ſhall direct his going in the way.

Morning Prayer.

PSALM 86. *Inclina, Domine.*

BOW down thine ear, O Lord, and hear me: for I am poor, and in misery.

2 Preserve thou my soul, for I am holy: my God, save thy servant that putteth his trust in thee.

3 Be merciful unto me, O Lord: for I will call daily upon thee.

4 Comfort the soul of thy servant: for unto thee, O Lord, do I lift up my soul.

5 For thou, Lord, art good and gracious: and of great mercy unto all them that call upon thee.

6 Give ear, Lord, unto my prayer: and ponder the voice of my humble desires.

7 In the time of my trouble I will call upon thee: for thou hearest me.

8 Among the gods there is none like unto thee, O Lord: there is not one that can do as thou doest.

9 All nations whom thou hast made shall come and worship thee, O Lord: and shall glorify thy Name.

10 For thou art great, and doest wondrous things: thou art God alone.

11 Teach me thy way, O Lord, and I will walk in thy truth: O knit my heart unto thee, that I may fear thy Name.

12 I will thank thee, O Lord my God, with

all my heart : and will praiſe thy Name for evermore.

13 For great is thy mercy toward me : and thou haſt delivered my ſoul from the nethermoſt hell.

14 O God, the proud are riſen againſt me: and the congregations of naughty men have ſought after my ſoul, and have not ſet thee before their eyes.

15 But thou, O Lord God, art full of compaſſion and mercy : long-ſuffering, plenteous in goodneſs and truth.

16 O turn thee then unto me, and have mercy upon me : give thy ſtrength unto thy ſervant, and help the ſon of thine handmaid.

17 Shew ſome token upon me for good, that they who hate me may ſee it, and be aſhamed : becauſe thou, Lord, haſt holpen me, and comforted me.

PSALM 87. *Fundamenta ejus.*

HER foundations are upon the holy hills : the Lord loveth the gates of Sion more than all the dwellings of Jacob.

2 Very excellent things are ſpoken of thee : thou city of God.

3 I will think upon Rahab and Babylon : with them that know me.

4 Behold ye the Philiſtines alſo : and they of Tyre, with the Morians ; lo, there was he born.

5 And of Sion it ſhall be reported that he

was born in her: and the moſt High ſhall ſtabliſh her.

6 The Lord ſhall rehearſe it when he writeth up the people: that he was born there.

7 The ſingers alſo and trumpeters ſhall he rehearſe: All my freſh ſprings ſhall be in thee.

PSALM 88. *Domine Deus.*

O Lord God of my ſalvation, I have cried day and night before thee: O let my prayer enter into thy preſence, incline thine ear unto my calling.

2 For my ſoul is full of trouble: and my life draweth nigh unto hell.

3 I am counted as one of them that go down into the pit: and I have been even as a man that hath no ſtrength.

4 Free among the dead, like unto them that are wounded, and lie in the grave: who are out of remembrance, and are cut away from thy hand.

5 Thou haſt laid me in the loweſt pit: in a place of darkneſs, and in the deep.

6 Thine indignation lieth hard upon me: and thou haſt vexed me with all thy ſtorms.

7 Thou haſt put away mine acquaintance far from me: and made me to be abhorred of them.

8 I am ſo faſt in priſon: that I cannot get forth.

9 My ſight faileth for very trouble: Lord,

I have called daily upon thee, I have ſtretched forth my hands unto thee.

10 Doſt thou ſhew wonders among the dead: or ſhall the dead riſe up again, and praiſe thee?

11 Shall thy loving-kindneſs be ſhewed in the grave: or thy faithfulneſs in deſtruction?

12 Shall thy wondrous works be known in the dark: and thy righteouſneſs in the land where all things are forgotten?

13 Unto thee have I cried, O Lord: and early ſhall my prayer come before thee.

14 Lord, why abhorreſt thou my ſoul: and hideſt thou thy face from me?

15 I am in miſery, and like unto him that is at the point to die: even from my youth up thy terrors have I ſuffered with a troubled mind.

16 Thy wrathful diſpleaſure goeth over me: and the fear of thee hath undone me.

17 They came round about me daily like water: and compaſſed me together on every ſide.

18 My lovers and friends haſt thou put away from me: and hid mine acquaintance out of my ſight.

Evening Prayer.

PSALM 89. *Miſericordias Domini.*

MY ſong ſhall be alway of the loving-kindneſs of the Lord: with my mouth

will I ever be ſhewing thy truth from one generation to another.

2 For I have ſaid, Mercy ſhall be ſet up for ever : thy truth ſhalt thou ſtabliſh in the heavens.

3 I have made a covenant with my choſen : I have ſworn unto David my ſervant;

4 Thy ſeed will I ſtabliſh for ever : and ſet up thy throne from one generation to another.

5 O Lord, the very heavens ſhall praiſe thy wondrous works : and thy truth in the congregation of the ſaints.

6 For who is he among the clouds : that ſhall be compared unto the Lord?

7 And what is he among the gods : that ſhall be like unto the Lord?

8 God is very greatly to be feared in the council of the ſaints : and to be had in reverence of all them that are round about him.

9 O Lord God of hoſts, who is like unto thee: thy truth, moſt mighty Lord, is on every ſide.

10 Thou ruleſt the raging of the ſea : thou ſtilleſt the waves thereof when they ariſe.

11 Thou haſt ſubdued Egypt, and deſtroyed it : thou haſt ſcattered thine enemies abroad with thy mighty arm.

12 The heavens are thine, the earth alſo is thine : thou haſt laid the foundation of the round world, and all that therein is.

13 Thou haſt made the north and the

ſouth: Tabor and Hermon ſhall rejoice in thy Name.

14 Thou haſt a mighty arm: ſtrong is thy hand, and high is thy right hand.

15 Righteouſneſs and equity are the habitation of thy ſeat: mercy and truth ſhall go before thy face.

16 Bleſſed is the people, O Lord, that can rejoice in thee: they ſhall walk in the light of thy countenance.

17 Their delight ſhall be daily in thy Name: and in thy righteouſneſs ſhall they make their boaſt.

18 For thou art the glory of their ſtrength: and in thy loving-kindneſs thou ſhalt lift up our horns.

19 For the Lord is our defence: the Holy One of Iſrael is our King.

20 Thou ſpakeſt ſometime in viſions unto thy ſaints, and ſaidſt: I have laid help upon one that is mighty; I have exalted one choſen out of the people.

21 I have found David my ſervant: with my holy oil have I anointed him.

22 My hand ſhall hold him faſt: and my arm ſhall ſtrengthen him.

23 The enemy ſhall not be able to do him violence: the ſon of wickedneſs ſhall not hurt him.

24 I will ſmite down his foes before his face: and plague them that hate him.

25 My truth alſo and my mercy ſhall be with him: and in my Name ſhall his horn be exalted.

26 I will ſet his dominion alſo in the ſea: and his right hand in the floods.

27 He ſhall call me, Thou art my Father: my God, and my ſtrong ſalvation.

28 And I will make him my firſt-born: higher than the kings of the earth.

29 My mercy will I keep for him for evermore: and my covenant ſhall ſtand faſt with him.

30 His ſeed alſo will I make to endure for ever: and his throne as the days of heaven.

31 But if his children forſake my law: and walk not in my judgements;

32 If they break my ſtatutes, and keep not my commandments: I will viſit their offences with the rod, and their ſin with ſcourges.

33 Nevertheleſs, my loving-kindneſs will I not utterly take from him: nor ſuffer my truth to fail.

34 My covenant will I not break, nor alter the thing that is gone out of my lips: I have ſworn once by my holineſs, that I will not fail David.

35 His ſeed ſhall endure for ever: and his ſeat is like as the ſun before me.

36 He ſhall ſtand faſt for evermore as the moon: and as the faithful witneſs in heaven.

37 But thou haſt abhorred and forſaken thine Anointed: and art diſpleaſed at him.

38 Thou haſt broken the covenant of thy ſervant: and caſt his crown to the ground.

39 Thou haſt overthrown all his hedges: and broken down his ſtrong holds.

40 All they that go by ſpoil him: and he is become a reproach to his neighbours.

41 Thou haſt ſet up the right hand of his enemies: and made all his adverſaries to rejoice.

42 Thou haſt taken away the edge of his ſword: and giveſt him not victory in the battle.

43 Thou haſt put out his glory: and caſt his throne down to the ground.

44 The days of his youth haſt thou ſhortened: and covered him with diſhonour.

45 Lord, how long wilt thou hide thyſelf, for ever: and ſhall thy wrath burn like fire?

46 O remember how ſhort my time is: wherefore haſt thou made all men for nought?

47 What man is he that liveth, and ſhall not ſee death: and ſhall he deliver his ſoul from the hand of hell?

48 Lord, where are thy old loving-kindneſſes: which thou ſwareſt unto David in thy truth?

49 Remember, Lord, the rebuke that thy ſervants have: and how I do bear in my boſom the rebukes of many people;

50 Wherewith thine enemies have blaſphemed thee, and ſlandered the footſteps of thine Anointed: Praiſed be the Lord for evermore. Amen, and Amen.

Morning Prayer.

PSALM 90. *Domine, refugium.*

LORD, thou haſt been our refuge: from one generation to another.

2 Before the mountains were brought forth, or ever the earth and the world were made: thou art God from everlaſting, and world without end.

3 Thou turneſt man to deſtruction: again thou ſayeſt, Come again, ye children of men.

4 For a thouſand years in thy ſight are but as yeſterday: ſeeing that is paſt as a watch in the night.

5 As ſoon as thou ſcattereſt them they are even as a ſleep: and fade away ſuddenly like the graſs.

6 In the morning it is green, and groweth up: but in the evening it is cut down, dried up, and withered.

7 For we conſume away in thy diſpleaſure: and are afraid at thy wrathful indignation.

8 Thou haſt ſet our miſdeeds before thee: and our ſecret ſins in the light of thy countenance.

9 For when thou art angry all our days

are gone: we bring our years to an end, as it were a tale that is told.

10 The days of our age are threeſcore years and ten; and though men be ſo ſtrong that they come to fourſcore years: yet is their ſtrength then but labour and ſorrow; ſo ſoon paſſeth it away, and we are gone.

11 But who regardeth the power of thy wrath: for even thereafter as a man feareth, ſo is thy diſpleaſure.

12 O teach us to number our days: that we may apply our hearts unto wiſdom.

13 Turn thee again, O Lord, at the laſt: and be gracious unto thy ſervants.

14 O ſatisfy us with thy mercy, and that ſoon: ſo ſhall we rejoice and be glad all the days of our life.

15 Comfort us again now after the time that thou haſt plagued us: and for the years wherein we have ſuffered adverſity.

16 Shew thy ſervants thy work: and their children thy glory.

17 And the glorious Majeſty of the Lord our God be upon us: proſper thou the work of our hands upon us, O proſper thou our handy-work.

Psalm 91. *Qui habitat.*

WHOSO dwelleth under the defence of the moſt High: ſhall abide under the ſhadow of the Almighty.

2 I will ſay unto the Lord, Thou art my hope, and my ſtrong hold : my God, in him will I truſt.

3 For he ſhall deliver thee from the ſnare of the hunter : and from the noiſome peſtilence.

4 He ſhall defend thee under his wings, and thou ſhalt be ſafe under his feathers : his faithfulneſs and truth ſhall be thy ſhield and buckler.

5 Thou ſhalt not be afraid for any terror by night : nor for the arrow that flieth by day ;

6 For the peſtilence that walketh in darkneſs : nor for the ſickneſs that deſtroyeth in the noon-day.

7 A thouſand ſhall fall beſide thee, and ten thouſand at thy right hand : but it ſhall not come nigh thee.

8 Yea, with thine eyes ſhalt thou behold : and ſee the reward of the ungodly.

9 For thou, Lord, art my hope : thou haſt ſet thine houſe of defence very high.

10 There ſhall no evil happen unto thee : neither ſhall any plague come nigh thy dwelling.

11 For he ſhall give his angels charge over thee : to keep thee in all thy ways.

12 They ſhall bear thee in their hands : that thou hurt not thy foot againſt a ſtone.

13 Thou ſhalt go upon the lion and adder : the young lion and the dragon ſhalt thou tread under thy feet.

14 Becauſe he hath ſet his love upon me, therefore will I deliver him: I will ſet him up, becauſe he hath known my Name.

15 He ſhall call upon me, and I will hear him: yea, I am with him in trouble; I will deliver him, and bring him to honour.

16 With long life will I ſatisfy him: and ſhew him my ſalvation.

PSALM 92. *Bonum eſt confiteri.*

IT is a good thing to give thanks unto the Lord: and to ſing praiſes unto thy Name, O moſt Higheſt;

2 To tell of thy loving-kindneſs early in the morning: and of thy truth in the night-ſeaſon;

3 Upon an inſtrument of ten ſtrings, and upon the lute: upon a loud inſtrument, and upon the harp.

4 For thou, Lord, haſt made me glad through thy works: and I will rejoice in giving praiſe for the operations of thy hands.

5 O Lord, how glorious are thy works: thy thoughts are very deep.

6 An unwiſe man doth not well conſider this: and a fool doth not underſtand it.

7 When the ungodly are green as the graſs, and when all the workers of wickedneſs do flouriſh: then ſhall they be deſtroyed for ever; but thou, Lord, art the moſt Higheſt for evermore.

8 For lo, thine enemies, O Lord, lo, thine

enemies ſhall periſh : and all the workers of wickedneſs ſhall be deſtroyed.

9 But mine horn ſhall be exalted like the horn of an unicorn : for I am anointed with freſh oil.

10 Mine eye alſo ſhall ſee his luſt of mine enemies : and mine ear ſhall hear his deſire of the wicked that ariſe up againſt me.

11 The righteous ſhall flouriſh like a palm-tree : and ſhall ſpread abroad like a cedar in Libanus.

12 Such as are planted in the houſe of the Lord : ſhall flouriſh in the courts of the houſe of our God.

13 They alſo ſhall bring forth more fruit in their age : and ſhall be fat and well-liking.

14 That they may ſhew how true the Lord my ſtrength is : and that there is no unrighteouſneſs in him.

Evening Prayer.

Psalm 93. *Dominus regnavit.*

THE Lord is King, and hath put on glorious apparel : the Lord hath put on his apparel, and girded himſelf with ſtrength.

2 He hath made the round world ſo ſure : that it cannot be moved.

3 Ever ſince the world began hath thy ſeat been prepared : thou art from everlaſting.

4 The floods are riſen, O Lord, the floods

have lift up their voice : the floods lift up their waves.

5 The waves of the ſea are mighty, and rage horribly : but yet the Lord, who dwelleth on high, is mightier.

6 Thy teſtimonies, O Lord, are very ſure : holineſs becometh thine houſe for ever.

PSALM 94. *Deus ultionum.*

O Lord God, to whom vengeance belongeth : thou God, to whom vengeance belongeth, ſhew thyſelf.

2 Ariſe, thou Judge of the world : and reward the proud after their deſerving.

3 Lord, how long ſhall the ungodly : how long ſhall the ungodly triumph?

4 How long ſhall all wicked doers ſpeak ſo diſdainfully : and make ſuch proud boaſting?

5 They ſmite down thy people, O Lord : and trouble thine heritage.

6 They murder the widow, and the ſtranger : and put the fatherleſs to death.

7 And yet they ſay, Tuſh, the Lord ſhall not ſee : neither ſhall the God of Jacob regard it.

8 Take heed, ye unwiſe among the people : O ye fools, when will ye underſtand?

9 He that planted the ear, ſhall he not hear : or he that made the eye, ſhall he not ſee?

10 Or he that nurtureth the heathen : it is

he that teacheth man knowledge, ſhall not he puniſh?

11 The Lord knoweth the thoughts of man: that they are but vain.

12 Bleſſed is the man whom thou chaſteneſt, O Lord: and teacheſt him in thy law;

13 That thou mayeſt give him patience in time of adverſity: until the pit be digged up for the ungodly.

14 For the Lord will not fail his people: neither will he forſake his inheritance;

15 Until righteouſneſs turn again unto judgement: all ſuch as are true in heart ſhall follow it.

16 Who will riſe up with me againſt the wicked: or who will take my part againſt the evil-doers?

17 If the Lord had not helped me: it had not failed but my ſoul had been put to ſilence.

18 But when I ſaid, My foot hath ſlipt: thy mercy, O Lord, held me up.

19 In the multitude of the ſorrows that I had in my heart: thy comforts have refreſhed my ſoul.

20 Wilt thou have any thing to do with the ſtool of wickedneſs: which imagineth miſchief as a law?

21 They gather them together againſt the ſoul of the righteous: and condemn the innocent blood.

22 But the Lord is my refuge: and my God is the ſtrength of my confidence.

23 He ſhall recompenſe them their wickedneſs, and deſtroy them in their own malice: yea, the Lord our God ſhall deſtroy them.

Morning Prayer.

PSALM 95. *Venite, exultemus.*

O Come, let us ſing unto the Lord: let us heartily rejoice in the ſtrength of our ſalvation.

2 Let us come before his preſence with thankſgiving: and ſhew ourſelves glad in him with pſalms.

3 For the Lord is a great God: and a great King above all gods.

4 In his hand are all the corners of the earth: and the ſtrength of the hills is his alſo.

5 The ſea is his, and he made it: and his hands prepared the dry land.

6 O come, let us worſhip and fall down: and kneel before the Lord our Maker.

7 For he is the Lord our God: and we are the people of his paſture, and the ſheep of his hand.

8 To-day if ye will hear his voice, harden not your hearts: as in the provocation, and as in the day of temptation in the wilderneſs;

9 When your fathers tempted me: proved me, and ſaw my works.

10 Forty years long was I grieved with this generation, and ſaid: It is a people that do err in their hearts, for they have not known my ways;

11 Unto whom I ſware in my wrath: that they ſhould not enter into my reſt.

PSALM 96. *Cantate Domino.*

O Sing unto the Lord a new ſong: ſing unto the Lord, all the whole earth.

2 Sing unto the Lord, and praiſe his Name: be telling of his ſalvation from day to day.

3 Declare his honour unto the heathen: and his wonders unto all people.

4 For the Lord is great, and cannot worthily be praiſed: he is more to be feared than all gods.

5 As for all the gods of the heathen, they are but idols: but it is the Lord that made the heavens.

6 Glory and worſhip are before him: power and honour are in his ſanctuary.

7 Aſcribe unto the Lord, O ye kindreds of the people: aſcribe unto the Lord worſhip and power.

8 Aſcribe unto the Lord the honour due unto his Name: bring preſents, and come into his courts.

9 O worſhip the Lord in the beauty of holineſs: let the whole earth ſtand in awe of him.

10 Tell it out among the heathen that the

Lord is King: and that it is he who hath made the round world ſo faſt that it cannot be moved; and how that he ſhall judge the people righteouſly.

11 Let the heavens rejoice, and let the earth be glad: let the ſea make a noiſe, and all that therein is.

12 Let the field be joyful, and all that is in it: then ſhall all the trees of the wood rejoice before the Lord.

13 For he cometh, for he cometh to judge the earth: and with righteouſneſs to judge the world, and the people with his truth.

Psalm 97. *Dominus regnavit.*

THE Lord is King, the earth may be glad thereof: yea, the multitude of the iſles may be glad thereof.

2 Clouds and darkneſs are round about him: righteouſneſs and judgement are the habitation of his ſeat.

3 There ſhall go a fire before him: and burn up his enemies on every ſide.

4 His lightnings gave ſhine unto the world: the earth ſaw it, and was afraid.

5 The hills melted like wax at the preſence of the Lord: at the preſence of the Lord of the whole earth.

6 The heavens have declared his righteouſneſs: and all the people have ſeen his glory.

7 Confounded be all they that worſhip carv-

ed images, and that delight in vain gods: worſhip him, all ye gods.

8 Sion heard of it, and rejoiced: and the daughters of Judah were glad, becauſe of thy judgements, O Lord.

9 For thou, Lord, art higher than all that are in the earth: thou art exalted far above all gods.

10 O ye that love the Lord, ſee that ye hate the thing which is evil: the Lord preſerveth the ſouls of his ſaints; he ſhall deliver them from the hand of the ungodly.

11 There is ſprung up a light for the righteous: and joyful gladneſs for ſuch as are true-hearted.

12 Rejoice in the Lord, ye righteous: and give thanks for a remembrance of his holineſs.

Evening Prayer.

Psalm 98. *Cantate Domino.*

O Sing unto the Lord a new ſong: for he hath done marvellous things.

2 With his own right hand, and with his holy arm: hath he gotten himſelf the victory.

3 The Lord declared his ſalvation: his righteouſneſs hath he openly ſhewed in the ſight of the heathen.

4 He hath remembered his mercy and truth toward the houſe of Iſrael: and all the ends of the world have ſeen the ſalvation of our God.

5 Shew yourſelves joyful unto the Lord, all ye lands: ſing, rejoice, and give thanks.

6 Praiſe the Lord upon the harp: ſing to the harp with a pſalm of thankſgiving.

7 With trumpets alſo, and ſhawms: O ſhew yourſelves joyful before the Lord the King.

8 Let the ſea make a noiſe, and all that therein is: the round world, and they that dwell therein.

9 Let the floods clap their hands, and let the hills be joyful together before the Lord: for he is come to judge the earth.

10 With righteouſneſs ſhall he judge the world: and the people with equity.

Psalm 99. *Dominus regnavit.*

THE Lord is King, be the people never ſo impatient: he ſitteth between the cherubims, be the earth never ſo unquiet.

2 The Lord is great in Sion: and high above all people.

3 They ſhall give thanks unto thy Name: which is great, wonderful, and holy.

4 The King's power loveth judgement; thou haſt prepared equity: thou haſt executed judgement and righteouſneſs in Jacob.

5 O magnify the Lord our God: and fall down before his footſtool, for he is holy.

6 Moſes and Aaron among his prieſts, and Samuel among ſuch as call upon his Name: theſe called upon the Lord, and he heard them.

7 He ſpake unto them out of the cloudy pillar: for they kept his teſtimonies, and the law that he gave them.

8 Thou heardeſt them, O Lord our God: thou forgaveſt them, O God, and puniſhedſt their own inventions.

9 O magnify the Lord our God, and worſhip him upon his holy hill: for the Lord our God is holy.

PSALM 100. *Jubilate Deo.*

O Be joyful in the Lord, all ye lands: ſerve the Lord with gladneſs, and come before his preſence with a ſong.

2 Be ye ſure that the Lord he is God: it is he that hath made us, and not we ourſelves; we are his people, and the ſheep of his paſture.

3 O go your way into his gates with thankſgiving, and into his courts with praiſe: be thankful unto him, and ſpeak good of his Name.

4 For the Lord is gracious, his mercy is everlaſting: and his truth endureth from generation to generation.

PSALM 101. *Miſericordiam et judicium.*

MY ſong ſhall be of mercy and judgement: unto thee, O Lord, will I ſing.

2 O let me have underſtanding: in the way of godlineſs.

3 When wilt thou come unto me: I will walk in my houſe with a perfect heart.

4 I will take no wicked thing in hand; I

hate the ſins of unfaithfulneſs : there ſhall no ſuch cleave unto me.

5 A froward heart ſhall depart from me : I will not know a wicked perſon.

6 Whoſo privily ſlandereth his neighbour : him will I deſtroy.

7 Whoſo hath alſo a proud look and high ſtomach : I will not ſuffer him.

8 Mine eyes look upon ſuch as are faithful in the land : that they may dwell with me.

9 Whoſo leadeth a godly life : he ſhall be my ſervant.

10 There ſhall no deceitful perſon dwell in my houſe : he that telleth lies ſhall not tarry in my ſight.

11 I ſhall ſoon deſtroy all the ungodly that are in the land : that I may root out all wicked doers from the city of the Lord.

Morning Prayer.

PSALM 102. *Domine, exaudi.*

HEAR my prayer, O Lord : and let my crying come unto thee.

2 Hide not thy face from me in the time of my trouble : incline thine ear unto me when I call ; O hear me, and that right ſoon.

3 For my days are conſumed away like ſmoke : and my bones are burnt up as it were a fire-brand.

4 My heart is ſmitten down, and wither-

ed like grafs : fo that I forget to eat my bread.

5 For the voice of my groaning : my bones will fcarce cleave to my flefh.

6 I am become like a pelican in the wildernefs : and like an owl that is in the defert.

7 I have watched, and am even as it were a fparrow : that fitteth alone upon the houfe-top.

8 Mine enemies revile me all the day long : and they that are mad upon me are fworn together againft me.

9 For I have eaten afhes as it were bread : and mingled my drink with weeping ;

10 And that becaufe of thine indignation and wrath : for thou haft taken me up, and caft me down.

11 My days are gone like a fhadow : and I am withered like grafs.

12 But, thou, O Lord, fhalt endure for ever : and thy remembrance throughout all generations.

13 Thou fhalt arife, and have mercy upon Sion : for it is time that thou have mercy upon her, yea, the time is come.

14 And why ? thy fervants think upon her ftones : and it pitieth them to fee her in the duft.

15 The heathen fhall fear thy Name, O Lord : and all the kings of the earth thy Majefty ;

16 When the Lord ſhall build up Sion: and when his glory ſhall appear;

17 When he turneth him unto the prayer of the poor deſtitute: and deſpiſeth not their deſire.

18 This ſhall be written for thoſe that come after: and the people which ſhall be born ſhall praiſe the Lord.

19 For he hath looked down from his ſanctuary: out of the heaven did the Lord behold the earth;

20 That he might hear the mournings of ſuch as are in captivity: and deliver the children appointed unto death;

21 That they may declare the Name of the Lord in Sion: and his worſhip at Jeruſalem;

22 When the people are gathered together: and the kingdoms alſo, to ſerve the Lord.

23 He brought down my ſtrength in my journey: and ſhortened my days.

24 But I ſaid, O my God, take me not away in the midſt of mine age: as for thy years, they endure throughout all generations.

25 Thou, Lord, in the beginning haſt laid the foundation of the earth: and the heavens are the work of thy hands.

26 They ſhall periſh, but thou ſhalt endure: they all ſhall wax old as doth a garment;

27 And as a veſture ſhalt thou change them,

and they ſhall be changed : but thou art the ſame, and thy years ſhall not fail.

28 The children of thy ſervants ſhall continue : and their ſeed ſhall ſtand faſt in thy ſight.

PSALM 103. *Benedic, anima mea.*

PRAISE the Lord, O my ſoul : and all that is within me praiſe his holy Name.

2 Praiſe the Lord, O my ſoul : and forget not all his benefits ;

3 Who forgiveth all thy ſin : and healeth all thine infirmities ;

4 Who ſaveth thy life from deſtruction : and crowneth thee with mercy and loving-kindneſs;

5 Who ſatisfieth thy mouth with good things : making thee young and luſty as an eagle.

6 The Lord executeth righteouſneſs and judgement : for all them that are oppreſſed with wrong.

7 He ſhewed his ways unto Moſes : his works unto the children of Iſrael.

8 The Lord is full of compaſſion and mercy : long-ſuffering, and of great goodneſs.

9 He will not alway be chiding : neither keepeth he his anger for ever.

10 He hath not dealt with us after our ſins : nor rewarded us according to our wickedneſs.

11 For look how high the heaven is in compariſon of the earth : ſo great is his mercy alſo toward them that fear him.

12 Look how wide alſo the eaſt is from the weſt: ſo far hath he ſet our ſins from us.

13 Yea, like as a father pitieth his own children: even ſo is the Lord merciful unto them that fear him.

14 For he knoweth whereof we are made: he remembereth that we are but duſt.

15 The days of man are but as graſs: for he flouriſheth as a flower of the field.

16 For as ſoon as the wind goeth over it, it is gone: and the place thereof ſhall know it no more.

17 But the merciful goodneſs of the Lord endureth for ever and ever upon them that fear him: and his righteouſneſs upon children's children;

18 Even upon ſuch as keep his covenant: and think upon his commandments to do them.

19 The Lord hath prepared his ſeat in heaven: and his kingdom ruleth over all.

20 O praiſe the Lord, ye angels of his, ye that excel in ſtrength: ye that fulfil his commandment, and hearken unto the voice of his words.

21 O praiſe the Lord, all ye his hoſts: ye ſervants of his that do his pleaſure.

22 O ſpeak good of the Lord, all ye works of his, in all places of his dominion: praiſe thou the Lord, O my ſoul.

Evening Prayer.

PSALM 104. *Benedic, anima mea.*

PRAISE the Lord, O my ſoul: O Lord my God, thou art become exceeding glorious; thou art clothed with majeſty and honour.

2 Thou deckeſt thyſelf with light as it were with a garment: and ſpreadeſt out the heavens like a curtain.

3 Who layeth the beams of his chambers in the waters: and maketh the clouds his chariot, and walketh upon the wings of the wind.

4 He maketh his angels ſpirits: and his miniſters a flaming fire.

5 He laid the foundations of the earth: that it never ſhould move at any time.

6 Thou coveredſt it with the deep like as with a garment: the waters ſtand in the hills.

7 At thy rebuke they flee: at the voice of thy thunder they are afraid.

8 They go up as high as the hills, and down to the valleys beneath: even unto the place which thou haſt appointed for them.

9 Thou haſt ſet them their bounds which they ſhall not paſs: neither turn again to cover the earth.

10 He ſendeth the ſprings into the rivers: which run among the hills.

11 All beaſts of the field drink thereof: and the wild aſſes quench their thirſt.

12 Beſide them ſhall the fowls of the air

have their habitation : and ſing among the branches.

13 He watereth the hills from above : the earth is filled with the fruit of thy works.

14 He bringeth forth graſs for the cattle : and green herb for the ſervice of men ;

15 That he may bring food out of the earth, and wine that maketh glad the heart of man : and oil to make him a cheerful countenance, and bread to ſtrengthen man's heart.

16 The trees of the Lord alſo are full of ſap : even the cedars of Libanus which he hath planted ;

17 Wherein the birds make their neſts : and the fir-trees are a dwelling for the ſtork.

18 The high hills are a refuge for the wild goats : and ſo are the ſtony rocks for the conies.

19 He appointed the moon for certain ſeaſons : and the ſun knoweth his going down.

20 Thou makeſt darkneſs that it may be night : wherein all the beaſts of the foreſt do move.

21 The lions roaring after their prey : do ſeek their meat from God.

22 The ſun ariſeth, and they get them away together : and lay them down in their dens.

23 Man goeth forth to his work, and to his labour : until the evening.

24 O Lord, how manifold are thy works :

in wiſdom haſt thou made them all; the earth is full of thy riches.

25 So is the great and wide ſea alſo: wherein are things creeping innumerable, both ſmall and great beaſts.

26 There go the ſhips, and there is that Leviathan: whom thou haſt made to take his paſtime therein.

27 Theſe wait all upon thee: that thou mayeſt give them meat in due ſeaſon.

28 When thou giveſt it them they gather it: and when thou openeſt thy hand they are filled with good.

29 When thou hideſt thy face they are troubled: when thou takeſt away their breath they die, and are turned again to their duſt.

30 When thou letteſt thy breath go forth they ſhall be made: and thou ſhalt renew the face of the earth.

31 The glorious Majeſty of the Lord ſhall endure for ever: the Lord ſhall rejoice in his works.

32 The earth ſhall tremble at the look of him: if he do but touch the hills, they ſhall ſmoke.

33 I will ſing unto the Lord as long as I live: I will praiſe my God while I have my being.

34 And ſo ſhall my words pleaſe him: my joy ſhall be in the Lord.

35 As for ſinners, they ſhall be conſumed

out of the earth, and the ungodly ſhall come to an end : praiſe thou the Lord, O my ſoul, praiſe the Lord.

Morning Prayer.

PSALM 105. *Confitemini Domino.*

O Give thanks unto the Lord, and call upon his Name : tell the people what things he hath done.

2 O let your ſongs be of him, and praiſe him : and let your talking be of all his wondrous works.

3 Rejoice in his holy Name : let the heart of them rejoice that ſeek the Lord.

4 Seek the Lord and his ſtrength : ſeek his face evermore.

5 Remember the marvellous works that he hath done : his wonders, and the judgements of his mouth,

6 O ye ſeed of Abraham his ſervant : ye children of Jacob his choſen.

7 He is the Lord our God : his judgements are in all the world.

8 He hath been alway mindful of his covenant and promiſe : that he made to a thouſand generations ;

9 Even the covenant that he made with Abraham : and the oath that he ſware unto Iſaac;

10 And appointed the ſame unto Jacob for a law : and to Iſrael for an everlaſting teſtament;

11 Saying, Unto thee will I give the land of Canaan: the lot of your inheritance;

12 When there were yet but a few of them: and they ſtrangers in the land;

13 What time as they went from one nation to another: from one kingdom to another people;

14 He ſuffered no man to do them wrong: but reproved even kings for their ſakes;

15 Touch not mine Anointed: and do my prophets no harm.

16 Moreover, he called for a dearth upon the land: and deſtroyed all the proviſion of bread.

17 But he had ſent a man before them: even Joſeph, who was ſold to be a bond-ſervant;

18 Whoſe feet they hurt in the ſtocks: the iron entered into his ſoul;

19 Until the time came that his cauſe was known: the word of the Lord tried him.

20 The king ſent, and delivered him: the prince of the people let him go free.

21 He made him lord alſo of his houſe: and ruler of all his ſubſtance;

22 That he might inform his princes after his will: and teach his ſenators wiſdom.

23 Iſrael alſo came into Egypt: and Jacob was a ſtranger in the land of Ham.

24 And he increaſed his people exceedingly: and made them ſtronger than their enemies;

25 Whoſe heart turned ſo, that they hated his people : and dealt untruly with his ſervants.

26 Then ſent he Moſes his ſervant : and Aaron whom he had choſen.

27 And theſe ſhewed his tokens among them : and wonders in the land of Ham.

28 He ſent darkneſs, and it was dark : and they were not obedient unto his word.

29 He turned their waters into blood : and ſlew their fiſh.

30 Their land brought forth frogs : yea, even in their kings' chambers.

31 He ſpake the word, and there came all manner of flies : and lice in all their quarters.

32 He gave them hail-ſtones for rain : and flames of fire in their land.

33 He ſmote their vines alſo and fig-trees : and deſtroyed the trees that were in their coaſts.

34 He ſpake the word, and the graſshoppers came, and caterpillars innumerable : and did eat up all the graſs in their land, and devoured the fruit of their ground.

35 He ſmote all the firſt-born in their land : even the chief of all their ſtrength.

36 He brought them forth alſo with ſilver and gold : there was not one feeble perſon among their tribes.

37 Egypt was glad at their departing : for they were afraid of them.

38 He ſpread out a cloud to be a covering: and fire to give light in the night-ſeaſon.

39 At their deſire he brought quails: and he filled them with the bread of heaven.

40 He opened the rock of ſtone, and the waters flowed out: ſo that rivers ran in the dry places.

41 For why? he remembered his holy promiſe: and Abraham his ſervant.

42 And he brought forth his people with joy: and his choſen with gladneſs;

43 And gave them the lands of the heathen: and they took the labours of the people in poſſeſſion;

44 That they might keep his ſtatutes: and obſerve his laws.

Evening Prayer.

PSALM 106. *Confitemini Domino.*

O Give thanks unto the Lord, for he is gracious: and his mercy endureth for ever.

2 Who can expreſs the noble acts of the Lord: or ſhew forth all his praiſe?

3 Bleſſed are they that alway keep judgement: and do righteouſneſs.

4 Remember me, O Lord, according to the favour that thou beareſt unto thy people: O viſit me with thy ſalvation;

5 That I may ſee the felicity of thy choſen:

and rejoice in the gladneſs of thy people, and give thanks with thine inheritance.

6 We have ſinned with our fathers : we have done amiſs, and dealt wickedly.

7 Our fathers regarded not thy wonders in Egypt, neither kept they thy great goodneſs in remembrance : but were diſobedient at the ſea, even at the Red ſea.

8 Nevertheleſs, he helped them for his Name's ſake : that he might make his power to be known.

9 He rebuked the Red ſea alſo, and it was dried up : ſo he led them through the deep, as through a wilderneſs.

10 And he ſaved them from the adverſary's hand : and delivered them from the hand of the enemy.

11 As for thoſe that troubled them, the waters overwhelmed them : there was not one of them left.

12 Then believed they his words : and ſang praiſe unto him.

13 But within a while they forgat his works : and would not abide his counſel.

14 But luſt came upon them in the wilderneſs : and they tempted God in the deſert.

15 And he gave them their deſire : and ſent leanneſs withal into their ſoul.

16 They angered Moſes alſo in the tents : and Aaron the ſaint of the Lord.

17 So the earth opened, and ſwallowed up Dathan : and covered the congregation of Abiram.

18 And the fire was kindled in their company : the flame burnt up the ungodly.

19 They made a calf in Horeb : and worſhipped the molten image.

20 Thus they turned their glory : into the ſimilitude of a calf that eateth hay.

21 And they forgat God their ſaviour : who had done ſo great things in Egypt;

22 Wondrous works in the land of Ham : and fearful things by the Red ſea.

23 So he ſaid, he would have deſtroyed them, had not Moſes his choſen ſtood before him in the gap : to turn away his wrathful indignation, leſt he ſhould deſtroy them.

24 Yea, they thought ſcorn of that pleaſant land : and gave no credence unto his word;

25 But murmured in their tents : and hearkened not unto the voice of the Lord.

26 Then lift he up his hand againſt them : to overthrow them in the wilderneſs;

27 To caſt out their ſeed among the nations : and to ſcatter them in the lands.

28 They joined themſelves unto Baal-peor : and ate the offerings of the dead.

29 Thus they provoked him to anger with their own inventions : and the plague was great among them.

30 Then ſtood up Phinees and prayed: and ſo the plague ceaſed.

31 And that was counted unto him for righteouſneſs: among all poſterities for evermore.

32 They angered him alſo at the waters of ſtrife: ſo that he puniſhed Moſes for their ſakes;

33 Becauſe they provoked his ſpirit: ſo that he ſpake unadviſedly with his lips.

34 Neither deſtroyed they the heathen: as the Lord commanded them;

35 But were mingled among the heathen: and learned their works.

36 Inſomuch that they worſhipped their idols, which turned to their own decay: yea, they offered their ſons and their daughters unto devils;

37 And ſhed innocent blood, even the blood of their ſons and of their daughters: whom they offered unto the idols of Canaan; and the land was defiled with blood.

38 Thus were they ſtained with their own works: and went a whoring with their own inventions.

39 Therefore was the wrath of the Lord kindled againſt his people: inſomuch that he abhorred his own inheritance.

40 And he gave them over into the hand of the heathen: and they that hated them were lords over them.

41 Their enemies oppreſſed them: and had them in ſubjection.

42 Many a time did he deliver them: but they rebelled againſt him with their own inventions, and were brought down in their wickedneſs.

43 Nevertheleſs, when he ſaw their adverſity: he heard their complaint.

44 He thought upon his covenant, and pitied them, according unto the multitude of his mercies: yea, he made all thoſe that led them away captive to pity them.

45 Deliver us, O Lord our God, and gather us from among the heathen: that we may give thanks unto thy holy Name, and make our boaſt of thy praiſe.

46 Bleſſed be the Lord God of Iſrael from everlaſting, and world without end: and let all the people ſay, Amen.

Morning Prayer.

PSALM 107. *Confitemini Domino.*

O Give thanks unto the Lord, for he is gracious: and his mercy endureth for ever.

2 Let them give thanks whom the Lord hath redeemed: and delivered from the hand of the enemy;

3 And gathered them out of the lands, from the eaſt, and from the weſt: from the north, and from the ſouth.

4 They went aſtray in the wilderneſs out of the way: and found no city to dwell in;
5 Hungry and thirſty: their ſoul fainted in them.
6 So they cried unto the Lord in their trouble: and he delivered them from their diſtreſs.
7 He led them forth by the right way: that they might go to the city where they dwelt.
8 O that men would therefore praiſe the Lord for his goodneſs: and declare the wonders that he doeth for the children of men!
9 For he ſatisfieth the empty ſoul: and filleth the hungry ſoul with goodneſs.
10 Such as ſit in darkneſs, and in the ſhadow of death: being faſt bound in miſery and iron;
11 Becauſe they rebelled againſt the words of the Lord: and lightly regarded the counſel of the moſt Higheſt;
12 He alſo brought down their heart through heavineſs: they fell down, and there was none to help them.
13 So when they cried unto the Lord in their trouble: he delivered them out of their diſtreſs.
14 For he brought them out of darkneſs, and out of the ſhadow of death: and brake their bonds in ſunder.
15 O that men would therefore praiſe the Lord for his goodneſs: and declare the wonders that he doeth for the children of men!

16 For he hath broken the gates of braſs: and ſmitten the bars of iron in ſunder.

17 Fooliſh men are plagued for their offence: and becauſe of their wickedneſs.

18 Their ſoul abhorred all manner of meat: and they were even hard at death's door.

19 So when they cried unto the Lord in their trouble: he delivered them out of their diſtreſs.

20 He ſent his word, and healed them: and they were ſaved from their deſtruction.

21 O that men would therefore praiſe the Lord for his goodneſs: and declare the wonders that he doeth for the children of men!

22 That they would offer unto him the ſacrifice of thankſgiving: and tell out his works with gladneſs!

23 They that go down to the ſea in ſhips: and occupy their buſineſs in great waters;

24 Theſe men ſee the works of the Lord: and his wonders in the deep.

25 For at his word the ſtormy wind ariſeth: which lifteth up the waves thereof.

26 They are carried up to the heaven, and down again to the deep: their ſoul melteth away becauſe of the trouble.

27 They reel to and fro, and ſtagger like a drunken man: and are at their wit's end.

28 So when they cry unto the Lord in their trouble: he delivereth them out of their diſtreſs.

29 For he maketh the ſtorm to ceaſe : ſo that the waves thereof are ſtill.

30 Then are they glad, becauſe they are at reſt : and ſo he bringeth them unto the haven where they would be.

31 O that men would therefore praiſe the Lord for his goodneſs : and declare the wonders that he doeth for the children of men !

32 That they would exalt him alſo in the congregation of the people : and praiſe him in the ſeat of the elders !

33 Who turneth the floods into a wilderneſs : and drieth up the water-ſprings.

34 A fruitful land maketh he barren : for the wickedneſs of them that dwell therein.

35 Again, he maketh the wilderneſs a ſtanding water : and water-ſprings of a dry ground.

36 And there he ſetteth the hungry : that they may build them a city to dwell in ;

37 That they may ſow their land, and plant vineyards : to yield them fruits of increaſe.

38 He bleſſeth them, ſo that they multiply exceedingly : and ſuffereth not their cattle to decreaſe.

39 And again, when they are miniſhed, and brought low : through oppreſſion, through any plague, or trouble ;

40 Though he ſuffer them to be evil intreated through tyrants : and let them wander out of the way in the wilderneſs ;

41 Yet helpeth he the poor out of misery: and maketh him housholds like a flock of sheep.

42 The righteous will consider this, and rejoice: and the mouth of all wickedness shall be stopped.

43 Whoso is wise will ponder these things: and they shall understand the loving-kindness of the Lord.

Evening Prayer.

PSALM 108. *Paratum cor meum.*

O God, my heart is ready, my heart is ready: I will sing and give praise with the best member that I have.

2 Awake, thou lute, and harp: I myself will awake right early.

3 I will give thanks unto thee, O Lord, among the people: I will sing praises unto thee among the nations.

4 For thy mercy is greater than the heavens: and thy truth reacheth unto the clouds.

5 Set up thyself, O God, above the heavens: and thy glory above all the earth.

6 That thy beloved may be delivered: let thy right hand save them, and hear thou me.

7 God hath spoken in his holiness: I will rejoice therefore, and divide Sichem, and mete out the valley of Succoth.

8 Gilead is mine, and Manasses is mine: Ephraim also is the strength of my head.

9 Judah is my law-giver, Moab is my waſh-pot: over Edom will I caſt out my ſhoe; upon Philiſtia will I triumph.

10 Who will lead me into the ſtrong city: and who will bring me into Edom?

11 Haſt not thou forſaken us, O God: and wilt not thou, O God, go forth with our hoſts?

12 O help us againſt the enemy: for vain is the help of man.

13 Through God we ſhall do great acts: and it is he that ſhall tread down our enemies.

PSALM 109. *Deus laudam.*

HOLD not thy tongue, O God of my praiſe: for the mouth of the ungodly, yea, the mouth of the deceitful is opened upon me.

2 And they have ſpoken againſt me with falſe tongues: they compaſſed me about alſo with words of hatred, and fought againſt me without a cauſe.

3 For the love that I had unto them, lo, they take now my contrary part: but I give myſelf unto prayer.

4 Thus have they rewarded me evil for good: and hatred for my good will.

5 Set thou an ungodly man to be ruler over him: and let Satan ſtand at his right hand.

6 When ſentence is given upon him, let him be condemned: and let his prayer be turned into ſin.

7 Let his days be few : and let another take his office.

8 Let his children be fatherleſs : and his wife a widow.

9 Let his children be vagabonds, and beg their bread : let them ſeek it alſo out of deſolate places.

10 Let the extortioner conſume all that he hath : and let the ſtranger ſpoil his labour.

11 Let there be no man to pity him : nor to have compaſſion upon his fatherleſs children.

12 Let his poſterity be deſtroyed : and in the next generation let his name be clean put out.

13 Let the wickedneſs of his fathers be had in remembrance in the ſight of the Lord : and let not the ſin of his mother be done away.

14 Let them alway be before the Lord : that he may root out the memorial of them from off the earth ;

15 And that, becauſe his mind was not to do good : but perſecuted the poor helpleſs man, that he might ſlay him that was vexed at the heart.

16 His delight was in curſing, and it ſhall happen unto him : he loved not bleſſing, therefore ſhall it be far from him.

17 He clothed himſelf with curſing, like as with a raiment : and it ſhall come into his bowels like water, and like oil into his bones.

18 Let it be unto him as the cloke that he hath upon him : and as the girdle that he is alway girded withal.

19 Let it thus happen from the Lord unto mine enemies : and to thoſe that ſpeak evil againſt my ſoul.

20 But deal thou with me, O Lord God, according unto thy Name : for ſweet is thy mercy.

21 O deliver me, for I am helpleſs and poor: and my heart is wounded within me.

22 I go hence like the ſhadow that departeth : and am driven away as the graſshopper.

23 My knees are weak through faſting: my fleſh is dried up for want of fatneſs.

24 I became alſo a reproach unto them : they that looked upon me ſhaked their heads.

25 Help me, O Lord my God : O ſave me according to thy mercy ;

26 And they ſhall know, how that this is thy hand : and that thou, Lord, haſt done it.

27 Though they curſe, yet bleſs thou : and let them be confounded that riſe up againſt me ; but let thy ſervant rejoice.

28 Let mine adverſaries be clothed with ſhame : and let them cover themſelves with their own confuſion, as with a cloke.

29 As for me, I will give great thanks unto the Lord with my mouth : and praiſe him among the multitude ;

30 For he ſhall ſtand at the right hand of the poor : to ſave his ſoul from unrighteous judges.

Morning Prayer.

Psalm 110. *Dixit Dominus.*

THE Lord ſaid unto my Lord : Sit thou on my right hand, until I make thine enemies thy footſtool.

2 The Lord ſhall ſend the rod of thy power out of Sion : be thou ruler, even in the midſt among thine enemies.

3 In the day of thy power ſhall the people offer thee free-will offerings with an holy worſhip : the dew of thy birth is of the womb of the morning.

4 The Lord ſware, and will not repent : Thou art a Prieſt for ever after the order of Melchiſedech.

5 The Lord upon thy right hand : ſhall wound even kings in the day of his wrath.

6 He ſhall judge among the heathen ; he ſhall fill the places with the dead bodies : and ſmite in ſunder the heads over divers countries.

7 He ſhall drink of the brook in the way : therefore ſhall he lift up his head.

Psalm 111. *Confitebor tibi.*

I Will give thanks unto the Lord with my whole heart : ſecretly among the faithful, and in the congregation.

2 The works of the Lord are great: ſought out of all them that have pleaſure therein.

3 His work is worthy to be praiſed, and had in honour: and his righteouſneſs endureth for ever.

4 The merciful and gracious Lord hath ſo done his marvellous works: that they ought to be had in remembrance.

5 He hath given meat unto them that fear him: he ſhall ever be mindful of his covenant.

6 He hath ſhewed his people the power of his works: that he may give them the heritage of the heathen.

7 The works of his hands are verity and judgement: all his commandments are true.

8 They ſtand faſt for ever and ever: and are done in truth and equity.

9 He ſent redemption unto his people: he hath commanded his covenant for ever; holy and reverend is his Name.

10 The fear of the Lord is the beginning of wiſdom: a good underſtanding have all they that do thereafter; the praiſe of it endureth for ever.

Psalm 112. *Beatus vir.*

BLESSED is the man that feareth the Lord: he hath great delight in his commandments.

2 His ſeed ſhall be mighty upon earth: the generation of the faithful ſhall be bleſſed.

3 Riches and plenteouſneſs ſhall be in his houſe: and his righteouſneſs endureth for ever.

4 Unto the godly there ariſeth up light in the darkneſs: he is merciful, loving, and righteous.

5 A good man is merciful, and lendeth: and will guide his words with diſcretion.

6 For he ſhall never be moved: and the righteous ſhall be had in everlaſting remembrance.

7 He will not be afraid of any evil tidings: for his heart ſtandeth faſt, and believeth in the Lord.

8 His heart is eſtabliſhed, and will not ſhrink: until he ſee his deſire upon his enemies.

9 He hath diſperſed abroad, and given to the poor: and his righteouſneſs remaineth for ever; his horn ſhall be exalted with honour.

10 The ungodly ſhall ſee it, and it ſhall grieve him: he ſhall gnaſh with his teeth, and conſume away; the deſire of the ungodly ſhall periſh.

Psalm 113. *Laudate, pueri.*

PRAISE the Lord, ye ſervants: O praiſe the Name of the Lord.

2 Bleſſed be the Name of the Lord: from this time forth for evermore.

3 The Lord's Name is praiſed: from the riſing up of the ſun unto the going down of the ſame.

4 The Lord is high above all heathen: and his glory above the heavens.

5 Who is like unto the Lord our God, that hath his dwelling ſo high: and yet humbleth himſelf to behold the things that are in heaven and earth?

6 He taketh up the ſimple out of the duſt: and lifteth the poor out of the mire;

7 That he may ſet him with the princes: even with the princes of his people.

8 He maketh the barren woman to keep houſe: and to be a joyful mother of children.

Evening Prayer.

PSALM 114. *In exitu Iſrael.*

WHEN Iſrael came out of Egypt: and the houſe of Jacob from among the ſtrange people,

2 Judah was his ſanctuary: and Iſrael his dominion.

3 The ſea ſaw that, and fled: Jordan was driven back.

4 The mountains ſkipped like rams: and the little hills like young ſheep.

5 What aileth thee, O thou ſea, that thou fleddeſt: and thou Jordan, that thou waſt driven back?

6 Ye mountains, that ye ſkipped like rams: and ye little hills, like young ſheep?

7 Tremble, thou earth, at the preſence of the Lord: at the preſence of the God of Jacob;

8 Who turned the hard rock into a ſtanding water : and the flint-ſtone into a ſpringing well.

PSALM 115. *Non nobis, Domine.*

NOT unto us, O Lord, not unto us, but unto thy Name give the praiſe : for thy loving mercy, and for thy truth's ſake.

2 Wherefore ſhall the heathen ſay : Where is now their God?

3 As for our God, he is in heaven : he hath done whatſoever pleaſed him.

4 Their idols are ſilver and gold : even the work of men's hands.

5 They have mouths, and ſpeak not : eyes have they, and ſee not.

6 They have ears, and hear not : noſes have they, and ſmell not.

7 They have hands, and handle not; feet have they, and walk not : neither ſpeak they through their throat.

8 They that make them are like unto them : and ſo are all ſuch as put their truſt in them.

9 But thou, houſe of Iſrael, truſt thou in the Lord : he is their ſuccour and defence.

10 Ye houſe of Aaron, put your truſt in the Lord : he is their helper and defender.

11 Ye that fear the Lord, put your truſt in the Lord : he is their helper and defender.

12 The Lord hath been mindful of us, and he ſhall bleſs us : even he ſhall bleſs

the houſe of Iſrael, he ſhall bleſs the houſe of Aaron.

13 He ſhall bleſs them that fear the Lord: both ſmall and great.

14 The Lord ſhall increaſe you more and more: you and your children.

15 Ye are the bleſſed of the Lord: who made heaven and earth.

16 All the whole heavens are the Lord's: the earth hath he given to the children of men.

17 The dead praiſe not thee, O Lord: neither all they that go down into ſilence.

18 But we will praiſe the Lord: from this time forth for evermore. Praiſe the Lord.

Morning Prayer.

Psalm 116. *Dilexi, quoniam.*

I Am well pleaſed: that the Lord hath heard the voice of my prayer;

2 That he hath inclined his ear unto me: therefore will I call upon him as long as I live.

3 The ſnares of death compaſſed me round about: and the pains of hell gat hold upon me.

4 I ſhall find trouble and heavineſs, and I will call upon the Name of the Lord: O Lord, I beſeech thee, deliver my ſoul.

5 Gracious is the Lord, and righteous: yea, our God is merciful.

6 The Lord preſerveth the ſimple: I was in miſery, and he helped me.

7 Turn again then unto thy reſt, O my ſoul: for the Lord hath rewarded thee.

8 And why? thou haſt delivered my ſoul from death: mine eyes from tears, and my feet from falling.

9 I will walk before the Lord: in the land of the living.

10 I believed, and therefore will I ſpeak; but I was ſore troubled: I ſaid in my haſte, All men are liars.

11 What reward ſhall I give unto the Lord: for all the benefits that he hath done unto me?

12 I will receive the cup of ſalvation: and call upon the Name of the Lord.

13 I will pay my vows now in the preſence of all his people: right dear in the ſight of the Lord is the death of his ſaints.

14 Behold, O Lord, how that I am thy ſervant: I am thy ſervant, and the ſon of thine handmaid; thou haſt broken my bonds in ſunder.

15 I will offer to thee the ſacrifice of thankſgiving: and will call upon the Name of the Lord.

16 I will pay my vows unto the Lord, in the ſight of all his people: in the courts of the Lord's houſe, even in the midſt of thee, O Jeruſalem. Praiſe the Lord.

PSALM 117. *Laudate Dominum.*

O Praiſe the Lord, all ye heathen: praiſe him, all ye nations.

2 For his merciful kindneſs is ever more and more towards us : and the truth of the Lord endureth for ever. Praiſe the Lord.

PSALM 118. *Confitemini Domino.*

O Give thanks unto the Lord, for he is gracious : becauſe his mercy endureth for ever.

2 Let Iſrael now confeſs, that he is gracious : and that his mercy endureth for ever.

3 Let the houſe of Aaron now confeſs : that his mercy endureth for ever.

4 Yea, let them now that fear the Lord confeſs : that his mercy endureth for ever.

5 I called upon the Lord in trouble : and the Lord heard me at large.

6 The Lord is on my ſide : I will not fear what man doeth unto me.

7 The Lord taketh my part with them that help me : therefore ſhall I ſee my deſire upon mine enemies.

8 It is better to truſt in the Lord : than to put any confidence in man.

9 It is better to truſt in the Lord : than to put any confidence in princes.

10 All nations compaſſed me round about: but in the Name of the Lord will I deſtroy them.

11 They kept me in on every ſide, they kept me in, I ſay, on every ſide : but in the Name of the Lord will I deſtroy them.

12 They came about me like bees, and are extinct even as the fire among the thorns: for in the Name of the Lord I will deſtroy them.

13 Thou haſt thruſt ſore at me, that I might fall: but the Lord was my help.

14 The Lord is my ſtrength, and my ſong: and is become my ſalvation.

15 The voice of joy and health is in the dwellings of the righteous: the right hand of the Lord bringeth mighty things to paſs.

16 The right hand of the Lord hath the pre-eminence: the right hand of the Lord bringeth mighty things to paſs.

17 I ſhall not die, but live: and declare the works of the Lord.

18 The Lord hath chaſtened and corrected me: but he hath not given me over unto death.

19 Open me the gates of righteouſneſs: that I may go into them, and give thanks unto the Lord.

20 This is the gate of the Lord: the righteous ſhall enter into it.

21 I will thank thee, for thou haſt heard me: and art become my ſalvation.

22 The ſame ſtone which the builders refuſed: is become the head-ſtone in the corner.

23 This is the Lord's doing: and it is marvellous in our eyes.

24 This is the day which the Lord hath made: we will rejoice and be glad in it.

25 Help me now, O Lord : O Lord, ſend us now proſperity.

26 Bleſſed be he that cometh in the Name of the Lord : we have wiſhed you good luck, ye that are of the houſe of the Lord.

27 God is the Lord who hath ſhewed us light : bind the ſacrifice with cords, yea, even unto the horns of the altar.

28 Thou art my God, and I will thank thee : thou art my God, and I will praiſe thee.

29 O give thanks unto the Lord, for he is gracious : and his mercy endureth for ever.

Evening Prayer.

PSALM 119. *Beati immaculati.*

BLESSED are thoſe that are undefiled in the way : and walk in the law of the Lord.

2 Bleſſed are they that keep his teſtimonies : and ſeek him with their whole heart.

3 For they who do no wickedneſs : walk in his ways.

4 Thou haſt charged : that we ſhall diligently keep thy commandments.

5 O that my ways were made ſo direct : that I might keep thy ſtatutes !

6 So ſhall I not be confounded : while I have reſpect unto all thy commandments.

7 I will thank thee with an unfeigned heart : when I ſhall have learned the judgements of thy righteouſneſs.

8 I will keep thy ceremonies : O forſake me not utterly.

In quo corriget ?

WHEREWITHAL ſhall a young man cleanſe his way : even by ruling himſelf after thy word.

10 With my whole heart have I ſought thee : O let me not go wrong out of thy commandments.

11 Thy words have I hid within my heart : that I ſhould not ſin againſt thee.

12 Bleſſed art thou, O Lord : O teach me thy ſtatutes.

13 With my lips have I been telling : of all the judgements of thy mouth.

14 I have had as great delight in the way of thy teſtimonies : as in all manner of riches.

15 I will talk of thy commandments : and have reſpect unto thy ways.

16 My delight ſhall be in thy ſtatutes : and I will not forget thy word.

Retribue ſervo tuo.

O Do well unto thy ſervant : that I may live, and keep thy word.

18 Open thou mine eyes : that I may ſee the wondrous things of thy law.

19 I am a ſtranger upon earth : O hide not thy commandments from me.

20 My ſoul breaketh out for the very fer-

vent deſire : that it hath alway unto thy judgements.

21 Thou haſt rebuked the proud : and curſed are they that do err from thy commandments.

22 O turn from me ſhame and rebuke : for I have kept thy teſtimonies.

23 Princes alſo did ſit and ſpeak againſt me : but thy ſervant is occupied in thy ſtatutes

24 For thy teſtimonies are my delight : and my counſellors.

Adhæſit pavimento.

MY ſoul cleaveth to the duſt : O quicken thou me, according to thy word.

26 I have acknowledged my ways, and thou heardeſt me : O teach me thy ſtatutes.

27 Make me to underſtand the way of thy commandments : and ſo ſhall I talk of thy wondrous works.

28 My ſoul melteth away for very heavineſs : comfort thou me according unto thy word.

29 Take from me the way of lying : and cauſe thou me to make much of thy law.

30 I have choſen the way of truth : and thy judgements have I laid before me.

31 I have ſtuck unto thy teſtimonies : O Lord, confound me not.

32 I will run the way of thy commandments : when thou haſt ſet my heart at liberty.

Morning Prayer.

Legem pone.

TEACH me, O Lord, the way of thy ſtatutes: and I ſhall keep it unto the end.

34 Give me underſtanding, and I ſhall keep thy law: yea, I ſhall keep it with my whole heart.

35 Make me to go in the path of thy commandments: for therein is my deſire.

36 Incline my heart unto thy teſtimonies: and not to covetouſneſs.

37 O turn away mine eyes, leſt they behold vanity: and quicken thou me in thy way.

38 O ſtabliſh thy word in thy ſervant: that I may fear thee.

39 Take away the rebuke that I am afraid of: for thy judgements are good.

40 Behold, my delight is in thy commandments: O quicken me in thy righteouſneſs.

Et veniat ſuper me.

LET thy loving mercy come alſo unto me, O Lord: even thy ſalvation, according unto thy word.

42 So ſhall I make anſwer unto my blaſphemers: for my truſt is in thy word.

43 O take not the word of thy truth utterly out of my mouth: for my hope is in thy judgements.

44 So ſhall I alway keep thy law : yea, for ever and ever.

45 And I will walk at liberty : for I ſeek thy commandments.

46 I will ſpeak of thy teſtimonies alſo, even before kings : and will not be aſhamed.

47 And my delight ſhall be in thy commandments : which I have loved.

48 My hands alſo will I lift up unto thy commandments, which I have loved : and my ſtudy ſhall be in thy ſtatutes.

Memor eſto ſervi tui.

O Think upon thy ſervant, as concerning thy word : wherein thou haſt cauſed me to put my truſt.

50 The ſame is my comfort in my trouble: for thy word hath quickened me.

51 The proud have had me exceedingly in deriſion: yet have I not ſhrinked from thy law.

52 For I remembered thine everlaſting judgements, O Lord : and received comfort.

53 I am horribly afraid : for the ungodly that forſake thy law.

54 Thy ſtatutes have been my ſongs : in the houſe of my pilgrimage.

55 I have thought upon thy Name, O Lord, in the night-ſeaſon : and have kept thy law.

56 This I had : becauſe I kept thy commandments.

Portio mea, Domine.

THOU art my portion, O Lord : I have promiſed to keep thy law.

58 I made my humble petition in thy preſence with my whole heart : O be merciful unto me, according to thy word.

59 I called mine own ways to remembrance : and turned my feet unto thy teſtimonies.

60 I made haſte, and prolonged not the time : to keep thy commandments.

61 The congregations of the ungodly have robbed me : but I have not forgotten thy law.

62 At midnight I will riſe to give thanks unto thee : becauſe of thy righteous judgements.

63 I am a companion of all them that fear thee : and keep thy commandments.

64 The earth, O Lord, is full of thy mercy : O teach me thy ſtatutes.

Bonitatem feciſti.

O Lord, thou haſt dealt graciouſly with thy ſervant : according unto thy word.

66 O learn me true underſtanding and knowledge : for I have believed thy commandments.

67 Before I was troubled, I went wrong : but now have I kept thy word.

68 Thou art good and gracious : O teach me thy ſtatutes.

69 The proud have imagined a lie againſt me: but I will keep thy commandments with my whole heart.

70 Their heart is as fat as brawn: but my delight hath been in thy law.

71 It is good for me that I have been in trouble: that I may learn thy ſtatutes.

72 The law of thy mouth is dearer unto me: than thouſands of gold and ſilver.

Evening Prayer.

Manus tuæ fecerunt me.

THY hands have made me and faſhioned me: O give me underſtanding, that I may learn thy commandments.

74 They that fear thee will be glad when they ſee me: becauſe I have put my truſt in thy word.

75 I know, O Lord, that thy judgements are right: and that thou of very faithfulneſs haſt cauſed me to be troubled.

76 O let thy merciful kindneſs be my comfort: according to thy word unto thy ſervant.

77 O let thy loving mercies come unto me, that I may live: for thy law is my delight.

78 Let the proud be confounded, for they go wickedly about to deſtroy me: but I will be occupied in thy commandments.

79 Let ſuch as fear thee, and have known thy teſtimonies: be turned unto me.

80 O let my heart be found in thy ſtatutes : that I be not aſhamed.

Defecit anima mea.

MY ſoul hath longed for thy ſalvation : and I have a good hope becauſe of thy word.

82 Mine eyes long ſore for thy word : ſaying, O when wilt thou comfort me?

83 For I am become like a bottle in the ſmoke : yet do I not forget thy ſtatutes.

84 How many are the days of thy ſervant: when wilt thou be avenged of them that perſecute me?

85 The proud have digged pits for me : which are not after thy law.

86 All thy commandments are true : they perſecute me falſly ; O be thou my help.

87 They had almoſt made an end of me upon earth : but I forſook not thy commandments.

88 O quicken me after thy loving-kindneſs : and ſo ſhall I keep the teſtimonies of thy mouth.

In æternum, Domine.

O Lord, thy word : endureth for ever in heaven.

90 Thy truth alſo remaineth from one generation to another : thou haſt laid the foundation of the earth, and it abideth.

91 They continue this day according to thine ordinance : for all things ſerve thee.

92 If my delight had not been in thy law : I ſhould have periſhed in my trouble.

93 I will never forget thy commandments : for with them thou haſt quickened me.

94 I am thine, O ſave me : for I have ſought thy commandments.

95 The ungodly laid wait for me to deſtroy me : but I will conſider thy teſtimonies.

96 I ſee that all things come to an end : but thy commandment is exceeding broad.

Quomodo dilexi !

LORD, what love have I unto thy law : all the day long is my ſtudy in it.

98 Thou through thy commandments haſt made me wiſer than mine enemies : for they are ever with me.

99 I have more underſtanding than my teachers : for thy teſtimonies are my ſtudy.

100 I am wiſer than the aged : becauſe I keep thy commandments.

101 I have refrained my feet from every evil way : that I may keep thy word.

102 I have not ſhrunk from thy judgements : for thou teacheſt me.

103 O how ſweet are thy words unto my throat : yea, ſweeter than honey unto my mouth.

104 Through thy commandments I get underſtanding: therefore I hate all evil ways.

Morning Prayer.

Lucerna pedibus meis.

THY word is a lantern unto my feet: and a light unto my paths.

106 I have ſworn, and am ſtedfaſtly purpoſed: to keep thy righteous judgements.

107 I am troubled above meaſure: quicken me, O Lord, according to thy word.

108 Let the free-will offerings of my mouth pleaſe thee, O Lord: and teach me thy judgements.

109 My ſoul is alway in my hand: yet do I not forget thy law.

110 The ungodly have laid a ſnare for me: but yet I ſwerved not from thy commandments.

111 Thy teſtimonies have I claimed as mine heritage for ever: and why? they are the very joy of my heart.

112 I have applied my heart to fulfil thy ſtatutes alway: even unto the end.

Iniquos odio habui.

I Hate them that imagine evil things: but thy law do I love.

114 Thou art my defence and ſhield: and my truſt is in thy word.

115 Away from me, ye wicked: I will keep the commandments of my God.

116 O ſtabliſh me according to thy word, that I may live: and let me not be diſappointed of my hope.

117 Hold thou me up, and I ſhall be ſafe: yea, my delight ſhall be ever in thy ſtatutes.

118 Thou haſt trodden down all them that depart from thy ſtatutes: for they imagine but deceit.

119 Thou putteſt away all the ungodly of the earth like droſs: therefore I love thy teſtimonies.

120 My fleſh trembleth for fear of thee: and I am afraid of thy judgements.

Feci judicium.

I Deal with the thing that is lawful and right: O give me not over unto mine oppreſſors.

122 Make thou thy ſervant to delight in that which is good: that the proud do me no wrong.

123 Mine eyes are waſted away with looking for thy health: and for the word of thy righteouſneſs.

124 O deal with thy ſervant according unto thy loving mercy: and teach me thy ſtatutes.

125 I am thy ſervant, O grant me underſtanding: that I may know thy teſtimonies.

126 It is time for thee, Lord, to lay to thine hand : for they have deſtroyed thy law.

127 For I love thy commandments : above gold and precious ſtones.

128 Therefore hold I ſtraight all thy commandments : and all falſe ways I utterly abhor.

Mirabilia.

THY teſtimonies are wonderful : therefore doth my ſoul keep them.

130 When thy word goeth forth : it giveth light and underſtanding unto the ſimple.

131 I opened my mouth, and drew in my breath : for my delight was in thy commandments.

132 O look thou upon me, and be merciful unto me : as thou uſeſt to do unto thoſe that love thy Name.

133 Order my ſteps in thy word : and ſo ſhall no wickedneſs have dominion over me.

134 O deliver me from the wrongful dealings of men : and ſo ſhall I keep thy commandments.

135 Shew the light of thy countenance upon thy ſervant : and teach me thy ſtatutes.

136 Mine eyes guſh out with water : becauſe men keep not thy law.

Juſtus es, Domine.

RIGHTEOUS art thou, O Lord : and true is thy judgement.

138 The teſtimonies that thou haſt commanded : are exceeding righteous and true.

139 My zeal hath even conſumed me : becauſe mine enemies have forgotten thy words.

140 Thy word is tried to the uttermoſt : and thy ſervant loveth it.

141 I am ſmall, and of no reputation : yet do I not forget thy commandments.

142 Thy righteouſneſs is an everlaſting righteouſneſs : and thy law is the truth.

143 Trouble and heavineſs have taken hold upon me : yet is my delight in thy commandments.

144 The righteouſneſs of thy teſtimonies is everlaſting : O grant me underſtanding, and I ſhall live.

Evening Prayer.

Clamavi in toto corde meo.

I Call with my whole heart : hear me, O Lord, I will keep thy ſtatutes.

146 Yea, even unto thee do I call : help me, and I ſhall keep thy teſtimonies.

147 Early in the morning do I cry unto thee : for in thy word is my truſt.

148 Mine eyes prevent the night-watches : that I might be occupied in thy words.

149 Hear my voice, O Lord, according

unto thy loving-kindneſs : quicken me, according as thou art wont.

150 They draw nigh that of malice perſecute me : and are far from thy law.

151 Be thou nigh at hand, O Lord : for all thy commandments are true.

152 As concerning thy teſtimonies, I have known long ſince : that thou haſt grounded them for ever.

Vide humilitatem.

O Conſider mine adverſity, and deliver me : for I do not forget thy law.

154 Avenge thou my cauſe, and deliver me : quicken me, according to thy word.

155 Health is far from the ungodly : for they regard not thy ſtatutes.

156 Great is thy mercy, O Lord : quicken me, as thou art wont.

157 Many there are that trouble me, and perſecute me : yet do I not ſwerve from thy teſtimonies.

158 It grieveth me when I ſee the tranſgreſſors : becauſe they keep not thy law.

159 Conſider, O Lord, how I love thy commandments : O quicken me, according to thy loving-kindneſs.

160 Thy word is true from everlaſting : all the judgements of thy righteouſneſs endure for evermore.

Principes perſecuti ſunt.

PRINCES have perſecuted me without a cauſe : but my heart ſtandeth in awe of thy word.

162 I am as glad of thy word : as one that findeth great ſpoils.

163 As for lies, I hate and abhor them : but thy law do I love.

164 Seven times a day do I praiſe thee : becauſe of thy righteous judgements.

165 Great is the peace that they have who love thy law : and they are not offended at it.

166 Lord, I have looked for thy ſaving health : and done after thy commandments.

167 My ſoul hath kept thy teſtimonies : and loved them exceedingly.

168 I have kept thy commandments and teſtimonies : for all my ways are before thee.

Appropinquet deprecatio.

LET my complaint come before thee, O Lord : give me underſtanding, according to thy word.

170 Let my ſupplication come before thee : deliver me, according to thy word.

171 My lips ſhall ſpeak of thy praiſe : when thou haſt taught me thy ſtatutes.

172 Yea, my tongue ſhall ſing of thy word : for all thy commandments are righteous.

173 Let thine hand help me: for I have chosen thy commandments.

174 I have longed for thy saving health, O Lord: and in thy law is my delight.

175 O let my soul live, and it shall praise thee: and thy judgements shall help me.

176 I have gone astray like a sheep that is lost: O seek thy servant, for I do not forget thy commandments.

Morning Prayer.

Psalm 120. *Ad Dominum.*

WHEN I was in trouble I called upon the Lord: and he heard me.

2 Deliver my soul, O Lord, from lying lips: and from a deceitful tongue.

3 What reward shall be given or done unto thee, thou false tongue: even mighty and sharp arrows, with hot burning coals.

4 Wo is me, that I am constrained to dwell with Mesech: and to have my habitation among the tents of Kedar.

5 My soul hath long dwelt among them: that are enemies unto peace.

6 I labour for peace, but when I speak unto them thereof: they make them ready to battle.

Psalm 121. *Levavi oculos.*

I Will lift up mine eyes unto the hills: from whence cometh my help.

2 My help cometh even from the Lord : who hath made heaven and earth.

3 He will not ſuffer thy foot to be moved : and he that keepeth thee will not ſleep.

4 Behold, he that keepeth Iſrael : ſhall neither ſlumber nor ſleep.

5 The Lord himſelf is thy keeper : the Lord is thy defence upon thy right hand ;

6 So that the ſun ſhall not burn thee by day : neither the moon by night.

7 The Lord ſhall preſerve thee from all evil : yea, it is even he that ſhall keep thy ſoul.

8 The Lord ſhall preſerve thy going out, and thy coming in : from this time forth for evermore.

Psalm 122. *Lætatus ſum.*

I Was glad when they ſaid unto me : We will go into the houſe of the Lord.

2 Our feet ſhall ſtand in thy gates : O Jeruſalem.

3 Jeruſalem is built as a city : that is at unity in itſelf.

4 For thither the tribes go up, even the tribes of the Lord : to teſtify unto Iſrael, to give thanks unto the Name of the Lord.

5 For there is the ſeat of judgement : even the ſeat of the houſe of David.

6 O pray for the peace of Jeruſalem : they ſhall proſper that love thee.

7 Peace be within thy walls : and plenteouſneſs within thy palaces.

8 For my brethren and companions' ſakes : I will wiſh thee proſperity.

9 Yea, becauſe of the houſe of the Lord our God : I will ſeek to do thee good.

PSALM 123. *Ad te levavi oculos meos.*

UNTO thee lift I up mine eyes : O thou that dwelleſt in the heavens.

2 Behold, even as the eyes of ſervants look unto the hand of their maſters, and as the eyes of a maiden unto the hand of her miſtreſs : even ſo our eyes wait upon the Lord our God, until he have mercy upon us.

3 Have mercy upon us, O Lord, have mercy upon us : for we are utterly deſpiſed.

4 Our ſoul is filled with the ſcornful reproof of the wealthy : and with the deſpitefulneſs of the proud.

PSALM 124. *Niſi quia Dominus.*

IF the Lord himſelf had not been on our ſide, now may Iſrael ſay : if the Lord himſelf had not been on our ſide, when men roſe up againſt us ;

2 They had ſwallowed us up quick : when they were ſo wrathfully diſpleaſed at us.

3 Yea, the waters had drowned us : and the ſtream had gone over our ſoul.

4 The deep waters of the proud : had gone even over our ſoul.

5 But praiſed be the Lord : who hath not given us over for a prey unto their teeth.

6 Our ſoul is eſcaped even as a bird out of the ſnare of the fowler : the ſnare is broken, and we are delivered.

7 Our help ſtandeth in the Name of the Lord : who hath made heaven and earth.

PSALM 125. *Qui confidunt.*

THEY that put their truſt in the Lord ſhall be even as the mount Sion : which may not be removed, but ſtandeth faſt for ever.

2 The hills ſtand about Jeruſalem : even ſo ſtandeth the Lord round about his people, from this time forth for evermore.

3 For the rod of the ungodly cometh not into the lot of the righteous : leſt the righteous put their hand unto wickedneſs.

4 Do well, O Lord : unto thoſe that are good and true of heart.

5 As for ſuch as turn back unto their own wickedneſs : the Lord ſhall lead them forth with the evil-doers ; but peace ſhall be upon Iſrael.

Evening Prayer.

PSALM 126. *In convertendo.*

WHEN the Lord turned again the captivity of Sion : then were we like unto them that dream.

2 Then was our mouth filled with laughter : and our tongue with joy.

3 Then ſaid they among the heathen : The Lord hath done great things for them.

4 Yea, the Lord hath done great things for us already : whereof we rejoice.

5 Turn our captivity, O Lord : as the rivers in the ſouth.

6 They that ſow in tears : ſhall reap in joy.

7 He that now goeth on his way weeping, and beareth forth good ſeed : ſhall doubtleſs come again with joy, and bring his ſheaves with him.

PSALM 127. *Niſi Dominus.*

EXCEPT the Lord build the houſe : their labour is but loſt that build it.

2 Except the Lord keep the city : the watchman waketh but in vain.

3 It is but loſt labour that ye haſte to riſe up early, and ſo late take reſt, and eat the bread of carefulneſs : for ſo he giveth his beloved ſleep.

4 Lo, children and the fruit of the womb : are an heritage and gift that cometh of the Lord.

5 Like as the arrows in the hand of the giant : even ſo are the young children.

6 Happy is the man that hath his quiver full of them : they ſhall not be aſhamed when they ſpeak with their enemies in the gate.

PSALM 128. *Beati omnes.*

BLESSED are all they that fear the Lord: and walk in his ways.

2 For thou ſhalt eat the labours of thine hands: O well is thee, and happy ſhalt thou be.

3 Thy wife ſhall be as the fruitful vine: upon the walls of thine houſe.

4 Thy children like the olive branches: round about thy table.

5 Lo, thus ſhall the man be bleſſed: that feareth the Lord.

6 The Lord from out of Sion ſhall ſo bleſs thee: that thou ſhalt ſee Jeruſalem in proſperity all thy life long.

7 Yea, that thou ſhalt ſee thy children's children: and peace upon Iſrael.

PSALM 129. *Sæpe expugnaverunt.*

MANY a time have they fought againſt me from my youth up: may Iſrael now ſay.

2 Yea, many a time have they vexed me from my youth up: but they have not prevailed againſt me.

3 The plowers plowed upon my back: and made long furrows.

4 But the righteous Lord: hath hewn the ſnares of the ungodly in pieces.

5 Let them be confounded and turned backward: as many as have evil will at Sion.

6 Let them be even as the graſs growing upon the houſe-tops: which withereth afore it be plucked up;

7 Whereof the mower filleth not his hand: neither he that bindeth up the ſheaves his boſom.

8 So that they who go by ſay not ſo much as, The Lord proſper you: we wiſh you good luck in the Name of the Lord.

Psalm 130. *De profundis.*

OUT of the deep have I called unto thee, O Lord: Lord, hear my voice.

2 O let thine ears conſider well: the voice of my complaint.

3 If thou, Lord, wilt be extreme to mark what is done amiſs: O Lord, who may abide it?

4 For there is mercy with thee: therefore ſhalt thou be feared.

5 I look for the Lord; my ſoul doth wait for him: in his word is my truſt.

6 My ſoul fleeth unto the Lord: before the morning watch, I ſay, before the morning watch.

7 O Iſrael, truſt in the Lord, for with the Lord there is mercy: and with him is plenteous redemption.

8 And he ſhall redeem Iſrael: from all his ſins.

PSALM 131. *Domine, non eſt.*

LORD, I am not high-minded: I have no proud looks.

2 I do not exerciſe myſelf in great matters: which are too high for me.

3 But I refrain my ſoul, and keep it low, like as a child that is weaned from his mother: yea, my ſoul is even as a weaned child.

4 O Iſrael, truſt in the Lord: from this time forth for evermore.

Morning Prayer.

PSALM 132. *Memento, Domine.*

LORD, remember David; and all his trouble;

2 How he ſware unto the Lord: and vowed a vow unto the Almighty God of Jacob;

3 I will not come within the tabernacle of mine houſe: nor climb up into my bed;

4 I will not ſuffer mine eyes to ſleep, nor mine eye-lids to ſlumber: neither the temples of my head to take any reſt;

5 Until I find out a place for the temple of the Lord: an habitation for the mighty God of Jacob.

6 Lo, we heard of the ſame at Ephrata: and found it in the wood.

7 We will go into his tabernacle: and fall low on our knees before his footſtool.

8 Ariſe, O Lord, into thy reſting-place: thou, and the ark of thy ſtrength.

9 Let thy prieſts be clothed with righteouſneſs: and let thy ſaints ſing with joyfulneſs.

10 For thy ſervant David's ſake: turn not away the preſence of thine Anointed.

11 The Lord hath made a faithful oath unto David: and he ſhall not ſhrink from it;

12 Of the fruit of thy body: ſhall I ſet upon thy ſeat.

13 If thy children will keep my covenant, and my teſtimonies that I ſhall learn them: their children alſo ſhall ſit upon thy ſeat for evermore.

14 For the Lord hath choſen Sion to be an habitation for himſelf: he hath longed for her.

15 This ſhall be my reſt for ever: here will I dwell, for I have a delight therein.

16 I will bleſs her victuals with increaſe: and will ſatisfy her poor with bread.

17 I will deck her prieſts with health: and her ſaints ſhall rejoice and ſing.

18 There ſhall I make the horn of David to flouriſh: I have ordained a lantern for mine Anointed.

19 As for his enemies, I ſhall clothe them with ſhame: but upon himſelf ſhall his crown flouriſh.

PSALM 133. *Ecce, quam bonum!*

BEHOLD, how good and joyful a thing it is : brethren, to dwell together in unity!

2 It is like the precious ointment upon the head, that ran down unto the beard : even unto Aaron's beard, and went down to the ſkirts of his clothing.

3 Like as the dew of Hermon : which fell upon the hill of Sion.

4 For there the Lord promiſed his bleſſing : and life for evermore.

PSALM 134. *Ecce nunc.*

BEHOLD now, praiſe the Lord : all ye ſervants of the Lord;

2 Ye that by night ſtand in the houſe of the Lord : even in the courts of the houſe of our God.

3 Lift up your hands in the ſanctuary : and praiſe the Lord.

4 The Lord that made heaven and earth : give thee bleſſing out of Sion.

PSALM 135. *Laudate Nomen.*

O Praiſe the Lord, laud ye the Name of the Lord : praiſe it, O ye ſervants of the Lord;

2 Ye that ſtand in the houſe of the Lord : in the courts of the houſe of our God.

3 O praiſe the Lord, for the Lord is gracious : O ſing praiſes unto his Name, for it is lovely.

4 For why? the Lord hath choſen Jacob unto himſelf : and Iſrael for his own poſſeſſion.

5 For I know that the Lord is great : and that our Lord is above all gods.

6 Whatſoever the Lord pleaſed, that did he in heaven, and in earth : and in the ſea, and in all deep places.

7 He bringeth forth the clouds from the ends of the world : and ſendeth forth lightnings with the rain, bringing the winds out of his treaſures.

8 He ſmote the firſt-born of Egypt : both of man and beaſt.

9 He hath ſent tokens and wonders into the midſt of thee, O thou land of Egypt : upon Pharaoh, and all his ſervants.

10 He ſmote divers nations : and ſlew mighty kings ;

11 Sehon king of the Amorites, and Og the king of Baſan : and all the kingdoms of Canaan ;

12 And gave their land to be an heritage : even an heritage unto Iſrael his people.

13 Thy Name, O Lord, endureth for ever : ſo doth thy memorial, O Lord, from one generation to another.

14 For the Lord will avenge his people: and be gracious unto his ſervants.

15 As for the images of the heathen, they are but ſilver and gold: the work of men's hands.

16 They have mouths, and ſpeak not: eyes have they, but they ſee not.

17 They have ears, and yet they hear not: neither is there any breath in their mouths.

18 They that make them are like unto them: and ſo are all they that put their truſt in them.

19 Praiſe the Lord, ye houſe of Iſrael: praiſe the Lord, ye houſe of Aaron.

20 Praiſe the Lord, ye houſe of Levi: ye that fear the Lord, praiſe the Lord.

21 Praiſed be the Lord out of Sion: who dwelleth at Jeruſalem.

Evening Prayer.

Psalm 136. *Confitemini.*

O Give thanks unto the Lord, for he is gracious: and his mercy endureth for ever.

2 O give thanks unto the God of all gods: for his mercy endureth for ever.

3 O thank the Lord of all lords: for his mercy endureth for ever.

4 Who only doeth great wonders: for his mercy endureth for ever.

5 Who by his excellent wiſdom made the heavens : for his mercy endureth for ever.

6 Who laid out the earth above the waters : for his mercy endureth for ever.

7 Who hath made great lights : for his mercy endureth for ever ;

8 The ſun to rule the day : for his mercy endureth for ever ;

9 The moon and the ſtars to govern the night : for his mercy endureth for ever.

10 Who ſmote Egypt with their firſt-born : for his mercy endureth for ever ;

11 And brought out Iſrael from among them : for his mercy endureth for ever ;

12 With a mighty hand, and ſtretched out arm : for his mercy endureth for ever.

13 Who divided the Red ſea in two parts : for his mercy endureth for ever ;

14 And made Iſrael to go through the midſt of it : for his mercy endureth for ever.

15 But as for Pharaoh and his hoſt, he overthrew them in the Red ſea : for his mercy endureth for ever.

16 Who led his people through the wilderneſs : for his mercy endureth for ever.

17 Who ſmote great kings : for his mercy endureth for ever ;

18 Yea, and ſlew mighty kings : for his mercy endureth for ever ;

19 Sehon king of the Amorites : for his mercy endureth for ever;

20 And Og the king of Baſan : for his mercy endureth for ever;

21 And gave away their land for an heritage : for his mercy endureth for ever;

22 Even for an heritage unto Iſrael his ſervant : for his mercy endureth for ever.

23 Who remembered us when we were in trouble : for his mercy endureth for ever;

24 And hath delivered us from our enemies : for his mercy endureth for ever.

25 Who giveth food to all fleſh : for his mercy endureth for ever.

26 O give thanks unto the God of heaven : for his mercy endureth for ever.

27 O give thanks unto the Lord of lords : for his mercy endureth for ever.

PSALM 137. *Super flumina.*

BY the waters of Babylon we ſat down and wept : when we remembered thee, O Sion.

2 As for our harps, we hanged them up : upon the trees that are therein.

3 For they that led us away captive required of us then a ſong, and melody, in our heavineſs : Sing us one of the ſongs of Sion.

4 How ſhall we ſing the Lord's ſong : in a ſtrange land?

5 If I forget thee, O Jeruſalem : let my right hand forget her cunning.

6 If I do not remember thee, let my tongue cleave to the roof of my mouth : yea, if I prefer not Jeruſalem in my mirth.

7 Remember the children of Edom, O Lord, in the day of Jeruſalem : how they ſaid, Down with it, down with it, even to the ground.

8 O daughter of Babylon, waſted with miſery : yea, happy ſhall be he that rewardeth thee, as thou haſt ſerved us.

9 Bleſſed ſhall be he that taketh thy children : and throweth them againſt the ſtones.

PSALM 138. *Confitebor tibi.*

I Will give thanks unto thee, O Lord, with my whole heart : even before the gods will I ſing praiſe unto thee.

2 I will worſhip toward thy holy temple, and praiſe thy Name, becauſe of thy loving-kindneſs and truth : for thou haſt magnified thy Name, and thy Word, above all things.

3 When I called upon thee, thou heardeſt me : and enduedſt my ſoul with much ſtrength.

4 All the kings of the earth ſhall praiſe thee, O Lord : for they have heard the words of thy mouth.

5 Yea, they ſhall ſing in the ways of the Lord : that great is the glory of the Lord.

6 For though the Lord be high, yet hath he reſpect unto the lowly : as for the proud, he beholdeth them afar off.

7 Though I walk in the midſt of trouble, yet ſhalt thou refreſh me : thou ſhalt ſtretch forth thy hand upon the furiouſneſs of mine enemies, and thy right hand ſhall ſave me.

8 The Lord ſhall make good his loving-kindneſs toward me : yea, thy mercy, O Lord, endureth for ever ; deſpiſe not then the works of thine own hands.

Morning Prayer.

PSALM 139. *Domine, probaſti.*

O Lord, thou haſt ſearched me out, and known me : thou knoweſt my down-ſitting, and mine up-riſing ; thou underſtandeſt my thoughts long before.

2 Thou art about my path, and about my bed : and ſpieſt out all my ways.

3 For lo, there is not a word in my tongue : but thou, O Lord, knoweſt it altogether.

4 Thou haſt faſhioned me behind and before : and laid thine hand upon me.

5 Such knowledge is too wonderful and excellent for me : I cannot attain unto it.

6 Whither ſhall I go then from thy ſpirit : or whither ſhall I go then from thy preſence?

7 If I climb up into heaven, thou art there : if I go down to hell, thou art there alſo.

8 If I take the wings of the morning : and remain in the uttermoſt parts of the ſea ;

9 Even there alſo ſhall thy hand lead me: and thy right hand ſhall hold me.

10 If I ſay, Peradventure the darkneſs ſhall cover me: then ſhall my night be turned to day.

11 Yea, the darkneſs is no darkneſs with thee, but the night is as clear as the day: the darkneſs and light to thee are both alike.

12 For my reins are thine: thou haſt covered me in my mother's womb.

13 I will give thanks unto thee, for I am fearfully and wonderfully made: marvellous are thy works, and that my ſoul knoweth right well.

14 My bones are not hid from thee: though I be made ſecretly, and faſhioned beneath in the earth.

15 Thine eyes did ſee my ſubſtance, yet being imperfect: and in thy book were all my members written;

16 Which day by day were faſhioned: when as yet there was none of them.

17 How dear are thy counſels unto me, O God: O how great is the ſum of them!

18 If I tell them, they are more in number than the ſand: when I wake up I am preſent with thee.

19 Wilt thou not ſlay the wicked, O God: depart from me, ye blood-thirſty men.

20 For they ſpeak unrighteouſly againſt

thee : and thine enemies take thy Name in vain.

21 Do not I hate them, O Lord, that hate thee : and am not I grieved with thoſe that riſe up againſt thee?

22 Yea, I hate them right ſore : even as though they were mine enemies.

23 Try me, O God, and ſeek the ground of my heart : prove me, and examine my thoughts.

24 Look well if there be any way of wickedneſs in me : and lead me in the way everlaſting.

PSALM 140. *Eripe me, Domine.*

DELIVER me, O Lord, from the evil man : and preſerve me from the wicked man.

2 Who imagine miſchief in their hearts : and ſtir up ſtrife all the day long.

3 They have ſharpened their tongues like a ſerpent : adder's poiſon is under their lips.

4 Keep me, O Lord, from the hands of the ungodly : preſerve me from the wicked men, who are purpoſed to overthrow my goings.

5 The proud have laid a ſnare for me, and ſpread a net abroad with cords : yea, and ſet traps in my way.

6 I ſaid unto the Lord, Thou art my God : hear the voice of my prayers, O Lord.

7 O Lord God, thou ſtrength of my health : thou haſt covered my head in the day of battle.

8 Let not the ungodly have his deſire, O Lord : let not his miſchievous imagination proſper, leſt they be too proud.

9 Let the miſchief of their own lips fall upon the head of them : that compaſs me about.

10 Let hot burning coals fall upon them : let them be caſt into the fire, and into the pit, that they never riſe up again.

11 A man full of words ſhall not proſper upon the earth : evil ſhall hunt the wicked perſon to overthrow him.

12 Sure I am that the Lord will avenge the poor : and maintain the cauſe of the helpleſs.

13 The righteous alſo ſhall give thanks unto thy Name : and the juſt ſhall continue in thy ſight.

PSALM 141. *Domine, clamavi.*

LORD, I call upon thee, haſte thee unto me : and conſider my voice when I cry unto thee.

2 Let my prayer be ſet forth in thy ſight as the incenſe : and let the lifting up of my hands be an evening ſacrifice.

3 Set a watch, O Lord, before my mouth : and keep the door of my lips.

4 O let not mine heart be inclined to any evil thing : let me not be occupied in ungodly works with the men that work wickedneſs, leſt I eat of ſuch things as pleaſe them.

5 Let the righteous rather ſmite me friendly : and reprove me.

6 But let not their precious balms break my head : yea, I will pray yet againſt their wickedneſs.

7 Let their judges be overthrown in ſtony places : that they may hear my words, for they are ſweet.

8 Our bones lie ſcattered before the pit : like as when one breaketh and heweth wood upon the earth.

9 But mine eyes look unto thee, O Lord God : in thee is my truſt, O caſt not out my ſoul.

10 Keep me from the ſnare that they have laid for me : and from the traps of the wicked doers.

11 Let the ungodly fall into their own nets together : and let me ever eſcape them.

Evening Prayer.

Psalm 142. *Voce mea ad Dominum.*

I Cried unto the Lord with my voice : yea, even unto the Lord did I make my ſupplication.

2 I poured out my complaints before him : and ſhewed him of my trouble.

3 When my ſpirit was in heavineſs thou kneweſt my path : in the way wherein I walked have they privily laid a ſnare for me.

4 I looked alſo upon my right hand: and ſaw there was no man that would know me.

5 I had no place to flee unto: and no man cared for my ſoul.

6 I cried unto thee, O Lord, and ſaid: Thou art my hope, and my portion in the land of the living.

7 Conſider my complaint: for I am brought very low.

8 O deliver me from my perſecutors: for they are too ſtrong for me.

9 Bring my ſoul out of priſon, that I may give thanks unto thy Name: which thing if thou wilt grant me, then ſhall the righteous reſort unto my company.

Psalm 143. *Domine, exaudi.*

HEAR my prayer, O Lord, and conſider my deſire: hearken unto me for thy truth and righteouſneſs' ſake.

2 And enter not into judgement with thy ſervant: for in thy ſight ſhall no man living be juſtified.

3 For the enemy hath perſecuted my ſoul; he hath ſmitten my life down to the ground: he hath laid me in the darkneſs, as the men that have been long dead.

4 Therefore is my ſpirit vexed within me: and my heart within me is deſolate.

5 Yet do I remember the time paſt; I

muſe upon all thy works : yea, I exerciſe myſelf in the works of thy hands.

6 I ſtretch forth my hands unto thee : my ſoul gaſpeth unto thee as a thirſty land.

7 Hear me, O Lord, and that ſoon, for my ſpirit waxeth faint : hide not thy face from me, leſt I be like unto them that go down into the pit.

8 O let me hear thy loving-kindneſs betimes in the morning, for in thee is my truſt : ſhew thou me the way that I ſhould walk in, for I lift up my ſoul unto thee.

9 Deliver me, O Lord, from mine enemies : for I flee unto thee to hide me.

10 Teach me to do the thing that pleaſeth thee, for thou art my God : let thy loving Spirit lead me forth into the land of righteouſneſs.

11 Quicken me, O Lord, for thy Name's ſake : and for thy righteouſneſs' ſake bring my ſoul out of trouble.

12 And of thy goodneſs ſlay mine enemies : and deſtroy all them that vex my ſoul ; for I am thy ſervant.

Morning Prayer.

PSALM 144. *Benedictus Dominus.*

BLESSED be the Lord my ſtrength : who teacheth my hands to war, and my fingers to fight ;

2 My hope and my fortreſs, my caſtle and deliverer, my defender in whom I truſt: who ſubdueth my people that is under me.

3 Lord, what is man, that thou haſt ſuch reſpect unto him: or the ſon of man, that thou ſo regardeſt him?

4 Man is like a thing of nought: his time paſſeth away like a ſhadow.

5 Bow thy heavens, O Lord, and come down: touch the mountains, and they ſhall ſmoke.

6 Caſt forth thy lightning, and tear them: ſhoot out thine arrows, and conſume them.

7 Send down thine hand from above: deliver me, and take me out of the great waters, from the hand of ſtrange children;

8 Whoſe mouth talketh of vanity: and their right hand is a right hand of wickedneſs.

9 I will ſing a new ſong unto thee, O God: and ſing praiſes unto thee upon a ten-ſtringed lute.

10 Thou haſt given victory unto kings: and haſt delivered David thy ſervant from the peril of the ſword.

11 Save me, and deliver me from the hand of ſtrange children: whoſe mouth talketh of vanity, and their right hand is a right hand of iniquity.

12 That our ſons may grow up as the young plants: and that our daughters may be as the poliſhed corners of the temple.

13 That our garners may be full and plenteous with all manner of ſtore: that our ſheep may bring forth thouſands and ten thouſands in our ſtreets.

14 That our oxen may be ſtrong to labour, that there be no decay: no leading into captivity, and no complaining in our ſtreets.

15 Happy are the people that are in ſuch a caſe: yea, bleſſed are the people who have the Lord for their God.

PSALM 145. *Exaltabo te, Deus.*

I Will magnify thee, O God, my King: and I will praiſe thy Name for ever and ever.

2 Every day will I give thanks unto thee: and praiſe thy Name for ever and ever.

3 Great is the Lord, and marvellous, worthy to be praiſed: there is no end of his greatneſs.

4 One generation ſhall praiſe thy works unto another: and declare thy power.

5 As for me, I will be talking of thy worſhip: thy glory, thy praiſe, and wondrous works;

6 So that men ſhall ſpeak of the might of thy marvellous acts: and I will alſo tell of thy greatneſs.

7 The memorial of thine abundant kindneſs ſhall be ſhewed: and men ſhall ſing of thy righteouſneſs.

8 The Lord is gracious, and merciful: long-ſuffering, and of great goodneſs.

9 The Lord is loving unto every man: and his mercy is over all his works.

10 All thy works praiſe thee, O Lord: and thy ſaints give thanks unto thee.

11 They ſhew the glory of thy kingdom: and talk of thy power;

12 That thy power, thy glory, and mightineſs of thy kingdom: might be known unto men.

13 Thy kingdom is an everlaſting kingdom: and thy dominion endureth throughout all ages.

14 The Lord upholdeth all ſuch as fall: and lifteth up all thoſe that are down.

15 The eyes of all wait upon thee, O Lord: and thou giveſt them their meat in due ſeaſon.

16 Thou openeſt thine hand: and filleſt all things living with plenteouſneſs.

17 The Lord is righteous in all his ways: and holy in all his works.

18 The Lord is nigh unto all them that call upon him: yea, all ſuch as call upon him faithfully.

19 He will fulfil the deſire of them that fear him: he alſo will hear their cry, and will help them.

20 The Lord preſerveth all them that love him: but ſcattereth abroad all the ungodly.

21 My mouth ſhall ſpeak the praiſe of the

Lord : and let all flesh give thanks unto his holy Name for ever and ever.

PSALM 146. *Lauda, anima mea.*

PRAISE the Lord, O my soul; while I live will I praise the Lord : yea, as long as I have any being, I will sing praises unto my God.

2 O put not your trust in princes, nor in any child of man : for there is no help in them.

3 For when the breath of man goeth forth he shall turn again to his earth : and then all his thoughts perish.

4 Blessed is he that hath the God of Jacob for his help : and whose hope is in the Lord his God;

5 Who made heaven and earth, the sea, and all that therein is : who keepeth his promise for ever;

6 Who helpeth them to right that suffer wrong : who feedeth the hungry.

7 The Lord looseth men out of prison : the Lord giveth sight to the blind.

8 The Lord helpeth them that are fallen : the Lord careth for the righteous.

9 The Lord careth for the strangers; he defendeth the fatherless and widow : as for the way of the ungodly, he turneth it upside down.

10 The Lord thy God, O Sion, shall be King for evermore : and throughout all generations.

Evening Prayer.

Psalm 147. *Laudate Dominum.*

O Praiſe the Lord, for it is a good thing to ſing praiſes unto our God : yea, a joyful and pleaſant thing it is to be thankful.

2 The Lord doth build up Jeruſalem : and gather together the out-caſts of Iſrael.

3 He healeth thoſe that are broken in heart : and giveth medicine to heal their ſickneſs.

4 He telleth the number of the ſtars : and calleth them all by their names.

5 Great is our Lord, and great is his power : yea, and his wiſdom is infinite.

6 The Lord ſetteth up the meek : and bringeth the ungodly down to the ground.

7 O ſing unto the Lord with thankſgiving : ſing praiſes upon the harp unto our God ;

8 Who covereth the heaven with clouds, and prepareth rain for the earth : and maketh the graſs to grow upon the mountains, and herb for the uſe of men ;

9 Who giveth fodder unto the cattle : and feedeth the young ravens that call upon him.

10 He hath no pleaſure in the ſtrength of an horſe : neither delighteth he in any man's legs.

11 But the Lord's delight is in them that fear him : and put their truſt in his mercy.

12 Praiſe the Lord, O Jeruſalem : praiſe thy God, O Sion.

13 For he hath made faſt the bars of thy gates : and hath bleſſed thy children within thee.

14 He maketh peace in thy borders : and filleth thee with the flour of wheat.

15 He ſendeth forth his commandment upon earth : and his word runneth very ſwiftly.

16 He giveth ſnow like wool : and ſcattereth the hoar-froſt like aſhes.

17 He caſteth forth his ice like morſels : who is able to abide his froſt ?

18 He ſendeth out his word, and melteth them : he bloweth with his wind, and the waters flow.

19 He ſheweth his word unto Jacob : his ſtatutes and ordinances unto Iſrael.

20 He hath not dealt ſo with any nation : neither have the heathen knowledge of his laws.

PSALM 148. *Laudate Dominum.*

O Praiſe the Lord of heaven : praiſe him in the height.

2 Praiſe him, all ye angels of his : praiſe him, all his hoſt.

3 Praiſe him, ſun and moon : praiſe him, all ye ſtars and light.

4 Praiſe him, all ye heavens : and ye waters that are above the heavens.

5 Let them praiſe the Name of the Lord: for he ſpake the word, and they were made; he commanded, and they were created.

6 He hath made them faſt for ever and ever: he hath given them a law which ſhall not be broken.

7 Praiſe the Lord upon earth: ye dragons, and all deeps;

8 Fire and hail, ſnow and vapours: wind and ſtorm, fulfilling his word;

9 Mountains and all hills: fruitful trees and all cedars;

10 Beaſts and all cattle: worms and feathered fowls;

11 Kings of the earth and all people: princes and all judges of the world;

12 Young men and maidens, old men and children, praiſe the Name of the Lord: for his Name only is excellent, and his praiſe above heaven and earth.

13 He ſhall exalt the horn of his people; all his ſaints ſhall praiſe him: even the children of Iſrael, even the people that ſerveth him.

Psalm 149. *Cantate Domino.*

O Sing unto the Lord a new ſong: let the congregation of ſaints praiſe him.

2 Let Iſrael rejoice in him that made him: and let the children of Sion be joyful in their King.

3 Let them praiſe his Name in the dance: let them ſing praiſes unto him with tabret and harp.

4 For the Lord hath pleaſure in his people: and helpeth the meek-hearted.

5 Let the ſaints be joyful with glory: let them rejoice in their beds.

6 Let the praiſes of God be in their mouth: and a two-edged ſword in their hands;

7 To be avenged of the heathen: and to rebuke the people;

8 To bind their kings in chains: and their nobles with links of iron.

9 That they may be avenged of them, as it is written: Such honour have all his ſaints.

Psalm 150. *Laudate Dominum.*

O Praiſe God in his holineſs: praiſe him in the firmament of his power.

2 Praiſe him in his noble acts: praiſe him according to his excellent greatneſs.

3 Praiſe him in the ſound of the trumpet: praiſe him upon the lute and harp.

4 Praiſe him in the cymbals and dances: praiſe him upon the ſtrings and pipe.

5 Praiſe him upon the well-tuned cymbals: praiſe him upon the loud cymbals.

6 Let every thing that hath breath: praiſe the Lord.

¶ *The Morning and Evening Service to be used daily at Sea shall be the same which is appointed in the Book of Common Prayer.*

¶ *These two following Prayers are to be also used in his Majesty's Navy every day.*

O Eternal Lord God, who alone spreadest out the heavens, and rulest the raging of the sea; who hast compassed the waters with bounds until day and night come to an end; Be pleased to receive into thy Almighty and most gracious protection the persons of us thy servants, and the Fleet in which we serve. Preserve us from the dangers of the sea, and from the violence of the enemy; that we may be a safeguard unto our most gracious Sovereign Lord, King *GEORGE*, and his Dominions, and a security for such as pass on the seas upon their lawful occasions; that the inhabitants of our Island may in peace and quietness serve thee our God; and that we may return in safety to enjoy the blessings of the land, with the fruits of our labours, and with a thankful remembrance of thy mercies to praise and glorify thy holy Name; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

The Collect.

PREVENT us, O Lord, in all our doings, with thy most gracious favour, and further us with thy continual help; that in all our works begun, continued, and ended in thee, we may glorify thy holy Name, and finally by thy mercy obtain everlasting life; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *Prayers to be used in Storms at Sea.*

O Most powerful and glorious Lord God, at whose command the winds blow, and lift up the waves of the sea, and who stillest the rage thereof; We thy creatures, but miserable sinners, do in this our great distress cry unto thee for help: Save, Lord, or else we perish. We confess, when we have been safe, and seen all things quiet about us, we have forgot thee our God, and refused to hearken to the still voice of thy word, and to obey thy commandments: But now we see, how terrible thou art in all thy works of wonder; the great God to be feared above all: And therefore we adore thy Divine Majesty, acknowledging thy power, and imploring thy goodness. Help, Lord, and save us for thy mercy's sake in Jesus Christ thy Son, our Lord. *Amen.*

Or this.

O Most glorious and gracious Lord God, who dwellest in heaven, but be-

holdest all things below; Look down, we beseech thee, and hear us, calling out of the depth of misery, and out of the jaws of this death, which is ready now to swallow us up: Save, Lord, or else we perish. The living, the living, shall praise thee. O send thy word of command to rebuke the raging winds, and the roaring sea; that we, being delivered from this distress, may live to serve thee, and to glorify thy Name all the days of our life. Hear, Lord, and save us, for the infinite merits of our blessed Saviour, thy Son, our Lord Jesus Christ. *Amen.*

¶ *The Prayer to be said before a Fight at Sea against any Enemy.*

O Most powerful and glorious Lord God, the Lord of hosts, that rulest and commandest all things; Thou sittest in the throne judging right, and therefore we make our address to thy Divine Majesty in this our necessity, that thou wouldest take the cause into thine own hand, and judge between us and our enemies. Stir up thy strength, O Lord, and come and help us; for thou givest not alway the battle to the strong, but canst save by many or by few. O let not our sins now cry against us for vengeance; but hear us thy poor servants begging mercy, and imploring thy help, and that thou wouldest be a defence unto us against the face of the enemy. Make it appear that thou art our Saviour and mighty Deliverer; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *Short Prayers for single persons, that cannot meet to join in Prayer with others, by reason of the Fight, or Storm.*

General Prayers.

LORD, be merciful to us sinners, and save us for thy mercy's sake.

Thou art the great God, that hast made and rulest all things: O deliver us for thy Name's sake.

Thou art the great God to be feared above all: O save us, that we may praise thee.

Special Prayers with respect to the Enemy.

THOU, O Lord, art just and powerful: O defend our cause against the face of the enemy.

O God, thou art a strong tower of defence to all that flee unto thee: O save us from the violence of the enemy.

O Lord of hosts, fight for us, that we may glorify thee.

O suffer us not to sink under the weight of our sins, or the violence of the enemy.

O Lord, arise, help us, and deliver us for thy Name's sake.

Short Prayers in respect of a Storm.

THOU, O Lord, that stillest the raging of the sea, hear, hear us, and save us, that we perish not.

O blessed Saviour, that didst save thy disciples ready to perish in a storm, hear us, and save us, we beseech thee.

Lord, have mercy upon us.
Christ, have mercy upon us.
Lord, have mercy upon us.
O Lord, hear us.
O Christ, hear us.

God the Father, God the Son, God the Holy Ghost, have mercy upon us, save us now and evermore. Amen.

OUR Father, which art in heaven, Hallowed be thy Name. Thy kingdom come. Thy will be done in earth, As it is in heaven. Give us this day our daily bread. And forgive us our trespasses, As we forgive them that trespass against us. And lead us not into temptation; But deliver us from evil: For thine is the kingdom, The power, and the glory, For ever and ever. Amen.

¶ *When there shall be imminent danger, as many as can be spared from necessary service in the Ship shall be called together, and make an humble Confession of their sin to God: In which every one ought seriously to reflect upon those particular sins of which his conscience shall accuse him; saying as followeth,*

The Confession.

ALMIGHTY God, Father of our Lord Jesus Christ, Maker of all things, Judge of all men; We acknowledge and bewail our manifold sins and wickedness, Which we, from time to time, most grievously have committed, By thought, word, and deed, Against thy Divine Majesty, Provoking most justly thy wrath and indignation against us. We do earnestly repent, And are heartily sorry for these our misdoings; The remembrance of them is grievous unto us; The burden of them is intolerable. Have mercy upon us, Have mercy upon us, most merciful Father; For thy Son our Lord Jesus Christ's sake, Forgive us all that is past; And grant that we may ever hereafter Serve and please thee In newness of life, To the honour and glory of thy Name; Through Jesus Christ our Lord. Amen.

¶ *Then shall the Priest, if there be any in the Ship, pronounce this Absolution.*

ALMIGHTY God, our heavenly Father, who of his great mercy hath promised forgiveness of sins to all them that with hearty repentance and true faith turn unto him; Have mercy upon you; pardon and deliver you from all your sins; confirm and strengthen you in all goodness, and bring you to everlasting life; through Jesus Christ our Lord. Amen.

Thanksgiving after a Storm.

Jubilate Deo. Psalm lxvi.

O Be joyful in God, all ye lands : sing praises unto the honour of his Name, make his praise to be glorious.

Say unto God, O how wonderful art thou in thy works : through the greatness of thy power shall thine enemies be found liars unto thee.

For all the world shall worship thee : sing of thee, and praise thy Name.

O come hither, and behold the works of God : how wonderful he is in his doing toward the children of men.

He turned the sea into dry land : so that they went through the water on foot; there did we rejoice thereof.

He ruleth with his power for ever; his eyes behold the people : and such as will not believe shall not be able to exalt themselves.

O praise our God, ye people : and make the voice of his praise to be heard;

Who holdeth our soul in life : and suffereth not our feet to slip.

For thou, O God, hast proved us : thou also hast tried us, like as silver is tried.

Thou broughtest us into the snare : and laidest trouble upon our loins.

Thou sufferedst men to ride over our heads : we went through fire and water, and thou broughtest us out into a wealthy place.

I will go into thine house with burnt-offerings : and will pay thee my vows, which I promised with my lips, and spake with my mouth, when I was in trouble.

I will offer unto thee fat burnt-sacrifices, with the incense of rams : I will offer bullocks and goats.

O come hither, and hearken, all ye that fear God : and I will tell you what he hath done for my soul.

I called unto him with my mouth : and gave him praises with my tongue.

If I incline unto wickedness with mine heart : the Lord will not hear me.

But God hath heard me : and considered the voice of my prayer.

Praised be God who hath not cast out my prayer : nor turned his mercy from me.

Glory be to the Father, and to the Son : and to the Holy Ghost;

As it was in the beginning, is now, and ever shall be : world without end. Amen.

Confitemini Domino. Psalm cvii.

O Give thanks unto the Lord, for he is gracious : and his mercy endureth for ever.

Let them give thanks

whom the Lord hath redeemed : and delivered from the hand of the enemy;

And gathered them out of the lands, from the east, and from the west : from the north, and from the south.

They went astray in the wilderness out of the way : and found no city to dwell in;

Hungry and thirsty : their soul fainted in them.

So they cried unto the Lord in their trouble : and he delivered them from their distress.

He led them forth by the right way : that they might go to the city where they dwelt.

O that men would therefore praise the Lord for his goodness : and declare the wonders that he doeth for the children of men!

For he satisfieth the empty soul : and filleth the hungry soul with goodness.

Such as sit in darkness, and in the shadow of death : being fast bound in misery and iron;

Because they rebelled against the words of the Lord : and lightly regarded the counsel of the most Highest;

He also brought down their heart through heaviness : they fell down, and there was none to help them.

So when they cried unto the Lord in their trouble : he delivered them out of their distress.

For he brought them out of darkness, and out of the shadow of death : and brake their bonds in sunder.

O that men would therefore praise the Lord for his goodness : and declare the wonders that he doeth for the children of men!

For he hath broken the gates of brass : and smitten the bars of iron in sunder.

Foolish men are plagued for their offence : and because of their wickedness.

Their soul abhorred all manner of meat : and they were even hard at death's door.

So when they cried unto the Lord in their trouble : he delivered them out of their distress.

He sent his word, and healed them : and they were saved from their destruction.

O that men would therefore praise the Lord for his goodness : and declare the wonders that he doeth for the children of men!

That they would offer unto him the sacrifice of thanksgiving : and tell out his works with gladness!

They that go down to the sea in ships : and occupy their business in great waters;

These men see the works

of the Lord : and his wonders in the deep.

For at his word the stormy wind ariseth : which lifteth up the waves thereof.

They are carried up to the heaven, and down again to the deep : their soul melteth away because of the trouble.

They reel to and fro, and stagger like a drunken man : and are at their wit's end.

So when they cry unto the Lord in their trouble : he delivereth them out of their distress.

For he maketh the storm to cease : so that the waves thereof are still.

Then are they glad, because they are at rest : and so he bringeth them unto the haven where they would be.

O that men would therefore praise the Lord for his goodness : and declare the wonders that he doeth for the children of men!

That they would exalt him also in the congregation of the people : and praise him in the seat of the elders!

Who turneth the floods into a wilderness : and drieth up the water-springs.

A fruitful land maketh he barren : for the wickedness of them that dwell therein.

Again, he maketh the wilderness a standing water : and water-springs of a dry ground.

And there he setteth the hungry : that they may build them a city to dwell in;

That they may sow their land, and plant vineyards : to yield them fruits of increase.

He blesseth them, so that they multiply exceedingly : and suffereth not their cattle to decrease.

And again, when they are minished, and brought low : through oppression, through any plague, or trouble;

Though he suffer them to be evil intreated through tyrants : and let them wander out of the way in the wilderness;

Yet helpeth he the poor out of misery : and maketh him housholds like a flock of sheep.

The righteous will consider this, and rejoice : and the mouth of all wickedness shall be stopped.

Whoso is wise will ponder these things : and they shall understand the loving-kindness of the Lord.

Glory be to the Father, and to the Son : and to the Holy Ghost;

As it was in the beginning, is now, and ever shall be : world without end. Amen.

Collects of Thanksgiving.

O Most blessed and glorious Lord God, who art of infinite goodness and mercy; We thy poor creatures, whom thou hast made and

preserved, holding our souls in life, and now rescuing us out of the jaws of death, humbly present ourselves again before thy Divine Majesty, to offer a sacrifice of praise and thanksgiving, for that thou heardest us when we called in our trouble, and didst not cast out our prayer, which we made before thee in our great distress: Even when we gave all for lost, our ship, our goods, our lives, then didst thou mercifully look upon us, and wonderfully command a deliverance; for which we, now being in safety, do give all praise and glory to thy holy Name; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

Or this.

O Most mighty and gracious good God, thy mercy is over all thy works, but in special manner hath been extended toward us, whom thou hast so powerfully and wonderfully defended. Thou hast shewed us terrible things, and wonders in the deep, that we might see how powerful and gracious a God thou art; how able and ready to help them that trust in thee. Thou hast shewed us how both winds and seas obey thy command; that we may learn, even from them, hereafter to obey thy voice, and to do thy will. We therefore bless and glorify thy Name, for this thy mercy in saving us, when we were ready to perish. And, we beseech thee, make us as truly sensible now of thy mercy, as we were then of the danger: and give us hearts always ready to express our thankfulness, not only by words, but also by our lives, in being more obedient to thy holy commandments. Continue, we beseech thee, this thy goodness to us; that we, whom thou hast saved, may serve thee in holiness and righteousness all the days of our life; through Jesus Christ our Lord and Saviour. *Amen.*

An Hymn of Praise and Thanksgiving after a dangerous Tempest.

O Come, let us give thanks unto the Lord, for he is gracious: and his mercy endureth for ever.

Great is the Lord, and greatly to be praised; let the redeemed of the Lord say so: whom he hath delivered from the merciless rage of the sea.

The Lord is gracious and full of compassion: slow to anger, and of great mercy.

He hath not dealt with us according to our sins: neither rewarded us according to our iniquities.

But as the heaven is high above the earth: so great hath been his mercy towards us.

We found trouble and heaviness : we were even at death's door.

The waters of the sea had well-nigh covered us : the proud waters had well-nigh gone over our soul.

The sea roared : and the stormy wind lifted up the waves thereof.

We were carried up as it were to heaven, and then down again into the deep : our soul melted within us, because of trouble;

Then cried we unto thee, O Lord : and thou didst deliver us out of our distress.

Blessed be thy Name, who didst not despise the prayer of thy servants : but didst hear our cry, and hast saved us.

Thou didst send forth thy commandment : and the windy storm ceased, and was turned into a calm.

O let us therefore praise the Lord for his goodness : and declare the wonders that he hath done, and still doeth for the children of men.

Praised be the Lord daily : even the Lord that helpeth us, and poureth his benefits upon us.

He is our God, even the God of whom cometh salvation : God is the Lord by whom we have escaped death.

Thou, Lord, hast made us glad through the operation of thy hands : and we will triumph in thy praise.

Blessed be the Lord God : even the Lord God, who only doeth wondrous things;

And blessed be the Name of his Majesty for ever : and let every one of us say, Amen, Amen.

Glory be to the Father, and to the Son : and to the Holy Ghost;

As it was in the beginning, is now, and ever shall be : world without end. Amen.

2 Cor. xiii.

THE grace of our Lord Jesus Christ, and the love of God, and the fellowship of the Holy Ghost, be with us all evermore. *Amen.*

After Victory or Deliverance from an Enemy.

A Psalm or Hymn of Praise and Thanksgiving after Victory.

IF the Lord had not been on our side, now may we say : if the Lord himself had not been on our side, when men rose up against us;

They had swallowed us up quick : when they were so wrathfully displeased at us.

Yea, the waters had drowned us, and the stream had gone over our soul : the deep waters of the proud had gone over our soul.

But praised be the Lord : who hath not given us over as a prey unto them.

The Lord hath wrought: a mighty salvation for us.

We gat not this by our own sword, neither was it our own arm that saved us: but thy right hand, and thine arm, and the light of thy countenance, because thou hadst a favour unto us.

The Lord hath appeared for us: the Lord hath covered our heads, and made us to stand in the day of battle.

The Lord hath appeared for us: the Lord hath overthrown our enemies, and dashed in pieces those that rose up against us.

Therefore not unto us, O Lord, not unto us: but unto thy Name be given the glory.

The Lord hath done great things for us: the Lord hath done great things for us, for which we rejoice.

Our help standeth in the Name of the Lord: who hath made heaven and earth.

Blessed be the Name of the Lord: from this time forth for evermore.

Glory be to the Father, and to the Son: and to the Holy Ghost;

As it was in the beginning, is now, and ever shall be: world without end. Amen.

¶ *After this Hymn may be sung the* Te Deum.

¶ *Then this Collect.*

O Almighty God, the Sovereign Commander of all the world, in whose hand is power and might which none is able to withstand; We bless and magnify thy great and glorious Name for this happy Victory, the whole glory whereof we do ascribe to thee, who art the only giver of Victory. And, we beseech thee, give us grace to improve this great mercy to thy glory, the advancement of thy Gospel, the honour of our Sovereign, and, as much as in us lieth, to the good of all mankind. And, we beseech thee, give us such a sense of this great mercy, as may engage us to a true thankfulness, such as may appear in our lives by an humble, holy, and obedient walking before thee all our days, through Jesus Christ our Lord; to whom with thee and the Holy Spirit, as for all thy mercies, so in particular for this Victory and Deliverance, be all glory and honour, world without end. *Amen.*

2 Cor. xiii.

THE grace of our Lord Jesus Christ, and the love of God, and the fellowship of the Holy Ghost, be with us all evermore. *Amen.*

At the Burial of their Dead at Sea.

¶ *The Office in the Common Prayer-book may be used; only instead of these words* [We therefore commit his body to the ground, earth to earth, *&c.*] *say,*

WE therefore commit his body to the deep, to

be turned into corruption, looking for the resurrection of the body, (when the Sea shall give up her dead,) and the life of the world to come, through our Lord Jesus Christ; who at his coming shall change our vile body, that it may be like his glorious body, according to the mighty working, whereby he is able to subdue all things to himself.

A FORM OF PRAYER WITH THANKSGIVING,

TO BE USED YEARLY UPON THE FIFTH DAY OF NOVEMBER,

For the happy Deliverance of King JAMES I. and the Three Estates of ENGLAND, from the most traiterous and bloody-intended Massacre by Gunpowder: And also for the happy Arrival of his Majesty King WILLIAM on this Day, for the Deliverance of our Church and Nation.

¶ *The Minister of every Parish shall give warning to his Parishioners publickly in the Church at Morning Prayer, the Sunday before, for the due Observation of the said Day. And after Morning Prayer, or Preaching, upon the said* Fifth Day of November, *shall read publickly, distinctly, and plainly, the* Act of Parliament, *made in the Third Year of King* James *the First, for the Observation of it.*

¶ *The Service shall be the same with the usual Office for Holy-days in all things; except where it is hereafter otherwise appointed.*

¶ *If this Day shall happen to be Sunday, only the Collect proper for that Sunday shall be added to this Office in its place.*

¶ *Morning Prayer shall begin with these Sentences.*

THE Lord is full of compassion, and mercy: longsuffering, and of great goodness. *Psalm* ciii. 8.

He will not alway be chiding: neither keepeth he his anger for ever. *verse* 9.

He hath not dealt with us after our sins: nor rewarded us according to our wickedness. *verse* 10.

¶ *Instead of* Venite exultemus *shall this Hymn following be used; one Verse by the Priest, and another by the Clerk and people.*

O Give thanks unto the Lord, for he is gracious: and his mercy endureth for ever. *Psalm* cvii. 1.

Let them give thanks, whom the Lord hath redeemed: and delivered from the hand of the enemy. verse 2.

Many a time have they fought against me from my youth up: may Israel now say. *Psalm* cxxix. 1.

Yea, many a time have they vexed me from my youth up: but they have not prevailed against me. verse 2.

They have privily laid their net to destroy me without a cause: yea, even without a cause have they made a pit for my soul. *Psalm* xxxv. 7.

They have laid a net for my feet, and pressed down my soul: they have digged a pit before me, and are fallen into the midst of it themselves. Psalm lvii. 7.

Great is our Lord, and great is his power: yea, and his wisdom is infinite. *Psalm* cxlvii. 5.

The Lord setteth up the meek: and bringeth the ungodly down to the ground. verse 6.

Let thy hand be upon the man of thy right hand: and upon the son of man whom thou madest so strong for thine own self. *Psalm* lxxx. 17.

And so will not we go back from

thee : O let us live, and we shall call upon thy Name. verse 18.

Glory be to the Father, and to the Son : and to the Holy Ghost;

As it was in the beginning, is now, and ever shall be : world without end. Amen.

Proper Psalms. lxiv, cxxiv, cxxv.

Proper Lessons.

The First, 2 Samuel xxii.

Te Deum.

The Second, Acts xxiii.

Jubilate.

¶ *In the Suffrages after the Creed these shall be inserted and used for the King.*

Priest. O Lord, save the King;

People. Who putteth his trust in thee.

Priest. Send him help from thy holy place.

People. And evermore mightily defend him.

Priest. Let his enemies have no advantage against him.

People. Let not the wicked approach to hurt him.

¶ *Instead of the first Collect at Morning Prayer shall these two be used.*

ALMIGHTY God, who hast in all ages shewed thy Power and Mercy in the miraculous and gracious deliverances of thy Church, and in the protection of righteous and religious Kings and States professing thy holy and eternal truth, from the wicked conspiracies, and malicious practices of all the enemies thereof: We yield thee our unfeigned thanks and praise, for the wonderful and mighty Deliverance of our gracious Sovereign King *James* the First, the Queen, the Prince, and all the Royal Branches, with the Nobility, Clergy, and Commons of *England,* then assembled in Parliament, by Popish treachery appointed as sheep to the slaughter, in a most barbarous and savage manner, beyond the examples of former ages. From this unnatural Conspiracy, not our merit, but thy mercy; not our foresight, but thy providence delivered us: And therefore not unto us, O Lord, not unto us, but unto thy Name be ascribed all honour and glory, in all Churches of the saints, from generation to generation; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

ACCEPT also, most gracious God, of our unfeigned thanks for filling our hearts again with joy and gladness, after the time that thou hadst afflicted us, and putting a new song into our mouths, by bringing His Majesty King *William,* upon this day, for the Deliverance of our Church and Nation from Popish Tyranny and arbitrary power. We adore the wisdom and justice of thy Providence, which so timely interposed in our extreme danger, and disappointed all the designs of our enemies. We beseech thee, give us such a lively and lasting sense of what thou didst then, and hast since that time done for us, that we may not grow secure and careless in our obedience, by presuming upon thy great and undeserved goodness; but that it may lead us to repentance, and move us to be the more diligent and zealous in all the duties of our Religion, which thou hast in a marvellous manner preserved to us. Let truth and justice, brotherly kindness and charity, devotion and piety, concord and unity, with all other virtues, so flourish among us, that they may be the stability of our times, and make this Church a praise in the earth. All which we humbly beg for the sake of our blessed Lord and Saviour. *Amen.*

¶ *In the end of the Litany (which shall always this Day be used) after the Collect* [We humbly beseech thee, O Father, *&c.*] *shall this be said which followeth.*

ALMIGHTY God and heavenly Father, who of thy gracious Providence, and tender mercy towards us, didst prevent the malice and imaginations of our enemies, by discovering and confounding their horrible and wicked Enterprize, plotted and intended this day to have been ex-

ecuted against the King, and the whole State of *England*, for the subversion of the Government and Religion established among us; and didst likewise upon this day wonderfully conduct thy Servant King *William*, and bring him safely into *England*, to preserve us from the attempts of our enemies to bereave us of our Religion and Laws: We most humbly praise and magnify thy most glorious Name for thy unspeakable goodness towards us, expressed in both these acts of thy mercy. We confess it has been of thy mercy alone, that we are not consumed: for our sins have cried to heaven against us; and our iniquities justly called for vengeance upon us. But thou hast not dealt with us after our sins, nor rewarded us after our iniquities; nor given us over, as we deserved, to be a prey to our enemies; but hast in mercy delivered us from their malice, and preserved us from death and destruction. Let the consideration of this thy repeated goodness, O Lord, work in us true repentance, that iniquity may not be our ruin. And increase in us more and more a lively faith and love, fruitful in all holy obedience; that thou mayest still continue thy favour, with the light of thy Gospel, to us and our posterity for evermore; and that for thy dear Son's sake, Jesus Christ our only Mediator and Advocate. *Amen.*

¶ *Instead of the Prayer* [In time of War and Tumults] *shall be used this Prayer following.*

O Lord, who didst this day discover the snares of death that were laid for us, and didst wonderfully deliver us from the same; Be thou still our mighty Protector, and scatter our enemies that delight in blood: Infatuate and defeat their counsels, abate their pride, asswage their malice, and confound their devices. Strengthen the hands of our gracious Sovereign King *GEORGE*, and all that are put in authority under him, with judgement and justice to cut off all such workers of iniquity, as turn Religion into Rebellion, and Faith into Faction; that they may never prevail against us, or triumph in the ruin of thy Church among us: but that our gracious Sovereign, and his Realms, being preserved in thy true Religion, and by thy merciful goodness protected in the same, we may all duly serve thee, and give thee thanks in thy holy congregation; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *In the Communion Service, instead of the Collect for the Day, shall this which followeth be used.*

ETERNAL God, and our most mighty Protector, we thy unworthy servants do humbly present ourselves before thy Majesty, acknowledging thy power, wisdom, and goodness, in preserving the King, and the Three Estates of the Realm of *England* assembled in Parliament, from the destruction this day intended against them. Make us, we beseech thee, truly thankful for this, and for all other thy great mercies towards us; particularly for making this day again memorable, by a fresh instance of thy loving-kindness towards us. We bless thee for giving his late Majesty King *William* a safe arrival here, and for making all opposition fall before him, till he became our King and Governour. We beseech thee to protect and defend our Sovereign King *GEORGE*, and all the Royal Family, from all treasons and conspiracies; Preserve him in thy faith, fear, and love; Prosper his Reign with long happiness here on earth; and crown him with everlasting glory hereafter; through Jesus Christ our only Saviour and Redeemer. *Amen.*

The Epistle. Rom. xiii. 1.

LET every soul be subject unto the higher powers; for there is no power, but of God: the powers that be are ordained of God. Whosoever therefore resisteth the power

resisteth the ordinance of God; and they that resist shall receive to themselves damnation. For rulers are not a terror to good works, but to the evil. Wilt thou then not be afraid of the power? do that which is good, and thou shalt have praise of the same: for he is the minister of God to thee for good. But if thou do that which is evil, be afraid; for he beareth not the sword in vain: for he is the minister of God, a revenger to execute wrath upon him that doeth evil. Wherefore ye must needs be subject, not only for wrath, but also for conscience sake. For for this cause pay ye tribute also; for they are God's ministers, attending continually upon this very thing. Render therefore to all their dues; tribute to whom tribute is due, custom to whom custom, fear to whom fear, honour to whom honour.

The Gospel. St. Luke ix. 51.

AND it came to pass, when the time was come that he should be received up, he stedfastly set his face to go to Jerusalem, and sent messengers before his face; and they went and entered into a village of the Samaritans, to make ready for him: And they did not receive him, because his face was as though he would go to Jerusalem. And when his disciples James and John saw this, they said, Lord, wilt thou that we command fire to come down from heaven, and consume them, even as Elias did? But he turned and rebuked them, and said, Ye know not what manner of spirit ye are of: For the Son of man is not come to destroy men's lives, but to save them. And they went to another village.

¶ *After the Creed, if there be no Sermon, shall be read one of the six Homilies against Rebellion.*

¶ *This Sentence is to be read at the Offertory.*

Whatsoever ye would that men should do to you, do ye even so to them; for this is the Law and the Prophets. St. *Matth.* vii. 12.

¶ *After the Prayer for the Church militant this following Prayer is to be used.*

O God, whose Name is excellent in all the earth, and thy glory above the heavens; who on this day didst miraculously preserve our Church and State from the secret contrivance and hellish malice of Popish conspirators; and on this day also didst begin to give us a mighty deliverance from the open tyranny and oppression of the same cruel and blood-thirsty enemies: We bless and adore thy glorious Majesty, as for the former, so for this thy late marvellous loving-kindness to our Church and Nation, in the preservation of our Religion and Liberties. And we humbly pray, that the devout sense of this thy repeated mercy may renew and increase in us a spirit of love and thankfulness to thee its only Author; a spirit of peaceable submission and obedience to our gracious Sovereign Lord, King *GEORGE;* and a spirit of fervent zeal for our holy Religion which thou hast so wonderfully rescued, and established, a blessing to us and our posterity. And this we beg for Jesus Christ his sake. *Amen.*

A FORM OF PRAYER WITH FASTING,

TO BE USED YEARLY ON THE THIRTIETH DAY OF JANUARY,

Being the Day of the Martyrdom of the Blessed King *Charles* the First; to implore the mercy of God, that neither the Guilt of that sacred and innocent Blood, nor those other sins, by which God was provoked to deliver up both us and our King into the hands of cruel and unreasonable men, may at any time hereafter be visited upon us or our posterity.

¶ *If this Day shall happen to be Sunday, this Form of Prayer shall be used and the Fast kept the next Day following. And upon the Lord's Day next before the Day to be kept, at Morning Prayer, immediately after the* Nicene *Creed, notice shall be given for the due Observation of the said Day.*

¶ *The Service of the Day shall be the same with the usual Office for Holy-days in all things; except where it is in this Office otherwise appointed.*

THE ORDER FOR MORNING PRAYER.

¶ *He that ministereth shall begin with one or more of these Sentences.*

TO the Lord our God belong mercies and forgivenesses, though we have rebelled against him: neither have we obeyed the voice of the Lord our God, to walk in his laws which he set before us. *Dan.* ix. 9, 10.

Correct us, O Lord, but with judgement: not in thine anger, lest thou bring us to nothing. *Jer.* x. 24.

Enter not into judgement with thy servants, O Lord: for in thy sight shall no man living be justified. *Psalm* cxliii. 2.

¶ *Instead of* Venite exultemus *the Hymn following shall be said or sung; one Verse by the Priest, and another by the Clerk and people.*

RIGHTEOUS art thou, O Lord: and just are thy judgements. *Psalm* cxix. 137.

Thou art just, O Lord, in all that is brought upon us: for thou hast done right, but we have done wickedly. Neh. ix. 33.

Neverthèless, our feet were almost gone: our treadings had wellnigh slipped. *Psalm* lxxiii. 2.

For why? we were grieved at the wicked: we did also see the ungodly in such prosperity. verse 3.

The people stood up, and the rulers took counsel together: against the Lord, and against his Anointed. *Psalm* ii. 2.

They cast their heads together with one consent: and were confederate against him. Psalm lxxxiii. 5.

He heard the blasphemy of the multitude, and fear was on every side: while they conspired together against him, to take away his life. *Psalm* xxxi. 15.

They spoke against him with false tongues, and compassed him about with words of hatred: and fought against him without a cause. Psalm cix. 2.

Yea, his own familiar friends, whom he trusted: they that eat of his bread laid great wait for him. *Psalm* xli. 9.

They rewarded him evil for good: to the great discomfort of his soul. Psalm xxxv. 12.

They took their counsel together, saying, God hath forsaken him: persecute him, and take him, for there is none to deliver him. *Psalm* lxxi. 9.

The breath of our nostrils, the Anointed of the Lord was taken in their pits: of whom we said, Under his shadow we shall be safe. Lam. iv. 20.

The adversary and the enemy entered into the gates of Jerusalem: saying, When shall he die, and his name perish? *ver.* 12. *Psalm* xli. 5.

Let the sentence of guiltiness proceed against him: and now that he lieth, let him rise up no more. ver. 8.

False witnesses also did rise up

against him : they laid to his charge things that he knew not. *Psalm* xxxv. 11.

For the sins of the people, and the iniquities of the priests : they shed the blood of the just in the midst of Jerusalem. Lam. iv. 13.

O my soul, come not thou into their secret; unto their assembly, mine honour, be not thou united : for in their anger they slew a man; *Gen.* xlix. 6.

Even the man of thy right hand : the Son of man, whom thou hadst made so strong for thine own self. Psalm lxxx. 17.

In the sight of the unwise he seemed to die : and his departure was taken for misery. *Wisd.* iii. 2.

They fools counted his life madness, and his end to be without honour : but he is in peace. Wisd. v. 4. & iii. 3.

For though he was punished in the sight of men : yet was his hope full of immortality. *Wisd.* iii. 4.

How is he numbered with the children of God : and his lot is among the saints! Wisd. v. 5.

But, O Lord God, to whom vengeance belongeth, thou God, to whom vengeance belongeth : be favourable and gracious unto Sion. *Psalm* xciv. 1. & li. 18.

Be merciful, O Lord, unto thy people, whom thou hast redeemed : and lay not innocent blood to our charge. Deut. xxi. 8.

O shut not up our souls with sinners : nor our lives with the bloodthirsty. *Psalm* xxvi. 9.

Deliver us from blood-guiltiness, O God, thou that art the God of our salvation : and our tongues shall sing of thy righteousness. Psalm li. 14.

For thou art the God that hast no pleasure in wickedness : neither shall any evil dwell with thee. *Psalm* v. 4.

Thou wilt destroy them that speak leasing : the Lord abhors both the blood-thirsty and deceitful man. ver. 6.

O how suddenly do they consume : perish, and come to a fearful end! *Psalm* lxxiii. 18.

Yea, even like as a dream, when one awaketh : so didst thou make their image to vanish out of the city. ver. 19.

Great and marvellous are thy works, O Lord God Almighty : just and true are thy ways, O King of saints. *Rev.* xv. 3.

Righteous art thou, O Lord : and just are thy judgements. Psalm cxix. 137.

Glory be to the Father, and to the Son : and to the Holy Ghost;

As it was in the beginning, is now, and ever shall be : world without end. Amen.

Proper Psalms. ix, x, xi.

Proper Lessons.

The First, 2 Samuel i.

The Second, St. Matth. xxvii.

¶ *Instead of the first Collect at Morning Prayer shall these two which next follow be used.*

O Most mighty God, terrible in thy judgements, and wonderful in thy doings toward the children of men; who in thy heavy displeasure didst suffer the life of our gracious Sovereign King *Charles* the First, to be (as this day) taken away by the hands of cruel and bloody men: We thy sinful creatures here assembled before thee, do, in the behalf of all the people of this land, humbly confess, that they were the crying sins of this Nation, which brought down this heavy judgement upon us. But, O gracious God, when thou makest inquisition for blood, lay not the guilt of this innocent blood, (the shedding whereof nothing but the blood of thy Son can expiate,) lay it not to the charge of the people of this land; nor let it ever be required of us, or our posterity. Be merciful, O Lord, be merciful unto thy people, whom thou hast redeemed; and be not angry with us for ever: But pardon us for thy mercy's sake, through the

merits of thy Son Jesus Christ our Lord. *Amen.*

BLESSED Lord, in whose sight the death of thy saints is precious; We magnify thy Name for thine abundant grace bestowed upon our martyred Sovereign; by which he was enabled so cheerfully to follow the steps of his blessed Master and Saviour, in a constant meek suffering of all barbarous indignities, and at last resisting unto blood; and even then, according to the same pattern, praying for his murderers. Let his memory, O Lord, be ever blessed among us; that we may follow the example of his courage and constancy, his meekness and patience, and great charity. And grant, that this our land may be freed from the vengeance of his righteous blood, and thy mercy glorified in the forgiveness of our sins: and all for Jesus Christ his sake, our only Mediator and Advocate. *Amen.*

¶ *In the end of the Litany (which shall always on this Day be used) immediately after the Collect* [We humbly beseech thee, O Father, *&c.*] *the three Collects next following are to be read.*

O Lord, we beseech thee mercifully hear our prayers, and spare all those who confess their sins unto thee; that they whose consciences by sin are accused, by thy merciful pardon may be absolved; through Christ our Lord. *Amen.*

O Most mighty God, and merciful Father, who hast compassion upon all men, and hatest nothing that thou hast made; who wouldest not the death of a sinner, but that he should rather turn from his sin, and be saved: Mercifully forgive us our trespasses; receive and comfort us, who are grieved and wearied with the burden of our sins. Thy property is always to have mercy; to thee only it appertaineth to forgive sins. Spare us therefore, good Lord, spare thy people, whom thou hast redeemed; enter not into judgement with thy servants, who are vile earth and miserable sinners: but so turn thine anger from us, who meekly acknowledge our vileness, and truly repent us of our faults; and so make haste to help us in this world, that we may ever live with thee in the world to come; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

TURN thou us, O good Lord, and so shall we be turned. Be favourable, O Lord, be favourable to thy people, Who turn to thee in weeping, fasting, and praying. For thou art a merciful God, Full of compassion, Long-suffering, and of great pity. Thou sparest when we deserve punishment, And in thy wrath thinkest upon mercy. Spare thy people, good Lord, spare them, And let not thine heritage be brought to confusion. Hear us, O Lord, for thy mercy is great, And after the multitude of thy mercies look upon us; Through the merits and mediation of thy blessed Son Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *In the Communion Service, after the Prayer for the King* [Almighty God, whose kingdom is everlasting, *&c.*] *instead of the Collect for the Day shall these two be used.*

O most mighty God, *&c.* } *As in the Morning Prayers.*
Blessed Lord, *&c.* }

The Epistle. 1 St. Peter ii. 13.

SUBMIT yourselves to every ordinance of man for the Lord's sake; whether it be to the King, as supreme; or unto governours, as unto them that are sent by him, for the punishment of evil-doers, and for the praise of them that do well. For so is the will of God, that with well-doing ye may put to silence the ignorance of foolish men: as free, and not using your liberty for a cloke of maliciousness, but as the servants of God. Honour all men. Love the brotherhood. Fear God. Honour the King. Servants, be subject to your masters with all fear, not only to the good and gentle, but also to the froward. For this is thank-worthy, if a man for conscience toward God endure grief, suffering wrongfully. For what glory

is it, if when ye be buffeted for your faults ye shall take it patiently? but if when ye do well, and suffer for it, ye take it patiently; this is acceptable with God. For even hereunto were ye called; because Christ also suffered for us, leaving us an example, that ye should follow his steps; who did no sin, neither was guile found in his mouth.

The Gospel. St. Matth. xxi. 33.

THERE was a certain housholder which planted a vineyard, and hedged it round about, and digged a wine-press in it, and built a tower, and let it out to husbandmen, and went into a far country. And when the time of the fruit drew near, he sent his servants to the husbandmen, that they might receive the fruits of it. And the husbandmen took his servants, and beat one, and killed another, and stoned another. Again he sent other servants, more than the first: and they did unto them likewise. But last of all he sent unto them his son, saying, They will reverence my son. But when the husbandmen saw the son, they said among themselves, This is the heir, come, let us kill him, and let us seize on his inheritance. And they caught him, and cast him out of the vineyard, and slew him. When the lord therefore of the vineyard cometh, what will he do unto those husbandmen? They say unto him, He will miserably destroy those wicked men, and will let out his vineyard unto other husbandmen, which shall render him the fruits in their seasons.

¶ *After the* Nicene *Creed, shall be read, instead of the Sermon for that Day, the first and second parts of the Homily against Disobedience and wilful Rebellion, set forth by Authority; or the Minister who officiates shall preach a Sermon of his own composing upon the same argument.*

¶ *In the Offertory shall this Sentence be read.*

Whatsoever ye would that men should do unto you, even so do unto them; for this is the Law and the Prophets. St. *Matth.* vii. 12.

¶ *After the Prayer* [For the whole state of Christ's Church &c.] *these two Collects following shall be used.*

O Lord, our heavenly Father, who didst not punish us as our sins have deserved, but hast in the midst of judgement remembered mercy; We acknowledge it thine especial favour, that, though for our many and great provocations, thou didst suffer thine anointed blessed King *Charles* the First (as on this day) to fall into the hands of violent and blood-thirsty men, and barbarously to be murdered by them, yet thou didst not leave us for ever, as sheep without a shepherd; but by thy gracious providence didst miraculously preserve the undoubted Heir of his Crowns, our then gracious Sovereign King *Charles* the Second, from his bloody enemies, hiding him under the shadow of thy wings, until their tyranny was overpast; and didst bring him back, in thy good appointed time, to sit upon the throne of his Father; and together with the Royal Family didst restore to us our ancient Government in Church and State. For these thy great and unspeakable mercies we render to thee our most humble and unfeigned thanks; beseeching thee, still to continue thy gracious protection over the whole Royal Family, and to grant to our gracious Sovereign King *GEORGE*, a long and a happy Reign over us: So we that are thy people will give thee thanks for ever, and will alway be shewing forth thy praise from generation to generation; through Jesus Christ our Lord and Saviour. *Amen.*

AND grant, O Lord, we beseech thee, that the course of this world may be so peaceably ordered by thy governance, that thy Church may joyfully serve thee in all godly quietness; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

THE ORDER FOR EVENING PRAYER.

¶ *The Hymn appointed to be used at Morning Prayer instead of* Venite exultemus *shall here also be used before the Proper Psalms.*

Righteous art thou, O Lord, *&c.*

Proper Psalms. lxxix, xciv, lxxxv.

Proper Lessons.

The First, Jer. xii. *or* Dan. ix. *to* ver. 22.

The Second, Hebr. xi. ver. 32. *and* xii. *to* ver. 7.

¶ *Instead of the first Collect at Evening Prayer shall these two which next follow be used.*

O Almighty Lord God, who by thy wisdom not only guidest and orderest all things most suitably to thine own justice; but also performest thy pleasure in such a manner, that we cannot but acknowledge thee to be righteous in all thy ways, and holy in all thy works: We thy sinful people do here fall down before thee, confessing that thy judgements were right, in permitting cruel men, sons of Belial, (as on this day) to imbrue their hands in the blood of thine Anointed; we having drawn down the same upon ourselves, by the great and long provocations of our sins against thee. For which we do therefore here humble ourselves before thee; beseeching thee to deliver this Nation from blood-guiltiness, (that of this day especially,) and to turn from us and our posterity all those judgements, which we by our sins have worthily deserved: Grant this, for the all-sufficient merits of thy Son our Saviour Jesus Christ. *Amen.*

BLESSED God, just and powerful, who didst permit thy dear Servant, our dread Sovereign King *Charles* the First, to be (as upon this day) given up to the violent outrages of wicked men, to be despitefully used, and at the last murdered by them: Though we cannot reflect upon so foul an act, but with horror and astonishment; yet do we most gratefully commemorate the glories of thy grace, which then shined forth in thine Anointed; whom thou wast pleased, even at the hour of death, to endue with an eminent measure of exemplary patience, meekness, and charity, before the face of his cruel enemies. And albeit thou didst suffer them to proceed to such an height of violence, as to kill him, and to take possession of his Throne; yet didst thou in great mercy preserve his Son, whose right it was, and at length by a wonderful providence bring him back, and set him thereon, to restore thy true Religion, and to settle peace amongst us: For these thy great mercies we glorify thy Name, through Jesus Christ our blessed Saviour. *Amen.*

¶ *Immediately after the Collect* [Lighten our darkness, *&c.*] *shall these three next following be used.*

O Lord, we beseech *&c.* — *As before at Morning Prayer.*
O most mighty God, *&c.* — *As before at Morning Prayer.*
Turn thou us, O good Lord, *&c.* — *As before at Morning Prayer.*

¶ *Immediately before the Prayer of Saint* Chrysostom *shall this Collect which next followeth be used.*

ALMIGHTY and everlasting God, whose righteousness is like the strong mountains, and thy judgements like the great deep; and who, by that barbarous murder (as on this day) committed upon the sacred Person of thine Anointed, hast taught us, that neither the greatest of Kings, nor the best of men, are more secure from violence than from natural death: Teach us also hereby so to number our days, that we may apply our hearts unto wisdom. And grant, that neither the splendor of any thing that is great, nor the conceit of any thing that is good in us, may withdraw our eyes from looking upon ourselves as sinful dust and ashes; but that, according to the example of this thy blessed Martyr, we may press forward to the prize of the high calling that is before us, in faith and patience, humility and meekness, mortification and self-denial, charity and constant perseverance unto the end: And all this for thy Son our Lord Jesus Christ his sake; to whom with thee and the Holy Ghost be all honour and glory, world without end. *Amen.*

A FORM OF PRAYER WITH THANKSGIVING

TO ALMIGHTY GOD,

For having put an end to the Great Rebellion, by the Restitution of the King and Royal Family, and the Restoration of the Government after many years Interruption; which unspeakable Mercies were wonderfully completed upon the Twenty-ninth of *May*, in the Year 1660. And in Memory thereof that Day in every Year is by Act of Parliament appointed to be for ever kept holy.

¶ *The Act of Parliament made in the Twelfth, and confirmed in the Thirteenth Year of King* Charles *the Second, for the Observation of the Twenty-ninth Day of* May *yearly, as a Day of Publick Thanksgiving, is to be read publickly in all Churches at Morning Prayer, immediately after the* Nicene *Creed, on the Lord's Day next before every such Twenty-ninth of* May, *and notice to be given for the due Observation of the said Day.*

¶ *The Service shall be the same with the usual Office for Holy days; except where it is in this Office otherwise appointed.*

¶ *If this Day shall happen to be* Ascension-day, *or* Whit-sunday, *the Collects of this Office are to be added to the Offices of those Festivals in their proper places: If it be* Monday *or* Tuesday *in* Whitsun-week, *or* Trinity-Sunday, *the Proper Psalms appointed for this Day, instead of those of ordinary course, shall be also used, and the Collects added as before; and in all these cases the rest of this Office shall be omitted: But if it shall happen to be any other Sunday, this whole Office shall be used, as it followeth, entirely. And what Festival soever shall happen to fall upon this solemn Day of Thanksgiving, the following Hymn, appointed instead of* Venite exultemus, *shall be constantly used.*

¶ *Morning Prayer shall begin with these Sentences.*

TO the Lord our God belong mercies and forgivenesses, though we have rebelled against him: neither have we obeyed the voice of the Lord our God, to walk in his laws which he set before us. *Daniel* ix. 9, 10.

It is of the Lord's mercies that we were not consumed: because his compassions fail not. *Lam.* iii. 22.

¶ *Instead of* Venite exultemus *shall be sung or said this Hymn following; one Verse by the Priest, and another by the Clerk and people.*

MY song shall be alway of the loving-kindness of the Lord: with my mouth will I ever be shewing forth his truth from one generation to another. *Psalm* lxxxix. 1.

The merciful and gracious Lord hath so done his marvellous works: that they ought to be had in remembrance. Psalm cxi. 4.

Who can express the noble acts of the Lord: or shew forth all his praise? *Psalm* cvi. 2.

The works of the Lord are great: sought out of all them that have pleasure therein. Psalm cxi. 2.

The Lord setteth up the meek: and bringeth the ungodly down to the ground. *Psalm* cxlvii. 6.

The Lord executeth righteousness and judgement: for all them that are oppressed with wrong. Psalm ciii. 6.

For he will not alway be chiding: neither keepeth he his anger for ever. *verse* 9.

He hath not dealt with us after our sins: nor rewarded us according to our wickedness. verse 10.

For look how high the heaven is in comparison of the earth: so great is his mercy toward them that fear him. *verse* 11.

Yea, like as a father pitieth his own children: even so is the Lord merciful unto them that fear him. verse 13.

Thou, O God, hast proved us: thou also hast tried us, even as silver is tried. *Psalm* lxvi. 9.

Thou sufferedst men to ride over our heads, we went through fire and water: but thou hast brought us out into a wealthy place. verse 11.

O how great troubles and adversities hast thou shewed us! and yet didst thou turn and refresh us: yea, and broughtest us from the deep of the earth again. *Psalm* lxxi. 18.

Thou didst remember us in our low estate, and redeem us from our enemies: for thy mercy endureth for ever. Psalm cxxxvi. 23, 24.

Lord, thou art become gracious unto thy land : thou hast turned away the captivity of Jacob. *Psalm* lxxxv. 1.

God hath shewed us his goodness plenteously : and God hath let us see our desire upon our enemies. Psalm lix. 10.

They are brought down and fallen : but we are risen and stand upright. *Psalm* xx. 8.

There are they fallen, all that work wickedness : they are cast down, and shall not be able to stand. Psalm xxxvi. 12.

The Lord hath been mindful of us, and he shall bless us : even he shall bless the house of Israel, he shall bless the house of Aaron. *Psalm* cxv. 12.

He shall bless them that fear the Lord : both small and great. verse 13.

O that men would therefore praise the Lord for his goodness : and declare the wonders that he doeth for the children of men! *Psalm* cvii. 21.

That they would offer unto him the sacrifice of thanksgiving : and tell out his works with gladness! ver. 22.

And not hide them from the children of the generations to come : but shew the honour of the Lord, his mighty and wonderful works that he hath done! *Psalm* lxxviii. 4.

That our posterity may also know them, and the children that are yet unborn : and not be as their forefathers a faithless and stubborn generation. verse 6, 9.

Give thanks, O Israel, unto God the Lord in the congregations : from the ground of the heart. *Psalm* lxviii. 26.

Praised be the Lord daily : even the God who helpeth us, and poureth his benefits upon us. verse 19.

O let the wickedness of the wicked come to an end : but establish thou the righteous. *Psalm* vii. 9.

Let all those that seek thee be joyful and glad in thee : and let all such as love thy salvation say alway, The Lord be praised. Psalm xl. 19.

Glory be to the Father, and to the Son : and to the Holy Ghost;

As it was in the beginning, is now, and ever shall be : world without end. Amen.

Proper Psalms. cxxiv, cxxvi, cxxix, cxviii.

Proper Lessons.

The First, 2 Sam. xix. ver. 9. *or* Numb. xvi. *Te Deum.*

The Second, The Epistle of S. Jude. *Jubilate Deo.*

¶ *The Suffrages next after the Creed shall stand thus.*

Priest. O Lord, shew thy mercy upon us.

Answer. *And grant us thy salvation.*

Priest. O Lord, save the King,

Answer. *Who putteth his trust in thee.*

Priest. Send him help from thy holy place.

Answer. *And evermore mightily defend him.*

Priest. Let his enemies have no advantage against him.

Answer. *Let not the wicked approach to hurt him.*

Priest. Endue thy Ministers with righteousness.

Answer. *And make thy chosen people joyful.*

Priest. Give peace in our time, O Lord.

Answer. *Because there is none other that fighteth for us, but only thou, O God.*

Priest. Be unto us, O Lord, a strong tower,

Answer. *From the face of our enemies.*

Priest. O Lord, hear our prayer.

Answer. *And let our cry come unto thee.*

¶ *Instead of the first Collect at Morning Prayer shall these two which follow be used.*

O Almighty God, who art a strong tower of defence unto thy servants against the face of their enemies; We yield thee praise and thanksgiving for the wonderful deliverance of

these Kingdoms from THE GREAT REBELLION, and all the Miseries and Oppressions consequent thereupon, under which they had so long groaned. We acknowledge it thy goodness, that we were not utterly delivered over as a prey unto them; beseeching thee still to continue such thy mercies towards us, that all the world may know that thou art our Saviour and mighty Deliverer; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

O Lord God of our salvation, who hast been exceedingly gracious unto this land, and by thy miraculous providence didst deliver us out of our miserable confusions; by restoring to us, and to his own just and undoubted Rights, our then most gracious Sovereign Lord, King *Charles* the Second, notwithstanding all the power and malice of his enemies; and, by placing him on the Throne of these Kingdoms, didst restore also unto us the publick and free profession of thy true Religion and Worship, together with our former Peace and Prosperity, to the great comfort and joy of our hearts: We are here now before thee, with all due thankfulness, to acknowledge thine unspeakable goodness herein, as upon this day shewed unto us, and to offer unto thee our sacrifice of praise for the same; humbly beseeching thee to accept this our unfeigned, though unworthy oblation of ourselves; vowing all holy obedience in thought, word, and work, unto thy Divine Majesty; and promising all loyal and dutiful Allegiance to thine Anointed Servant now set over us, and to his Heirs after him; whom we beseech thee to bless with all increase of grace, honour and happiness, in this world, and to crown him with immortality and glory in the world to come, for Jesus Christ his sake our only Lord and Saviour. *Amen.*

¶ *In the end of the Litany (which shall always this Day be used) after the Collect* [We humbly beseech thee, O Father, *&c.*] *shall this be said which next followeth.*

ALMIGHTY God, who hast in all ages shewed forth thy power and mercy in the miraculous and gracious deliverances of thy Church, and in the protection of righteous and religious Kings and States, professing thy holy and eternal truth, from the malicious Conspiracies and wicked Practices of all their enemies; We yield unto thee our unfeigned thanks and praise, as for thy many other great and publick mercies, so especially for that signal and wonderful Deliverance, by thy wise and good Providence as upon this day completed, and vouchsafed to our then most gracious Sovereign King *Charles* the Second, and all the Royal Family, and in them, to this whole Church and State, and all orders and degrees of men in both, from the unnatural Rebellion, Usurpation, and Tyranny of ungodly and cruel men, and from the sad confusions and ruin thereupon ensuing. From all these, O gracious and merciful Lord God, not our merit, but thy mercy; not our foresight, but thy Providence; not our own arm, but thy right hand, and thine arm, did rescue and deliver us. And therefore, not unto us, O Lord, not unto us, but unto thy Name be ascribed all Honour, and Glory, and Praise, with most humble and hearty thanks, in all Churches of the Saints: Even so blessed be the Lord our God, who alone doeth wondrous things, and blessed be the Name of his Majesty for ever; through Jesus Christ our Lord and only Saviour. *Amen.*

¶ *In the Communion Service, immediately before the reading of the Epistle, shall these two Collects be used, instead of the Collect for the King and the Collect of the Day.*

O Almighty God, *&c.* } *As before at*
O Lord God of our salvation, *&c.* } *Morning Prayer.*

The Epistle. 1 St. Peter ii. 11.

DEARLY beloved, I beseech you as strangers and pilgrims, abstain from fleshly lusts, which war against the soul; having your conver-

sation honest among the Gentiles: that, whereas they speak against you as evil-doers, they may, by your good works which they shall behold, glorify God in the day of visitation. Submit yourselves to every ordinance of man for the Lord's sake; whether it be to the King, as supreme; or unto Governours, as unto them that are sent by him for the punishment of evil-doers, and for the praise of them that do well. For so is the will of God, that with well-doing ye may put to silence the ignorance of foolish men: as free, and not using your liberty for a cloke of maliciousness, but as the servants of God. Honour all men. Love the brotherhood. Fear God. Honour the King.

The Gospel. St. Matth. xxii. 16.

AND they sent out unto him their disciples, with the Herodians, saying, Master, we know that thou art true, and teachest the way of God in truth, neither carest thou for any man; for thou regardest not the person of men. Tell us therefore, What thinkest thou? Is it lawful to give tribute unto Cæsar, or not? But Jesus perceived their wickedness, and said, Why tempt ye me, ye hypocrites? Shew me the tribute-money. And they brought unto him a peny. And he saith unto them, Whose is this image and superscription? They say unto him, Cæsar's. Then saith he unto them, Render therefore unto Cæsar the things which are Cæsar's; and unto God the things that are God's. When they had heard these words, they marvelled, and left him, and went their way.

¶ *In the Offertory shall this Sentence be read*

Not every one that saith unto me, Lord, Lord, shall enter into the kingdom of heaven: but he that doeth the will of my Father which is in heaven. St. *Matth.* vii. 21.

¶ *After the Prayer* [For the whole State of Christ's Church *&c.*] *this Collect following shall be used.*

ALMIGHTY God and heavenly Father, who, of thine infinite and unspeakable goodness towards us, didst in a most extraordinary and wonderful manner disappoint and overthrow the wicked designs of those traiterous, heady, and high-minded men, who, under the pretence of Religion and thy most holy Name, had contrived, and well-nigh effected the utter destruction of this Church and Kingdom: As we do this day most heartily and devoutly adore and magnify thy glorious Name for this thine infinite goodness already vouchsafed to us; so do we most humbly beseech thee to continue thy grace and favour towards us, that no such dismal calamity may ever again fall upon us. Infatuate and defeat all the secret counsels of deceitful and wicked men against us. Abate their pride, asswage their malice, and confound their devices. Strengthen the hands of our gracious Sovereign King *GEORGE*, and all that are put in authority under him, with judgement and justice to cut off all such workers of iniquity, as turn Religion into Rebellion, and Faith into Faction; that they may never again prevail against us, nor triumph in the ruin of the Monarchy and thy Church among us. Protect and defend our Sovereign Lord the King, with the whole Royal Family, from all Treasons and Conspiracies. Be unto him an helmet of salvation, and a strong tower of defence against the face of all his enemies; clothe them with shame and confusion, but upon Himself and his Posterity let the Crown for ever flourish. So we thy people, and the sheep of thy pasture, will give thee thanks for ever, and will always be shewing forth thy praise from generation to generation; through Jesus Christ our only Saviour and Redeemer, to whom with thee, O Father, and the Holy Ghost, be glory in the Church throughout all ages, world without end. *Amen.*

A FORM OF PRAYER WITH THANKSGIVING TO ALMIGHTY GOD;

To be used in all Churches and Chapels within this Realm, every Year, upon the Twenty-fifth Day of October;

Being the Day on which His Majesty began His happy Reign.

¶ *The Service shall be the same with the usual Office for Holy-days in all things, except where it is in this Office otherwise appointed.*

¶ *If this Day shall happen to be* Sunday, *this whole Office shall be used, as it followeth, entirely.*

¶ *Morning Prayer shall begin with these Sentences.*

I Exhort that first of all, Supplications, Prayers, Intercessions, and giving of Thanks, be made for all men; for Kings, and for all that are in Authority; that we may lead a quiet and peaceable life, in all godliness and honesty: For this is good and acceptable unto God our Saviour. 1 *Tim.* ii. 1, 2, 3.

If we say that we have no sin, we deceive ourselves, and the truth is not in us; but, if we confess our sins, he is faithful and just to forgive us our sins, and to cleanse us from all unrighteousness. 1 St. *John* i. 8, 9.

¶ *Instead of* Venite exultemus *the Hymn following shall be said or sung; one Verse by the Priest, and another by the Clerk and people.*

O Lord our Governour: how excellent is thy Name in all the world! *Psalm* viii. 1.

Lord, what is man, that thou hast such respect unto him: or the son of man, that thou so regardest him? Psalm cxliv. 3.

The merciful and gracious Lord hath so done his marvellous works: that they ought to be had in remembrance. *Psalm* cxi. 4.

O that men would therefore praise the Lord for his goodness: and declare the wonders that he doeth for the children of men! Psalm cvii. 21.

Behold, O God our Defender: and look upon the face of thine Anointed. *Psalm* lxxxiv. 9.

O hold thou up his goings in thy paths: that his footsteps slip not. Psalm xvii. 5.

Grant the King a long life: and make him glad with the joy of thy countenance. *Psalm* lxi. 6. & xxi. 6.

Let him dwell before thee for ever: O prepare thy loving mercy and faithfulness, that they may preserve him. Psalm lxi. 7.

In his time let the righteous flourish: and let peace be in all our borders. *Psalm* lxxii. 7. & cxlvii. 14.

As for his enemies, clothe them with shame: but upon himself let his crown flourish. Psalm cxxxii. 19.

Blessed be the Lord God, even the God of Israel: which only doeth wondrous things. *Psalm* lxxii. 18.

And blessed be the Name of his Majesty for ever: and all the earth shall be filled with his Majesty. Amen, Amen. verse 19.

Glory be to the Father, and to the Son: and to the Holy Ghost;

As it was in the beginning, is now, and ever shall be: world without end. Amen.

Proper Psalms. xx, xxi, ci.

Proper Lessons.

The First, Joshua i. to the end of the ninth Verse.

Te Deum.

The Second, Romans xiii.

Jubilate Deo.

¶ *The Suffrages next after the Creed shall stand thus.*

Priest. O Lord, shew thy mercy upon us.

Answer. *And grant us thy salvation.*

Priest. O Lord, save the King;

Answer. *Who putteth his trust in thee.*

Priest. Send him help from thy holy place.

Answer. *And evermore mightily defend him.*

Priest. Let his enemies have no advantage against him.

Answer. *Let not the wicked approach to hurt him.*

Priest. Endue thy Ministers with righteousness.

Answer. *And make thy chosen people joyful.*

Priest. O Lord, save thy people.

Answer. *And bless thine inheritance.*

Priest. Give peace in our time, O Lord.

Answer. *Because there is none other that fighteth for us, but only thou, O God.*

Priest. Be unto us, O Lord, a strong tower;

Answer. *From the face of our enemies.*

Priest. O Lord, hear our prayer.

Answer. *And let our cry come unto thee.*

¶ *Instead of the first Collect at Morning Prayer shall be used this following Collect of Thanksgiving for His Majesty's Accession to the Throne.*

ALMIGHTY God, who rulest over all the kingdoms of the World, and disposest of them according to thy good pleasure; We yield thee unfeigned thanks, for that thou wast pleased, as on this day, to place thy Servant our Sovereign Lord, King *GEORGE* upon the Throne of this Realm. Let thy wisdom be his guide, and let thine arm strengthen him; let justice, truth, and holiness, let peace and love, and all those virtues that adorn the Christian Profession, flourish in his days; direct all his counsels and endeavours to thy glory, and the welfare of his people; and give us grace to obey him cheerfully and willingly for conscience sake; that neither our sinful passions, nor our private interests, may disappoint his cares for the publick good; let him always possess the hearts of his people, that they may never be wanting in honour to his Person, and dutiful submission to his Authority: let his Reign be long and prosperous, and crown him with immortality in the life to come; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *In the end of the Litany (which shall always be used upon this Day) after the Collect* [We humbly beseech thee, O Father, &c.] *shall the following Prayer, for the King and Royal Family, be used.*

O Lord our God, who upholdest and governest all things in heaven and earth; receive our humble prayers, with our hearty thanksgivings, for our Sovereign Lord *GEORGE*, as on this day, set over us by thy grace and providence to be our King; and so together with him bless our gracious Queen *Charlotte*, their Royal Highnesses *George* Prince of *Wales*, the Princess of *Wales*, and all the Royal Family; that they all, ever trusting in thy goodness, protected by thy power, and crowned with thy gracious and endless favour, may continue before thee in health, peace, joy, and honour, and may live long and happy lives upon earth, and after death obtain everlasting life and glory in the kingdom of heaven, by the Merits and Mediation of Christ Jesus our Saviour, who with the Father and the Holy Spirit, liveth and reigneth ever one God, world without end. *Amen.*

¶ *Then shall follow this Collect, for God's protection of the King against all his enemies.*

MOST gracious God, who hast set thy Servant *GEORGE* our King upon the Throne of his Ancestors, we most humbly beseech thee to protect him on the same from all the dangers to which he may be exposed; Hide him from the gathering together of the froward, and from the insurrection of wicked doers; Do thou weaken the hands, blast the designs, and defeat the enterprizes of all his enemies, that no secret conspiracies, nor open violences, may disquiet

his Reign; but that, being safely kept under the shadow of thy wing, and supported by thy power, he may triumph over all opposition; that so the world may acknowledge thee to be his defender and mighty deliverer in all difficulties and adversities; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

¶ *Then the Prayer for the High Court of Parliament (if sitting.)*

¶ *In the Communion Service, immediately before the reading of the Epistle, instead of the Collect for the King, and that of the Day, shall be used this Prayer for the King, as supreme Governour of this Church.*

BLESSED Lord, who hast called Christian Princes to the defence of thy Faith, and hast made it their duty to promote the spiritual welfare, together with the temporal interest of their people; We acknowledge with humble and thankful hearts thy great goodness to us, in setting thy Servant our most gracious King over this Church and Nation; Give him, we beseech thee, all those heavenly graces that are requisite for so high a trust; Let the work of thee his God prosper in his hands; Let his eyes behold the success of his designs for the service of thy true Religion established amongst us; And make him a blessed instrument of protecting and advancing thy Truth, wherever it is persecuted and oppressed; Let Hypocrisy and Profaneness, Superstition and Idolatry, fly before his face; Let not Heresies and false Doctrines disturb the peace of the Church, nor Schisms and causeless Divisions weaken it; But grant us to be of one heart and one mind in serving thee our God, and obeying him according to thy will: And that these blessings may be continued to after-ages, let there never be one wanting in his house to succeed him in the government of this United Kingdom, that our posterity may see his children's children, and peace upon Israel. So we that are thy people, and sheep of thy pasture, shall give thee thanks for ever, and will always be shewing forth thy praise from generation to generation. *Amen.*

The Epistle. 1 St. Peter ii. 11.

DEARLY beloved, I beseech you as strangers and pilgrims, abstain from fleshly lusts, which war against the soul; having your conversation honest among the Gentiles: that, whereas they speak against you as evil-doers, they may, by your good works which they shall behold, glorify God in the day of visitation. Submit yourselves to every ordinance of man for the Lord's sake; whether it be to the King, as supreme; or unto governours, as unto them that are sent by him for the punishment of evil-doers, and for the praise of them that do well. For so is the will of God, that with well-doing ye may put to silence the ignorance of foolish men: as free, and not using your liberty for a cloke of maliciousness, but as the servants of God. Honour all men. Love the brotherhood. Fear God. Honour the King.

The Gospel. St. Matth. xxii. 16.

AND they sent out unto him their disciples, with the Herodians, saying, Master, we know that thou art true, and teachest the way of God in truth, neither carest thou for any man: for thou regardest not the person of men. Tell us therefore, What thinkest thou? Is it lawful to give tribute unto Cæsar, or not? But Jesus perceived their wickedness, and said, Why tempt ye me, ye hypocrites? shew me the tribute-money. And they brought unto him a peny. And he saith unto them, Whose is this image and superscription? They say unto him, Cæsar's. Then saith he unto them, Render therefore unto Cæsar the things which are Cæsar's; and unto God the things that are God's. When they had heard these words, they marvelled, and left him, and went their way.

¶ *After the* Nicene *Creed shall follow the Sermon.*

¶ *In the Offertory shall this Sentence be read:*

LET your light so shine before men, that they may see your

good works, and glorify your Father which is in heaven. St. *Matth.* v. 16.

¶ *After the Prayer* [For the whole State of Christ's Church *&c.*] *these Collects following shall be used.*

A Prayer for Unity.

O God the Father of our Lord Jesus Christ, our only Saviour, the Prince of Peace; Give us grace seriously to lay to heart the great dangers we are in by our unhappy divisions. Take away all hatred and prejudice, and whatsoever else may hinder us from godly Union and Concord: that, as there is but one Body, and one Spirit, and one Hope of our Calling, one Lord, one Faith, one Baptism, one God and Father of us all, so we may henceforth be all of one heart, and of one soul, united in one holy bond of Truth and Peace, of Faith and Charity, and may with one mind and one mouth glorify thee; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

GRANT, O Lord, we beseech thee, that the course of this world may be so peaceably ordered by thy governance, that thy Church may joyfully serve thee in all godly quietness; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

GRANT, we beseech thee, Almighty God, that the words, which we have heard this day with our outward ears, may through thy grace be so grafted inwardly in our hearts, that they may bring forth in us the fruit of good living, to the honour and praise of thy Name; through Jesus Christ our Lord. *Amen.*

ALMIGHTY God, the fountain of all wisdom, who knowest our necessities before we ask, and our ignorance in asking; We beseech thee to have compassion upon our infirmities; and those things, which for our unworthiness we dare not, and for our blindness we cannot ask, vouchsafe to give us for the worthiness of thy Son Jesus Christ our Lord. *Amen.*

THE peace of God which passeth all understanding, keep your hearts and minds in the knowledge and love of God, and of his Son Jesus Christ our Lord: And the blessing of God Almighty, the Father, the Son, and the Holy Ghost, be amongst you, and remain with you always. *Amen.*

" GEORGE R.

" OUR Will and Pleasure is, That these Four Forms of Prayer and Service, made for the Fifth of November, the Thirtieth of January, the " Twenty-ninth of May, and the Twenty-fifth of October, be forthwith printed " and published, and annexed to the Book of Common Prayer and Liturgy of " the Church of England; to be used yearly on the said Days, in all Cathedral " and Collegiate Churches and Chapels, in all Chapels of Colleges and Halls " within both Our Universities, and of Our Colleges of Eaton and Winchester, " and in all Parish-Churches and Chapels within that part of Our Kingdom of " Great Britain called England, the Dominion of Wales, and Town of Berwick " upon Tweed.

" Given at Our Court at St. James's the seventh Day of " October, 1761, in the First Year of Our Reign.

" By His Majesty's Command,

" BUTE."

ARTICLES

AGREED UPON BY

THE ARCHBISHOPS AND BISHOPS OF BOTH PROVINCES, AND THE WHOLE CLERGY,

In the Convocation holden at *London* in the Year 1562, for the avoiding of Diversities of Opinions, and for the establishing of Consent touching true Religion: Reprinted by His Majesty's Commandment, with his Royal Declaration prefixed thereunto.

HIS MAJESTY's DECLARATION.

BEING by God's Ordinance, according to Our just Title, Defender of the Faith, and Supreme Governour of the Church, within these Our Dominions, *We hold it most agreeable to this Our Kingly Office, and Our own religious Zeal, to conserve and maintain the Church committed to Our Charge, in Unity of true Religion, and in the Bond of Peace; and not to suffer unnecessary Disputations, Altercations, or Questions to be raised, which may nourish Faction both in the Church and Commonwealth. We have therefore, upon mature Deliberation, and with the Advice of so many of Our Bishops as might conveniently be called together, thought fit to make this Declaration following:*

That the Articles of the Church of England (*which have been allowed and authorized heretofore, and which Our Clergy generally have subscribed unto*) *do contain the true Doctrine of the Church of* England *agreeable to God's Word: which We do therefore ratify and confirm, requiring all Our loving Subjects to continue in the uniform Profession thereof, and prohibiting the least difference from the said Articles; which to that End We command to be new printed, and this Our Declaration to be published therewith.*

That We are Supreme Governour of the Church of England: *And that if any difference arise about the external Policy, concerning the* Injunctions, Canons, *and other* Constitutions *whatsoever thereto belonging, the Clergy in their Convocation is to order and settle them, having first obtained leave under Our Broad Seal so to do: and We approving their said Ordinances and Constitutions; providing that none be made contrary to the Laws and Customs of the Land.*

That out of Our Princely Care that the Churchmen may do the Work which is proper unto them, the Bishops and Clergy, from time to time in Convocation, upon their humble Desire, shall have Licence under Our Broad Seal to deliberate of, and to do all such Things, as being made plain by them, and assented unto by Us, shall concern the settled Continuance of the Doctrine and Discipline of the Church of England *now established; from which We will not endure any varying or departing in the least Degree.*

That for the present, though some differences have been ill raised, yet We take comfort in this, that all Clergymen within Our Realm have always most willingly subscribed to the Articles established; which is an argument to Us,

that they all agree in the true, usual, literal meaning of the said Articles; and that even in those curious points, in which the present differences lie, men of all sorts take the Articles of the Church of England *to be for them; which is an argument again, that none of them intend any desertion of the Articles established.*

That therefore in these both curious and unhappy differences, which have for so many hundred years, in different times and places, exercised the Church of Christ, We will, that all further curious search be laid aside, and these disputes shut up in God's promises, as they be generally set forth to us in the holy Scriptures, and the general meaning of the Articles of the Church of England *according to them. And that no man hereafter shall either print, or preach, to draw the Article aside any way, but shall submit to it in the plain and full meaning thereof: and shall not put his own sense or comment to be the meaning of the Article, but shall take it in the literal and grammatical sense.*

That if any publick Reader in either of Our Universities, or any Head or Master of a College, or any other person respectively in either of them, shall affix any new sense to any Article, or shall publickly read, determine, or hold any publick Disputation, or suffer any such to be held either way, in either the Universities or Colleges respectively; or if any Divine in the Universities shall preach or print any thing either way, other than is already established in Convocation with Our Royal Assent; he, or they the Offenders, shall be liable to Our displeasure, and the Church's censure in Our Commission Ecclesiastical, as well as any other: And We will see there shall be due Execution upon them.

ARTICLES OF RELIGION.

I. *Of Faith in the Holy Trinity.*

THERE is but one living and true God, everlasting, without body, parts, or passions; of infinite power, wisdom, and goodness; the Maker, and Preserver of all things both visible and invisible. And in unity of this Godhead there be three Persons, of one substance, power, and eternity; the Father, the Son, and the Holy Ghost.

II. *Of the Word or Son of God, which was made very Man.*

THE Son, which is the Word of the Father, begotten from everlasting of the Father, the very and eternal God, and of one substance with the Father, took Man's nature in the womb of the blessed Virgin, of her substance: so that two whole and perfect Natures, that is to say, the Godhead and Manhood, were joined together in one Person, never to be divided, whereof is one Christ, very God, and very Man; who truly suffered, was crucified, dead and buried, to reconcile his Father to us, and to be a sacrifice, not only for original guilt, but also for actual sins of men.

III. *Of the going down of Christ into Hell.*

AS Christ died for us, and was buried, so also is it to be believed, that he went down into Hell.

IV. *Of the Resurrection of Christ.*

CHRIST did truly rise again from death, and took again his body, with flesh, bones, and all things appertaining to the perfection of Man's nature; wherewith he ascended into Heaven, and there sitteth, until he return to judge all Men at the last day.

V. *Of the Holy Ghost.*

THE Holy Ghost, proceeding from the Father and the Son, is of one substance, majesty, and glory, with the Father and the Son, very and eternal God.

VI. *Of the Sufficiency of the holy Scriptures for salvation.*

HOLY Scripture containeth all things necessary to salvation: so that whatsoever is not read therein, nor may be proved thereby, is not to be required of any man, that it should be believed as an article of the Faith, or be thought requisite or necessary to salvation. In the name of the holy Scripture we do understand those Canonical Books of the Old and New Testament, of whose authority was never any doubt in the Church.

Of the Names and Number of the Canonical Books.

GENESIS,
Exodus,
Leviticus,
Numbers,
Deuteronomy,
Joshua,
Judges,
Ruth,
The First Book of Samuel,
The Second Book of Samuel,
The First Book of Kings,
The Second Book of Kings,
The First Book of Chronicles,
The Second Book of Chronicles,
The First Book of Esdras,
The Second Book of Esdras,
The Book of Esther,
The Book of Job,
The Psalms,
The Proverbs,
Ecclesiastes, or Preacher,
Cantica, or Songs of Solomon,
Four Prophets the greater,
Twelve Prophets the less.

And the other Books (as *Hierome* saith) the Church doth read for example of life and instruction of manners; but yet doth it not apply them to establish any doctrine; such are these following:

The Third Book of Esdras,
The Fourth Book of Esdras,
The Book of Tobias,
The Book of Judith,
The rest of the Book of Esther,
The Book of Wisdom,
Jesus the Son of Sirach,
Baruch the Prophet,
The Song of the Three Children,
The Story of Susanna,
Of Bel and the Dragon,
The Prayer of Manasses,
The First Book of Maccabees,
The Second Book of Maccabees.

All the Books of the New Testament, as they are commonly received, we do receive, and account them Canonical.

VII. *Of the Old Testament.*

THE Old Testament is not contrary to the New: for both in the Old and New Testament everlasting life is offered to Mankind by Christ, who is the only Mediator between God and Man, being both God and Man. Wherefore they are not to be heard, which feign that the old Fathers did look only for transitory promises. Although the Law given from God by Moses, as touching Ceremonies and Rites, do not bind Christian men, nor the Civil precepts thereof ought of necessity to be received in any commonwealth; yet notwithstanding, no Christian man whatsoever is free from the obedience of the Commandments which are called Moral.

VIII. *Of the Three Creeds.*

THE Three Creeds, *Nicene* Creed, *Athanasius*'s Creed, and that which is commonly called the *Apostles*' Creed, ought thoroughly to be received and believed: for they may be proved by most certain warrants of holy Scripture.

IX. *Of Original or Birth-sin.*

ORIGINAL Sin standeth not in the following of *Adam*, (as the *Pelagians* do vainly talk;) but it is the fault and corruption of the nature of every man, that naturally is ingendered of the offspring of *Adam*; whereby man is very far gone from original righteousness, and is of his own nature inclined to evil, so that the flesh lusteth always contrary to the spirit; and therefore in every person born into this world, it deserveth God's wrath and damnation. And this infection of nature doth remain, yea in them that are regenerated; whereby the lust of the flesh, called in the Greek, *phronema sarkos*, which some do expound the wisdom, some sensuality, some the affection, some the desire, of the flesh, is not subject to the Law of God. And although there is no condemnation for them that believe and are baptized, yet the Apostle doth confess, that concupiscence and lust hath of itself the nature of sin.

X. *Of Free-Will.*

THE condition of Man after the fall of *Adam* is such, that he cannot turn and prepare himself, by his own natural strength and good works, to faith, and calling upon God: Wherefore we have no power to do good works pleasant and acceptable to God, without the grace of God by Christ preventing us, that we may have a good will, and working with us, when we have that good will.

XI. *Of the Justification of Man.*

WE are accounted righteous before God, only for the merit of our Lord and Saviour Jesus Christ by Faith, and not for our own works or deservings: Wherefore, that we are justified by Faith only is a most whole-

some Doctrine, and very full of comfort, as more largely is expressed in the Homily of Justification.

XII. *Of Good Works.*

ALBEIT that Good Works, which are the fruits of Faith, and follow after Justification, cannot put away our sins, and endure the severity of God's Judgement; yet are they pleasing and acceptable to God in Christ, and do spring out necessarily of a true and lively Faith; insomuch that by them a lively Faith may be as evidently known as a tree discerned by the fruit.

XIII. *Of Works before Justification.*

WORKS done before the grace of Christ, and the Inspiration of his Spirit, are not pleasant to God, forasmuch as they spring not of faith in Jesus Christ, neither do they make men meet to receive grace, or (as the School-authors say) deserve grace of congruity: yea rather, for that they are not done as God hath willed and commanded them to be done, we doubt not but they have the nature of sin.

XIV. *Of Works of Supererogation.*

VOLUNTARY Works besides, over and above, God's Commandments, which they call Works of Supererogation, cannot be taught without arrogancy and impiety: for by them men do declare, that they do not only render unto God as much as they are bound to do, but that they do more for his sake, than of bounden duty is required: whereas Christ saith plainly, When ye have done all that are commanded to you, say, We are unprofitable servants.

XV. *Of Christ alone without Sin.*

CHRIST in the truth of our nature was made like unto us in all things, sin only except, from which he was clearly void, both in his flesh, and in his spirit. He came to be the Lamb without spot, who, by sacrifice of himself once made, should take away the sins of the world, and sin, as Saint *John* saith, was not in him. But all we the rest, although baptized, and born again in Christ, yet offend in many things; and if we say we have no sin, we deceive ourselves, and the truth is not in us.

XVI. *Of Sin after Baptism.*

NOT every deadly sin willingly committed after Baptism is sin against the Holy Ghost, and unpardonable. Wherefore the grant of repentance is not to be denied to such as fall into sin after Baptism. After we have received the Holy Ghost, we may depart from grace given, and fall into sin, and by the grace of God we may arise again, and amend our lives. And therefore they are to be condemned, which say, they can no more sin as long as they live here, or deny the place of forgiveness to such as truly repent.

XVII. *Of Predestination and Election.*

PREDESTINATION to Life is the everlasting purpose of God, whereby (before the foundations of the world were laid) he hath constantly decreed by his counsel secret to us, to deliver from curse and damnation those whom he hath chosen in Christ out of mankind, and to bring them by Christ to everlasting salvation, as vessels made to honour. Wherefore, they which be endued with so excellent a benefit of God be called according to God's purpose by his Spirit working in due season: they through Grace obey the calling: they be justified freely: they be made sons of God by adoption: they be made like the image of his only-begotten Son Jesus Christ: they walk religiously in good works, and at length, by God's mercy, they attain to everlasting felicity.

As the godly consideration of Predestination, and our Election in Christ, is full of sweet, pleasant, and unspeakable comfort to godly persons, and such as feel in themselves the working of the Spirit of Christ, mortifying the works of the flesh, and their earthly members, and drawing up their mind to high and heavenly things, as well because it doth greatly establish and confirm their faith of eternal Salvation to be enjoyed through Christ, as because it doth fervently kindle their love towards God: So, for curious and carnal persons, lacking the Spirit of Christ, to have continually before their eyes the sentence of God's Predestination, is a most dangerous downfal, whereby the Devil doth thrust them either into desperation, or into wretchlessness of most unclean living, no less perilous than desperation.

Furthermore, we must receive God's promises in such wise, as they be generally set forth to us in holy Scripture: and, in our doings, that Will of God is to be followed, which we have expressly declared unto us in the Word of God.

XVIII. *Of obtaining eternal Salvation only by the Name of Christ.*

THEY also are to be had accursed that presume to say, That every man shall be saved by the Law or Sect which he professeth, so that he be diligent to frame his life according to that Law, and the light of Nature. For holy Scripture doth set out unto us only the Name of Jesus Christ, whereby men must be saved.

XIX. *Of the Church.*

THE visible Church of Christ is a congregation of faithful men, in the which the pure Word of God is preached, and the Sacraments be duly ministered according to Christ's ordinance in all those things that of necessity are requisite to the same.

As the Church of *Jerusalem*, *Alexandria*, and *Antioch*, have erred; so also the Church of *Rome* hath erred, not only in their living and manner of Ceremonies, but also in matters of Faith.

XX. *Of the Authority of the Church.*

THE Church hath power to decree Rites or Ceremonies, and authority in Controversies of Faith: And yet it is not lawful for the Church to ordain any thing that is contrary to God's Word written, neither may it so expound one place of Scripture, that it be repugnant to another. Wherefore, although the Church be a witness and a keeper of holy Writ, yet, as it ought not to decree any thing against the same, so besides the same ought it not to enforce any thing to be believed for necessity of Salvation.

XXI. *Of the Authority of General Councils.*

GENERAL Councils may not be gathered together without the commandment and will of Princes. And when they be gathered together, (forasmuch as they be an assembly of men, whereof all be not governed with the Spirit and Word of God,) they may err, and sometimes have erred, even in things pertaining unto God. Wherefore things ordained by them as necessary to salvation have neither strength nor authority, unless it may be declared that they be taken out of holy Scripture.

XXII. *Of Purgatory.*

THE Romish Doctrine concerning Purgatory, Pardons, Worshipping and Adoration, as well of Images as of Reliques, and also invocation of Saints, is a fond thing vainly invented, and grounded upon no warranty of Scripture, but rather repugnant to the Word of God.

XXIII. *Of Ministering in the Congregation.*

IT is not lawful for any man to take upon him the office of publick preaching, or ministering the Sacraments in the Congregation, before he be lawfully called, and sent to execute the same. And those we ought to judge lawfully called and sent, which be chosen and called to this work by men who have publick authority given unto them in the Congregation, to call and send Ministers into the Lord's vineyard.

XXIV. *Of speaking in the Congregation in such a tongue as the people understandeth.*

IT is a thing plainly repugnant to the Word of God, and the custom of the Primitive Church, to have publick Prayer in the Church, or to minister the Sacraments in a tongue not understanded of the people.

XXV. *Of the Sacraments.*

SACRAMENTS ordained of Christ be not only badges or tokens of Christian men's profession, but rather they be certain sure witnesses, and effectual signs of grace, and God's good will towards us, by the which he doth work invisibly in us, and doth not only quicken, but also strengthen and confirm our Faith in him.

There are two Sacraments ordained of Christ our Lord in the Gospel, that is to say, Baptism, and the Supper of the Lord.

Those five commonly called Sacraments, that is to say, Confirmation, Penance, Orders, Matrimony, and extreme Unction, are not to be counted for Sacraments of the Gospel, being such as have grown partly of the corrupt following of the Apostles, partly are states of life allowed in the Scriptures; but yet have not like nature of Sacraments with Baptism, and the Lord's Supper, for that they have not any visible sign or ceremony ordained of God.

The Sacraments were not ordained of Christ to be gazed upon, or to be carried about, but that we should duly use them. And in such only as worthily receive the same they have a wholesome effect or operation: but they that receive them unworthily purchase to themselves damnation, as Saint *Paul* saith.

XXVI. *Of the Unworthiness of the Ministers, which hinders not the effect of the Sacrament.*

ALTHOUGH in the visible Church the evil be ever mingled with the good, and sometimes the evil have chief authority in the Ministration of the Word and Sacraments, yet forasmuch as they do not the same in their own name, but in Christ's, and do minister by his commission and authority, we may use their Ministry, both in hearing the Word of God, and in receiving of the Sacraments. Neither is the effect of Christ's ordinance taken away by their wickedness, nor the grace of God's gifts diminished from such as by faith and rightly do receive the Sacraments ministered unto them; which be effectual, because of Christ's institution and promise, although they be ministered by evil men.

Nevertheless, it appertaineth to the discipline of the Church, that enquiry be made of evil Ministers, and that they be accused by those that have knowledge of their offences; and finally being found guilty, by just judgement be deposed.

XXVII. *Of Baptism.*

BAPTISM is not only a sign of profession, and mark of difference, whereby Christian men are discerned from others that be not christened, but it is also a sign of Regeneration or new Birth, whereby, as by an instrument, they that receive Baptism rightly are grafted into the Church; the promises of forgiveness of sin, and of our adoption to be the sons of God

by the Holy Ghost, are visibly signed and sealed; Faith is confirmed, and Grace increased by virtue of prayer unto God. The Baptism of young Children is in any wise to be retained in the Church, as most agreeable with the institution of Christ.

XXVIII. *Of the Lord's Supper.*

THE Supper of the Lord is not only a sign of the love that Christians ought to have among themselves one to another; but rather is a Sacrament of our Redemption by Christ's death: insomuch that to such as rightly, worthily, and with faith, receive the same, the Bread which we break is a partaking of the Body of Christ; and likewise the Cup of Blessing is a partaking of the Blood of Christ.

Transubstantiation (or the change of the substance of Bread and Wine) in the Supper of the Lord, cannot be proved by holy Writ; but is repugnant to the plain words of Scripture, overthroweth the nature of a Sacrament, and hath given occasion to many superstitions.

The Body of Christ is given, taken, and eaten, in the Supper, only after an heavenly and spiritual manner. And the mean whereby the Body of Christ is received and eaten in the Supper is Faith.

The Sacrament of the Lord's Supper was not by Christ's ordinance reserved, carried about, lifted up, or worshipped.

XXIX. *Of the Wicked which eat not the Body of Christ in the use of the Lord's Supper.*

THE Wicked, and such as be void of a lively faith, although they do carnally and visibly press with their teeth (as Saint *Augustine* saith) the Sacrament of the Body and Blood of Christ, yet in no wise are they partakers of Christ: but rather, to their condemnation, do eat and drink the sign or Sacrament of so great a thing.

XXX. *Of both kinds.*

THE Cup of the Lord is not to be denied to the Lay-people: for both the parts of the Lord's Sacrament, by Christ's ordinance and commandment, ought to be ministered to all Christian men alike.

XXXI. *Of the one Oblation of Christ finished upon the Cross.*

THE Offering of Christ once made is that perfect redemption, propitiation, and satisfaction, for all the sins of the whole world, both original and actual; and there is none other satisfaction for sin, but that alone. Wherefore the sacrifices of Masses, in the which it was commonly said, that the Priest did offer Christ for the quick and the dead, to have remission of pain or guilt, were blasphemous fables, and dangerous deceits.

XXXII. *Of the Marriage of Priests.*

BISHOPS, Priests, and Deacons, are not commanded by God's Law, either to vow the estate of single life, or to abstain from marriage: therefore it is lawful for them, as for all other Christian men, to marry at their own discretion, as they shall judge the same to serve better to godliness.

XXXIII. *Of excommunicate Persons, how they are to be avoided.*

THAT person which by open denunciation of the Church is rightly cut off from the unity of the Church, and excommunicated, ought to be taken of the whole multitude of the faithful, as an Heathen and Publican, until he be openly reconciled by penance, and received into the Church by a Judge that hath authority thereunto.

XXXIV. *Of the Traditions of the Church.*

IT is not necessary that Traditions and Ceremonies be in all places one, and utterly like; for at all times they have been divers, and may be

changed according to the diversities of countries, times, and men's manners, so that nothing be ordained against God's Word. Whosoever through his private judgement, willingly and purposely, doth openly break the traditions and ceremonies of the Church, which be not repugnant to the Word of God, and be ordained and approved by common authority, ought to be rebuked openly, (that others may fear to do the like,) as he that offendeth against the common order of the Church, and hurteth the authority of the Magistrate, and woundeth the consciences of the weak brethren.

Every particular or national Church hath authority to ordain, change, and abolish, ceremonies or rites of the Church ordained only by man's authority, so that all things be done to edifying.

XXXV. *Of the Homilies.*

THE second Book of Homilies, the several titles whereof we have joined under this Article, doth contain a godly and wholesome Doctrine, and necessary for these times, as doth the former Book of Homilies, which were set forth in the time of *Edward* the Sixth; and therefore we judge them to be read in Churches by the Ministers, diligently and distinctly, that they may be understanded of the people.

Of the Names of the Homilies.

1 *Of the right Use of the Church.*
2 *Against peril of Idolatry.*
3 *Of repairing and keeping clean of Churches.*
4 *Of good Works: first of Fasting.*
5 *Against Gluttony and Drunkenness.*
6 *Against Excess of Apparel.*
7 *Of Prayer.*
8 *Of the Place and Time of Prayer.*
9 *That Common Prayers and Sacraments ought to be ministered in a known tongue.*
10 *Of the reverend estimation of God's Word.*
11 *Of Alms-doing.*
12 *Of the Nativity of Christ.*
13 *Of the Passion of Christ.*
14 *Of the Resurrection of Christ.*
15 *Of the worthy receiving of the Sacrament of the Body and Blood of Christ.*
16 *Of the Gifts of the Holy Ghost.*
17 *For the Rogation-days.*
18 *Of the state of Matrimony.*
19 *Of Repentance.*
20 *Against Idleness.*
21 *Against Rebellion.*

XXXVI. *Of Consecration of Bishops and Ministers.*

THE Book of Consecration of Archbishops and Bishops, and Ordering of Priests and Deacons, lately set forth in the time of *Edward* the Sixth, and confirmed at the same time by authority of Parliament, doth contain all things necessary to such Consecration and Ordering: neither hath it any thing, that of itself is superstitious and ungodly. And therefore whosoever are consecrated or ordered according to the Rites of that Book, since the second year of the forenamed King *Edward* unto this time, or hereafter shall be consecrated or ordered according to the same Rites; we decree all such to be rightly, orderly, and lawfully consecrated and ordered.

XXXVII. *Of the Civil Magistrates.*

THE King's Majesty hath the chief power in this Realm of *England*, and other his Dominions, unto whom the chief Government of all Estates of this Realm, whether they be Ecclesiastical or Civil, in all causes doth appertain, and is not, nor ought to be, subject to any foreign Jurisdiction.

Where we attribute to the King's Majesty the chief government, by which Titles we understand the minds of some slanderous folks to be offended; we give not to our Princes the

ministering either of God's Word, or of the Sacraments, the which thing the Injunctions also lately set forth by *Elizabeth* our Queen do most plainly testify; but that only prerogative, which we see to have been given always to all godly Princes in holy Scriptures by God himself; that is, that they should rule all states and degrees committed to their charge by God, whether they be Ecclesiastical or Temporal, and restrain with the civil sword the stubborn and evil-doers.

The Bishop of *Rome* hath no jurisdiction in this Realm of *England*.

The Laws of the Realm may punish Christian men with death, for heinous and grievous offences.

It is lawful for Christian men, at the commandment of the Magistrate, to wear weapons, and serve in the wars.

XXXVIII. *Of Christian men's Goods, which are not common.*

THE Riches and Goods of Christians are not common, as touching the right, title, and possession of the same, as certain Anabaptists do falsely boast. Notwithstanding, every man ought, of such things as he possesseth, liberally to give alms to the poor, according to his ability.

XXXIX. *Of a Christian man's Oath.*

AS we confess that vain and rash Swearing is forbidden Christian men by our Lord Jesus Christ, and *James* his Apostle, so we judge, that Christian Religion doth not prohibit, but that a man may swear when the Magistrate requireth, in a cause of faith and charity, so it be done according to the Prophet's teaching, in justice, judgement, and truth.

THE RATIFICATION.

THIS Book of Articles before rehearsed, is again approved, and allowed to be holden and executed within the Realm, by the assent and consent of our Sovereign Lady ELIZABETH, *by the grace of God, of England, France, and Ireland, Queen, Defender of the Faith, &c. Which Articles were deliberately read, and confirmed again by the subscription of the hands of the Archbishops and Bishops of the Upper-house, and by the subscription of the whole Clergy of the Nether-house in their Convocation, in the Year of our Lord* 1571.

A TABLE OF THE ARTICLES.

1. *OF Faith in the Holy Trinity.*
2. *Of Christ the Son of God.*
3. *Of his going down into Hell.*
4. *Of his Resurrection.*
5. *Of the Holy Ghost.*
6. *Of the Sufficiency of the Scriptures.*
7. *Of the Old Testament.*
8. *Of the Three Creeds.*
9. *Of Original or Birth-sin.*
10. *Of Free-Will.*
11. *Of Justification.*
12. *Of Good Works.*
13. *Of Works before Justification.*
14. *Of Works of Supererogation.*
15. *Of Christ alone without Sin.*
16. *Of Sin after Baptism.*
17. *Of Predestination and Election.*
18. *Of obtaining Salvation by Christ.*
19. *Of the Church.*
20. *Of the Authority of the Church.*
21. *Of the Authority of General Councils.*
22. *Of Purgatory.*
23. *Of Ministering in the Congregation.*
24. *Of speaking in the Congregation.*
25. *Of the Sacraments.*
26. *Of the Unworthiness of Ministers.*
27. *Of Baptism.*
28. *Of the Lord's Supper.*
29. *Of the Wicked which eat not the Body of Christ.*
30. *Of both kinds.*
31. *Of Christ's one Oblation.*
32. *Of the Marriage of Priests.*
33. *Of excommunicate Persons.*
34. *Of the Traditions of the Church.*
35. *Of the Homilies.*
36. *Of Consecrating of Ministers.*
37. *Of Civil Magistrates.*
38. *Of Christian men's Goods.*
39. *Of a Christian man's Oath.*

The Ratification.

A TABLE OF KINDRED AND AFFINITY,

WHEREIN WHOSOEVER ARE RELATED

Are forbidden in Scripture and our Laws to marry together.

A Man may not marry his	*A Woman may not marry with her*
1 GRANDMOTHER,	1 GRANDFATHER,
2 Grandfather's Wife,	2 Grandmother's Husband,
3 Wife's Grandmother.	3 Husband's Grandfather.
4 Father's Sister,	4 Father's Brother,
5 Mother's Sister,	5 Mother's Brother,
6 Father's Brother's Wife.	6 Father's Sister's Husband.
7 Mother's Brother's Wife,	7 Mother's Sister's Husband,
8 Wife's Father's Sister,	8 Husband's Father's Brother,
9 Wife's Mother's Sister.	9 Husband's Mother's Brother.
10 Mother,	10 Father,
11 Step-Mother,	11 Step-Father,
12 Wife's Mother.	12 Husband's Father.
13 Daughter,	13 Son,
14 Wife's Daughter,	14 Husband's Son,
15 Son's Wife.	15 Daughter's Husband.
16 Sister,	16 Brother,
17 Wife's Sister,	17 Husband's Brother,
18 Brother's Wife.	18 Sister's Husband.
19 Son's Daughter,	19 Son's Son,
20 Daughter's Daughter,	20 Daughter's Son,
21 Son's Son's Wife.	21 Son's Daughter's Husband.
22 Daughter's Son's Wife,	22 Daughter's Daughter's Husband,
23 Wife's Son's Daughter,	23 Husband's Son's Son,
24 Wife's Daughter's Daughter.	24 Husband's Daughter's Son.
25 Brother's Daughter,	25 Brother's Son,
26 Sister's Daughter,	26 Sister's Son,
27 Brother's Son's Wife.	27 Brother's Daughter's Husband.
28 Sister's Son's Wife,	28 Sister's Daughter's Husband,
29 Wife's Brother's Daughter,	29 Husband's Brother's Son,
30 Wife's Sister's Daughter.	30 Husband's Sister's Son.

THE END.

A

NEW VERSION

OF THE

PSALMS OF DAVID,

FITTED TO THE

TUNES USED IN CHURCHES.

BY

NICHOLAS BRADY, D. D.
CHAPLAIN IN ORDINARY,

AND

NAHUM TATE, Esq.
POET-LAUREAT TO HIS MAJESTY.

OXFORD:
PRINTED AT THE CLARENDON PRESS,
BY BENSLEY, COOKE, AND COLLINGWOOD,
PRINTERS TO THE UNIVERSITY;
And sold by E. GARDNER, at the Oxford Bible Warehouse, Paternoster Row, London

Cum Privilegio.] 1815. Price

A NEW VERSION

OF THE

PSALMS.

PSALM I.

HOW bleſt is he who ne'er conſents by ill advice to walk;
Nor ſtands in ſinners' ways, nor ſits where men profanely talk.
2 But makes the perfect law of God his buſineſs and delight;
Devoutly reads therein by day, and meditates by night.
3 Like ſome fair tree, which, fed by ſtreams, with timely fruit does bend,
He ſtill ſhall flouriſh, and ſucceſs all his deſigns attend.
4 Ungodly men and their attempts no laſting root ſhall find;
Untimely blaſted, and diſpers'd like chaff before the wind.
5 Their guilt ſhall ſtrike the wicked dumb before their Judge's face:
No formal hypocrite ſhall then amongſt the ſaints have place.
6 For God approves the juſt man's ways, to happineſs they tend;
But ſinners, and the paths they tread, ſhall both in ruin end.

PSALM II.

WITH reſtleſs and ungovern'd rage why do the heathen ſtorm?
Why in ſuch raſh attempts engage, as they can ne'er perform?
2 The great in counſel and in might their various forces bring;
Againſt the Lord they all unite, and his anointed king.
3 "Muſt we ſubmit to their commands?" preſumptuouſly they ſay;
"No, let us break their ſlaviſh bands, and caſt their chains away."
4 But God, who ſits enthron'd on high, and ſees how they combine,
Does their conſpiring ſtrength defy, and mocks their vain deſign.
5 Thick clouds of wrath divine ſhall break on his rebellious foes;
And thus will he in thunder ſpeak to all that dare oppoſe:
6 "Though madly you diſpute my will, the king that I ordain,
"Whoſe throne is fix'd on Sion's hill, ſhall there ſecurely reign."
7 Attend, O earth, whilſt I declare God's uncontroll'd decree;
"Thou art my Son, this day my heir have I begotten thee.
8 "Aſk and receive thy full demands; thine ſhall the heathen be;
"The utmoſt limits of the lands ſhall be poſſeſs'd by thee.
9 "Thy threat'ning ſceptre thou ſhalt ſhake, and cruſh them every where;
"As maſſy bars of iron break the potter's brittle ware."
10 Learn then, ye princes, and give ear, ye judges of the earth;
11 Worſhip the Lord with holy fear; rejoice with awful mirth.
12 Appeaſe the Son with due reſpect, your timely homage pay;
Leſt he revenge the bold neglect, incens'd by your delay.
13 If but in part his anger riſe, who can endure the flame?
Then bleſt are they whoſe hope relies on his moſt holy name.

PSALM III.

HOW num'rous, Lord, of late are grown the troublers of my peace!
And, as their numbers hourly riſe, ſo does their rage increaſe.
2 Inſulting they my ſoul upbraid, and him whom I adore;
The God in whom he truſts, ſay they, ſhall reſcue him no more.
3 But thou, O Lord, art my defence; on thee my hopes rely;
Thou art my glory, and ſhalt yet lift up my head on high.
4 Since whenſoe'er in like diſtreſs to God I made my pray'r,
He heard me from his holy hill, why ſhould I now deſpair?
5 Guarded by him, I laid me down my ſweet repoſe to take;
For I through him ſecurely ſleep, through him in ſafety wake.
6 No force nor fury of my foes my courage ſhall confound,
Were they as many hoſts as men that have beſet me round.
7 Ariſe and ſave me, O my God, who oft haſt own'd my cauſe,
And ſcatter'd oft theſe foes to me, and to thy righteous laws.
8 Salvation to the Lord belongs, he only can defend;
His bleſſing he extends to all that on his pow'r depend.

PSALM IV.

O Lord, that art my righteous Judge, to my complaint give ear:
Thou ſtill redeem'ſt me from diſtreſs; have mercy, Lord, and hear.
2 How long will ye, O ſons of men, to blot my fame deviſe?
How long your vain deſigns purſue, and ſpread malicious lies?
3 Conſider, that the righteous man is God's peculiar choice;
And when to him I make my pray'r, he always hears my voice.
4 Then ſtand in awe of his commands, flee ev'ry thing that's ill;
Commune in private with your hearts, and bend them to his will.
5 The place of other ſacrifice let righteouſneſs ſupply;
And let your hope, ſecurely fix'd, on God alone rely.
6 While worldly minds impatient grow more proſp'rous times to ſee,
Still let the glories of thy face ſhine brightly, Lord, on me.
7 So ſhall my heart o'erflow with joy, more laſting and more true,
Than theirs, who ſtores of corn and wine ſucceſſively renew.
8 Then down in peace I'll lay my head, and take my needful reſt;
No other guard, O Lord, I crave, of thy defence poſſeſt.

PSALM V.

LORD, hear the voice of my complaint, accept my ſecret pray'r;
2 To thee alone, my King, my God, will I for help repair.
3 Thou in the morn my voice ſhalt hear, and with the dawning day
To thee devoutly I'll look up, to thee devoutly pray.
4 For thou the wrongs that I ſuſtain canſt never, Lord, approve;
Who from thy ſacred dwelling-place all evil doſt remove.
5 Not long ſhall ſtubborn fools remain unpuniſh'd in thy view;
All ſuch as act unrighteous things thy vengeance ſhall purſue.
6 The ſland'ring tongue, O God of truth, by thee ſhall be deſtroy'd,
Who hat'ſt alike the man in blood and in deceit employ'd.
7 But when thy boundleſs grace ſhall me to thy lov'd courts reſtore,
On thee I'll fix my longing eyes, and humbly there adore.
8 Conduct me by thy righteous laws, for watchful is my foe;
Therefore, O Lord, make plain the way wherein I ought to go.

9 Their mouth vents nothing but deceit, their heart is set on wrong;
Their throat is a devouring grave, they flatter with their tongue.
10 By their own counsels let them fall, oppress'd with loads of sin;
For they against thy righteous laws have harden'd rebels been.
11 But let all those who trust in thee with shouts their joy proclaim;
Let them rejoice whom thou preserv'st, and all that love thy name.
12 To righteous men the righteous Lord his blessing will extend,
And with his favour all his saints, as with a shield, defend.

PSALM VI.

THY dreadful anger, Lord, restrain, and spare a wretch forlorn;
Correct me not in thy fierce wrath, too heavy to be borne.
2 Have mercy, Lord, for I grow faint, unable to endure
The anguish of my aching bones, which thou alone canst cure.
3 My tortur'd flesh distracts my mind, and fills my soul with grief;
But, Lord, how long wilt thou delay to grant me thy relief?
4 Thy wonted goodness, Lord, repeat, and ease my troubled soul;
Lord, for thy wondrous mercy's sake vouchsafe to make me whole.
5 For after death no more can I thy glorious acts proclaim;
No pris'ner of the silent grave can magnify thy name.
6 Quite tir'd with pain, with groaning faint, no hope of ease I see;
The night, that quiets common griefs, is spent in tears by me.
7 My beauty fades, my sight grows dim, my eyes with weakness close;
Old age o'ertakes me, whilst I think on my insulting foes.
8 Depart, ye wicked, in my wrongs ye shall no more rejoice;
For God, I find, accepts my tears, and listens to my voice.
9, 10 He hears and grants my humble pray'r; and they that wish my fall,
Shall blush and rage to see that God protects me from them all.

PSALM VII.

O Lord my God, since I have plac'd my trust alone in thee,
From all my persecutors' rage do thou deliver me.
2 To save me from my threat'ning foe, Lord, interpose thy pow'r;
Lest, like a savage lion, he my helpless soul devour.
3, 4 If I am guilty, or did e'er against his peace combine;
Nay, if I have not spar'd his life, who fought unjustly mine;
5 Let then to persecuting foes my soul become a prey;
Let them to earth tread down my life, in dust my honour lay.
6 Arise, and let thine anger, Lord, in my defence engage;
Exalt thyself above my foes and their insulting rage.
Awake, awake, in my behalf, the judgment to dispense,
Which thou hast righteously ordain'd for injur'd innocence.
7 So to thy throne adoring crowds shall still for justice fly;
O! therefore for their sakes resume thy judgment-seat on high.
8 Impartial Judge of all the world, I trust my cause to thee;
According to my just deserts, so let thy sentence be.
9 Let wicked arts and wicked men together be o'erthrown;
But guard the just, thou God, to whom the hearts of both are known.
10, 11 God me protects, nor only me, but all of upright heart;
And daily lays up wrath for those who from his laws depart.
12 If they persist, he whets his sword, his bow stands ready bent;
13 E'en now, with swift destruction wing'd, his pointed shafts are sent.

14 The plots are fruitleſs which my foe unjuſtly did conceive;
15 The pit he digg'd for me has prov'd his own untimely grave.
16 On his own head his ſpite returns, whilſt I from harm am free;
On him the violence is fall'n which he deſign'd for me.
17 Therefore will I the righteous ways of Providence proclaim;
I'll ſing the praiſe of God moſt high, and celebrate his Name.

PSALM VIII.

O Thou, to whom all creatures bow within this earthly frame,
Through all the world how great art thou! how glorious is thy Name!
In heav'n thy wondrous acts are ſung, nor fully reckon'd there;
2 And yet thou mak'ſt the infant tongue thy boundleſs praiſe declare.
Through thee the weak confound the ſtrong, and cruſh their haughty foes;
And ſo thou quell'ſt the wicked throng, that thee and thine oppoſe.
3 When heav'n, thy beauteous work on high, employs my wond'ring ſight;
The moon that nightly rules the ſky, with ſtars of feebler light;
4 What's man, (ſay I,) that, Lord, thou lov'ſt to keep him in thy mind?
Or what his offſpring, that thou prov'ſt to them ſo wondrous kind?
5 Him next in pow'r thou didſt create to thy celeſtial train;
6 Ordain'd with dignity and ſtate o'er all thy works to reign.
7 They jointly own his pow'rful ſway; the beaſts that prey or graze;
8 The bird that wings its airy way; the fiſh that cuts the ſeas.
9 O thou, to whom all creatures bow within this earthly frame,
Through all the world how great art thou! how glorious is thy Name!

PSALM IX.

TO celebrate thy praiſe, O Lord, I will my heart prepare;
To all the liſt'ning world thy works, thy wondrous works, declare.
2 The thought of them ſhall to my ſoul exalted pleaſure bring;
Whilſt to thy Name, O thou moſt High, triumphant praiſe I ſing.
3 Thou mad'ſt my haughty foes to turn their backs in ſhameful flight;
Struck with thy preſence, down they fell, they periſh'd at thy ſight.
4 Againſt inſulting foes advanc'd, thou didſt my cauſe maintain;
My right aſſerting from thy throne, where truth and juſtice reign.
5 The inſolence of heathen pride thou haſt reduc'd to ſhame;
Their wicked offſpring quite deſtroy'd, and blotted out their name.
6 Miſtaken foes! your haughty threats are to a period come;
Our city ſtands, which you deſign'd to make our common tomb.
7, 8 The Lord for ever lives, who has his righteous throne prepar'd,
Impartial juſtice to diſpenſe; to puniſh or reward.
9 God is a conſtant ſure defence againſt oppreſſing rage;
As troubles riſe, his needful aids in our behalf engage.
10 All thoſe who have his goodneſs prov'd will in his truth confide;
Whoſe mercy ne'er forſook the man that on his help rely'd.
11 Sing praiſes, therefore, to the Lord, from Sion, his abode;
Proclaim his deeds, till all the world confeſs no other God.

The Second Part.

12 When he enquiry makes for blood, he calls the poor to mind;
The injur'd humble man's complaint relief from him ſhall find.
13 Take pity on my troubles, Lord, which ſpiteful foes create,
Thou, that haſt reſcu'd me ſo oft from death's devouring gate.

14 In Sion then I'll ſing thy praiſe, to all that love thy name;
And with loud ſhouts of grateful joy thy ſaving pow'r proclaim.
15 Deep in the pit they digg'd for me the heathen pride is laid;
Their guilty feet to their own ſnare inſenſibly betray'd.
16 Thus, by the juſt returns he makes, the mighty Lord is known;
While wicked men by their own plots are ſhamefully o'erthrown.
17 No ſingle ſinner ſhall eſcape by privacy obſcur'd;
Nor nation from his juſt revenge by numbers be ſecur'd.
18 His ſuff'ring ſaints, when moſt diſtreſt, he ne'er forgets to aid;
Their expectation ſhall be crown'd, though for a time delay'd.
19 Ariſe, O Lord, aſſert thy pow'r, and let not man o'ercome;
Deſcend to judgment, and pronounce the guilty heathen's doom.
20 Strike terror through the nations round, till, by conſenting fear,
They to each other, and themſelves, but mortal men appear.

PSALM X.

THY preſence why withdraw'ſt thou, Lord? why hid'ſt thou now thy face,
When diſmal times of deep diſtreſs call for thy wonted grace?
2 The wicked, ſwell'd with lawleſs pride, have made the poor their prey;
O let them fall by thoſe deſigns which they for others lay.
3 For ſtraight they triumph, if ſucceſs their thriving crimes attend;
And ſordid wretches, whom God hates, perverſely they commend.
4 To own a pow'r above themſelves their haughty pride diſdains;
And therefore in their ſtubborn mind no thought of God remains.
5 Oppreſſive methods they purſue, and all their foes they ſlight;
Becauſe thy judgments, unobſerv'd, are far above their ſight.
6 They fondly think their proſp'rous ſtate ſhall unmoleſted be;
They think their vain deſigns ſhall thrive, from all misfortune free.
7 Vain and deceitful is their ſpeech, with curſes fill'd and lies;
By which the miſchief of their heart they ſtudy to diſguiſe.
8 Near public roads they lie conceal'd, and all their art employ,
The innocent and poor at once to rifle and deſtroy.
9 Not lions, couching in their dens, ſurpriſe their heedleſs prey
With greater cunning, or expreſs more ſavage rage than they.
10 Sometimes they act the harmleſs man, and modeſt looks they wear;
That, ſo deceiv'd, the poor may leſs their ſudden onſet fear.

The Second Part.

11 For God, they think, no notice takes of their unrighteous deeds;
He never minds the ſuff'ring poor, nor their oppreſſion heeds.
12 But thou, O Lord, at length ariſe; ſtretch forth thy mighty arm;
And, by the greatneſs of thy pow'r, defend the poor from harm.
13 No longer let the wicked vaunt, and proudly boaſting ſay,
"Tuſh, God regards not what we do; he never will repay."
14 But ſure thou ſeeſt, and all their deeds impartially doſt try;
The orphan, therefore, and the poor on thee for aid rely.
15 Defenceleſs let the wicked fall, of all their ſtrength bereft;
Confound, O God, their dark deſigns, till no remains are left.
16 Aſſert thy juſt dominion, Lord, which ſhall for ever ſtand;
Thou, who the heathen didſt expel from this thy choſen land.
17 Thou doſt the humble ſuppliants hear that to thy throne repair;
Thou firſt prepar'ſt their hearts to pray, and then accept'ſt their pray'r.
18 Thou in thy righteous judgment weigh'ſt the fatherleſs and poor;
That ſo the tyrants of the earth may perſecute no more.

PSALM XI.

SINCE I have plac'd my truſt in God, a refuge always nigh,
Why ſhould I, like a tim'rous bird, to diſtant mountains fly?
2 Behold, the wicked bend their bow, and ready fix their dart;
Lurking in ambuſh to deſtroy the man of upright heart.
3 When once the firm aſſurance fails which public faith imparts,
'Tis time for innocence to fly from ſuch deceitful arts.
4 The Lord hath both a temple here, and righteous throne above;
Whence he ſurveys the ſons of men, and how their counſels move.
5 If God the righteous, whom he loves, for trial does correct;
What muſt the ſons of violence, whom he abhors, expect?
6 Snares, fire, and brimſtone on their heads ſhall in one tempeſt ſhow'r;
This dreadful mixture his revenge into their cup ſhall pour.
7 The righteous Lord will righteous deeds with ſignal favour grace;
And to the upright man diſcloſe the brightneſs of his face.

PSALM XII.

SINCE godly men decay, O Lord, do thou my cauſe defend;
For ſcarce theſe wretched times afford one juſt and faithful friend.
2 One neighbour now can ſcarce believe what t'other doth impart:
With flatt'ring lips they all deceive, and with a double heart.
3 But lips that with deceit abound can never proſper long;
God's righteous vengeance will confound the proud blaſpheming tongue.
4 In vain thoſe fooliſh boaſters ſay, "Our tongues are ſure our own;
"With doubtful words we will betray, and be controll'd by none."
5 For God, who hears the ſuff'ring poor, and their oppreſſion knows,
Will ſoon ariſe and give them reſt, in ſpite of all their foes.
6 The word of God ſhall ſtill abide, and void of falſehood be,
As is the ſilver, ſev'n times try'd, from droſſy mixture free.
7 The promiſe of his aiding grace ſhall reach the purpos'd end;
His ſervants from this faithleſs race he ever ſhall defend.
8 Then ſhall the wicked be perplex'd, nor know which way to fly;
When thoſe, whom they deſpis'd and vex'd, ſhall be advanc'd on high.

PSALM XIII.

HOW long wilt thou forget me, Lord? muſt I for ever mourn?
How long wilt thou withdraw from me, oh! never to return?
2 How long ſhall anxious thoughts my ſoul, and grief my heart oppreſs?
How long my enemies inſult, and I have no redreſs?
3 O hear! and to my longing eyes reſtore thy wonted light!
And ſuddenly, or I ſhall ſleep in everlaſting night.
4 Reſtore me, leſt they proudly boaſt 'twas their own ſtrength o'ercame;
Permit not them that vex my ſoul to triumph in my ſhame.
5 Since I have always plac'd my truſt beneath thy mercy's wing,
Thy ſaving health will come, and then my heart with joy ſhall ſpring:
6 Then ſhall my ſong, with praiſe inſpir'd, to thee, my God, aſcend;
Who to thy ſervant in diſtreſs ſuch bounty didſt extend.

PSALM XIV.

SURE wicked fools muſt needs ſuppoſe that God is nothing but a name;
Corrupt and lewd their practice grows, no breaſt is warm'd with holy flame.
2 The Lord look'd down from heav'n's high tow'r, and all the ſons of men did view,
To ſee if any own'd his pow'r, if any truth or juſtice knew.

3 But all he saw were gone aside, all were degen'rate grown and base;
None took religion for their guide, not one of all the sinful race.
4 But can these workers of deceit be all so dull and senseless grown;
That they like bread my people eat, and God's almighty pow'r disown?
5 How will they tremble then for fear, when his just wrath shall them o'ertake;
For to the righteous God is near, and never will their cause forsake.
6 Ill men in vain with scorn expose those methods which the good pursue;
Since God a refuge is for those whom his just eyes with favour view.
7 Would he his saving pow'r employ to break his people's servile band;
Then shouts of universal joy should loudly echo through the land.

PSALM XV.

LORD, who's the happy man that may to thy blest courts repair?
Not, stranger-like, to visit them, but to inhabit there?
2 'Tis he, whose ev'ry thought and deed by rules of virtue moves;
Whose gen'rous tongue disdains to speak the thing his heart disproves.
3 Who never did a slander forge his neighbour's fame to wound;
Nor hearken to a false report, by malice whisper'd round.
4 Who vice, in all its pomp and pow'r can treat with just neglect;
And piety, though cloth'd in rags, religiously respect.
5 Who to his plighted vows and trust has ever firmly stood;
And, though he promise to his loss, he makes his promise good.
6 Whose soul in usury disdains his treasure to employ;
Whom no rewards can ever bribe the guiltless to destroy.
7 The man, who by this steady course has happiness insur'd,
When earth's foundation shakes, shall stand, by Providence secur'd.

PSALM XVI.

PROTECT me from my cruel foes, and shield me, Lord, from harm,
Because my trust I still repose on thy Almighty arm.
2 My soul all help but thine does slight, all gods but thee disown;
Yet can no deeds of mine requite the goodness thou hast shown.
3 But those that strictly virtuous are, and love the thing that's right,
To favour always and prefer shall be my chief delight.
4 How shall their sorrows be increas'd, who other gods adore?
Their bloody off'rings I detest, their very names abhor.
5 My lot is fall'n in that blest land where God is truly known;
He fills my cup with lib'ral hand; 'tis he supports my throne.
6 In nature's most delightful scene my happy portion lies;
The place of my appointed reign all other lands outvies.
7 Therefore my soul shall bless the Lord, whose precepts give me light,
And private counsel still afford in sorrow's dismal night.
8 I strive each action to approve to his all-seeing eye;
No dangers shall my hopes remove, because he still is nigh.
9 Therefore my heart all grief defies, my glory does rejoice;
My flesh shall rest in hope to rise, wak'd by his pow'rful voice.
10 Thou, Lord, when I resign my breath, my soul from hell shalt free;
Nor let thy Holy One in death the least corruption see.
11 Thou shalt the paths of life display, that to thy presence lead;
Where pleasures dwell without allay, and joys that never fade.

PSALM XVII.

TO my juſt plea and ſad complaint, attend, O righteous Lord,
And to my pray'r, as 'tis unfeign'd, a gracious ear afford.
2 As in thy ſight I am approv'd, ſo let my ſentence be;
And with impartial eyes, O Lord, my upright dealing ſee.
3 For thou haſt ſearch'd my heart by day, and viſited by night;
And on the ſtricteſt trial found its ſecret motions right.
Nor ſhall thy juſtice, Lord, alone my heart's deſigns acquit;
For I have purpos'd that my tongue ſhall no offence commit.
4 I know what wicked men would do their ſafety to maintain;
But me thy juſt and mild commands from bloody paths reſtrain.
5 That I may ſtill, in ſpite of wrongs, my innocence ſecure;
O guide me in thy righteous ways, and make my footſteps ſure.
6 Since heretofore I ne'er in vain to thee my pray'r addreſt;
O now, my God, incline thine ear to this my juſt requeſt.
7 The wonders of thy truth and love in my defence engage,
Thou, whoſe right hand preſerves thy ſaints from their oppreſſors' rage.

The Second Part.

8, 9 O! keep me in thy tend'reſt care; thy ſhelt'ring wings ſtretch out,
To guard me ſafe from ſavage foes, that compaſs me about.
10 O'ergrown with luxury, inclos'd in their own fat they lie;
And with a proud blaſpheming mouth both God and man defy.
11 Well may they boaſt, for they have now my paths encompaſs'd round;
Their eyes at watch, their bodies bow'd, and couching on the ground,
12 In poſture of a lion ſet, when greedy of his prey;
Or a young lion, when he lurks within a covert way.
13 Ariſe, O Lord, defeat their plots, their ſwelling rage control;
From wicked men, who are thy ſword, deliver thou my ſoul.
14 From worldly men, thy ſharpeſt ſcourge, whoſe portion's here below;
Who, fill'd with earthly ſtores, deſire no other bliſs to know.
15 Their race is num'rous that partake their ſubſtance while they live:
Their heirs ſurvive, to whom they may the vaſt remainder give.
16 But I, in uprightneſs, thy face ſhall view without control;
And, waking, ſhall its image find reflected in my ſoul.

PSALM XVIII.

NO change of times ſhall ever ſhock my firm affection, Lord, to thee;
For thou haſt always been my rock, a fortreſs and defence to me.
2 Thou my deliv'rer art, my God, my truſt is in thy mighty pow'r:
Thou art my ſhield from foes abroad, at home my ſafeguard and my tow'r.
3 To thee I will addreſs my pray'r, (to whom all praiſe we juſtly owe;)
So ſhall I, by thy watchful care, be guarded from my treach'rous foe.
4, 5 By floods of wicked men diſtreſs'd, with deadly ſorrows compaſs'd round;
With dire infernal pangs oppreſs'd, in death's unwieldy fetters bound.
6 To heav'n I made my mournful pray'r, to God addreſs'd my humble moan;
Who graciouſly inclin'd his ear, and heard me from his lofty throne.

The Second Part.

7 When God aroſe to take my part, the conſcious earth did quake for fear;
From their firm poſts the hills did ſtart, nor could his dreadful fury bear.
8 Thick clouds of ſmoke diſpers'd abroad, enſigns of wrath before him came;
Devouring fire around him glow'd, that coals were kindled at its flame.

9 He left the beauteous realms of light, whilſt heav'n bow'd down its awful head,
Beneath his feet ſubſtantial night was like a ſable carpet ſpread.
10 The chariot of the King of kings, which active troops of angels drew,
On a ſtrong tempeſt's rapid wings, with moſt amazing ſwiftneſs flew.
11, 12 Black wat'ry miſts and clouds conſpir'd with thickeſt ſhades his face to veil;
But at his brightneſs ſoon retir'd, and fell in ſhow'rs of fire and hail.
13 Thro' heav'n's wide arch a thund'ring peal God's angry voice did loudly roar,
While earth's ſad face with heaps of hail, and flakes of fire, was cover'd o'er.
14 His ſharpen'd arrows round he threw, which made his ſcatter'd foes retreat;
Like darts his nimble lightnings flew, and quickly finiſh'd their defeat.
15 The deep its ſecret ſtores diſclos'd, the world's foundations naked lay;
By his avenging wrath expos'd, which fiercely rag'd that dreadful day.

The Third Part.

16 The Lord did on my ſide engage, from heav'n, his throne, my cauſe upheld;
And ſnatch'd me from the furious rage of threat'ning waves that proudly ſwell'd.
17 God his reſiſtleſs pow'r employ'd, my ſtrongeſt foes' attempts to break;
Who elſe with eaſe had ſoon deſtroy'd the weak defence that I could make.
18 Their ſubtle rage had near prevail'd, when I diſtreſs'd and friendleſs lay;
But ſtill, when other ſuccours fail'd, God was my firm ſupport and ſtay.
19 From dangers that inclos'd me round, he brought me forth and ſet me free;
For ſome juſt cauſe his goodneſs found, that mov'd him to delight in me.
20 Becauſe in me no guilt remains, God does his gracious help extend;
My hands are free from bloody ſtains, therefore the Lord is ſtill my friend.
21, 22 For I his judgments kept in ſight, in his juſt paths I always trod;
I never did his ſtatutes ſlight, nor looſely wander'd from my God.
23, 24 But ſtill my ſoul, ſincere and pure, did e'en from darling ſins refrain;
His favours, therefore, yet endure, becauſe my heart and hands are clean.

The Fourth Part.

25, 26 Thou ſuit'ſt, O Lord, thy righteous ways to various paths of human kind;
They, who for mercy merit praiſe, with thee ſhall wondrous mercy find.
Thou to the juſt ſhalt juſtice ſhow, the pure thy purity ſhall ſee;
Such as perverſely chooſe to go, ſhall meet with due returns from thee.
27, 28 That he the humble ſoul will ſave, and cruſh the haughty's boaſted might,
In me the Lord an inſtance gave, whoſe darkneſs he has turn'd to light.
29 On his firm ſuccour I rely'd, and did o'er num'rous foes prevail;
Nor fear'd, whilſt he was on my ſide, the beſt defended walls to ſcale.
30 For God's deſigns ſhall ſtill ſucceed; his word will bear the utmoſt teſt:
He's a ſtrong ſhield to all that need, and on his ſure protection reſt.
31 Who then deſerves to be ador'd, but God, on whom my hopes depend?
Or who, except the mighty Lord, can with reſiſtleſs pow'r defend?

The Fifth Part.

32, 33 'Tis God that girds my armour on, and all my juſt deſigns fulfils;
Through him my feet can ſwiftly run, and nimbly climb the ſteepeſt hills.
34 Leſſons of war from him I take, and manly weapons learn to wield;
Strong bows of ſteel with eaſe to break, forc'd by my ſtronger arms to yield.
35 The buckler of his ſaving health protects me from aſſaulting foes;
His hand ſuſtains me ſtill, my wealth and greatneſs from his bounty flows.
36 My goings he enlarg'd abroad, till then to narrow paths confin'd;
And, when in ſlipp'ry ways I trod, the method of my ſteps deſign'd.

37 Through him I num'rous hoſts defeat, and flying ſquadrons captive take;
Nor from my fierce purſuit retreat, till I a final conqueſt make.
38 Cover'd with wounds, in vain they try their vanquiſh'd heads again to rear;
Spite of their boaſted ſtrength they lie beneath my feet, and grovel there.

39 God, when freſh armies take the field, recruits my ſtrength, my courage warms;
He makes my ſtrong oppoſers yield, ſubdu'd by my prevailing arms.
40 Through him the necks of proſtrate foes my conqu'ring feet in triumph preſs;
Aided by him, I root out thoſe who hate and envy my ſucceſs.

41 With loud complaints all friends they try'd, but none was able to defend;
At length to God for help they cry'd, but God would no aſſiſtance lend.
42 Like flying duſt which winds purſue, their broken troops I ſcatter'd round,
Their ſlaughter'd bodies forth I threw, like loathſome dirt that clogs the ground.

The Sixth Part.

43 Our factious tribes, at ſtrife till now, by God's appointment me obey;
The heathen to my ſceptre bow, and foreign nations own my ſway.
44 Remoteſt realms their homage ſend, when my ſucceſsful name they hear;
Strangers for my commands attend, charm'd with reſpect, or aw'd by fear.

45 All to my ſummons tamely yield, or ſoon in battle are diſmay'd;
For ſtronger holds they quit the field, and ſtill in ſtrongeſt holds afraid.
46 Let the eternal Lord be prais'd, the rock on whoſe defence I reſt;
O'er higheſt heav'ns his name be rais'd, who me with his ſalvation bleſt.

47 'Tis God that ſtill ſupports my right, his juſt revenge my foes purſues;
'Tis he that with reſiſtleſs might fierce nations to my yoke ſubdues.
48 My univerſal ſafeguard he! from whom my laſting honours flow;
He made me great, and ſet me free from my remorſeleſs bloody foe.

49 Therefore to celebrate his fame my grateful voice to heav'n I'll raiſe;
And nations, ſtrangers to his name, ſhall thus be taught to ſing his praiſe.
50 "God to his king deliv'rance ſends, ſhows his anointed ſignal grace;
"His mercy evermore extends to David and his promis'd race."

PSALM XIX.

THE heav'ns declare thy glory, Lord, which that alone can fill;
The firmament and ſtars expreſs their great Creator's ſkill.
2 The dawn of each returning day freſh beams of knowledge brings;
From darkeſt night's ſucceſſive rounds divine inſtruction ſprings.

3 Their pow'rful language to no realm or region is confin'd;
'Tis nature's voice, and underſtood alike by all mankind.
4 Their doctrine does its ſacred ſenſe through earth's extent diſplay;
Whoſe bright contents the circling ſun does round the world convey.

5 No bridegroom, for his nuptials dreſt, has ſuch a cheerful face;
No giant does like him rejoice to run his glorious race.
6 From eaſt to weſt, from weſt to eaſt, his reſtleſs courſe he goes;
And through his progreſs cheerful light and vital warmth beſtows.

The Second Part.

7 God's perfect law converts the ſoul, reclaims from falſe deſires;
With ſacred wiſdom his ſure word the ignorant inſpires.
8 The ſtatutes of the Lord are juſt, and bring ſincere delight;
His pure commands, in ſearch of truth, aſſiſt the feebleſt ſight.

9 His perfect worſhip here is fix'd, on ſure foundations laid;
His equal laws are in the ſcales of truth and juſtice weigh'd.
10 Of more eſteem than golden mines, or gold refin'd with ſkill;
More ſweet than honey, or the drops that from the comb diſtil.

11 My truſty counſellors they are, and friendly warnings give;
Divine rewards attend on thoſe who by thy precepts live.
12 But what frail man obſerves how oft he does from virtue fall?
O cleanſe me from my ſecret faults, thou God that know'ſt them all.
13 Let no preſumptuous ſin, O Lord, dominion have o'er me;
That, by thy grace preſerv'd, I may the great tranſgreſſion flee.
14 So ſhall my pray'r and praiſes be with thy acceptance bleſt;
And I, ſecure on thy defence, my ſtrength and ſaviour, reſt.

PSALM XX.

THE Lord to thy requeſt attend, and hear thee in diſtreſs:
The name of Jacob's God defend, and grant thy arms ſucceſs.
2 To aid thee from on high repair, and ſtrength from Sion give;
3 Remember all thy off'rings there, thy ſacrifice receive.
4 To compaſs thy own heart's deſire, thy counſels ſtill direct;
Make kindly all events conſpire to bring them to effect.
5 To thy ſalvation, Lord, for aid we cheerfully repair,
With banners in thy name diſplay'd, "The Lord accept thy pray'r."
6 Our hopes are fix'd, that now the Lord our ſov'reign will defend;
From heav'n reſiſtleſs aid afford, and to his pray'r attend.
7 Some truſt in ſteeds for war deſign'd, on chariots ſome rely;
Againſt them all we'll call to mind the pow'r of God moſt high.
8 But, from their ſteeds and chariots thrown, behold them through the plain,
Diſorder'd, broke, and trampled down, whilſt firm our troops remain.
9 Still ſave us, Lord, and ſtill proceed our rightful cauſe to bleſs;
Hear, King of heav'n, in times of need, the pray'rs that we addreſs.

PSALM XXI.

THE king, O Lord, with ſongs of praiſe ſhall in thy ſtrength rejoice;
With thy ſalvation crown'd, ſhall raiſe to heav'n his cheerful voice.
2 For thou, whate'er his lips requeſt, not only didſt impart;
But haſt with thy acceptance bleſt the wiſhes of his heart.
3 Thy goodneſs and thy tender care have all his hopes outgone;
A crown of gold thou mad'ſt him wear, and ſett'ſt it firmly on.
4 He pray'd for life, and thou, O Lord, didſt his ſhort ſpan extend;
And graciouſly to him afford a life that ne'er ſhall end.
5 Thy ſure defence through nations round has ſpread his glorious name;
And his ſucceſsful actions crown'd with majeſty and fame.
6 Eternal bleſſings thou beſtow'ſt, and mak'ſt his joys increaſe;
Whilſt thou to him unclouded ſhow'ſt the brightneſs of thy face.

The Second Part.

7 Becauſe the king on God alone for timely aid relies;
His mercy ſtill ſupports his throne, and all his wants ſupplies.
8 But, righteous Lord, thy ſtubborn foes ſhall feel thy heavy hand;
Thy vengeful arm ſhall find out thoſe that hate thy mild command.
9 When thou againſt them doſt engage, thy juſt but dreadful doom
Shall, like a glowing oven's rage, their hopes and them conſume.
10 Nor ſhall thy furious anger ceaſe, or with their ruin end;
But root out all their guilty race, and to their ſeed extend.
11 For all their thoughts were ſet on ill, their hearts on malice bent;
But thou, with watchful care, didſt ſtill the ill effects prevent.

12 In vain, by ſhameful flight, they'll try to 'ſcape thy dreadful might,
While thy ſwift darts ſhall faſter fly, and gall them in their flight.
13 Thus, Lord, thy wondrous ſtrength diſcloſe, and thus exalt thy fame;
Whilſt we glad ſongs of praiſe compoſe to thy Almighty Name.

PSALM XXII.

MY God, my God, why leav'ſt thou me when I with anguiſh faint?
O why ſo far from me remov'd, and from my loud complaint?
2 All day, but all the day unheard, to thee do I complain;
With cries implore relief all night, but cry all night in vain.
3 Yet thou art ſtill the righteous judge of innocence oppreſs'd;
And therefore Iſrael's praiſes are of right to thee addreſs'd.
4, 5 On thee our anceſtors rely'd, and thy deliv'rance found;
With pious confidence they pray'd, and with ſucceſs were crown'd.
6 But I am treated like a worm, like none of human birth;
Not only by the great revil'd, but made the rabble's mirth.
7 With laughter all the gazing crowd my agonies ſurvey;
They ſhoot the lip, they ſhake the head, and thus deriding ſay:
8 "In God he truſted, boaſting oft that he was Heav'n's delight;
"Let God come down to ſave him now, and own his favourite."

The Second Part.

9 Thou mad'ſt my teeming mother's womb a living offspring bear;
When but a ſuckling at the breaſt I was thy early care.
10 Thou, guardian-like, didſt ſhield from wrongs my helpleſs infant days;
And ſince haſt been my God and guide through life's bewilder'd ways.
11 Withdraw not then ſo far from me, when trouble is ſo nigh;
O ſend me help! thy help, on which I only can rely.
12 High pamper'd bulls, a frowning herd, from Baſan's foreſt met,
With ſtrength proportion'd to their rage, have me around beſet.
13 They gape on me, and ev'ry mouth a yawning grave appears;
The deſert lion's ſavage roar leſs dreadful is than their's.

The Third Part.

14 My blood like water's ſpill'd, my joints are rack'd and out of frame;
My heart diſſolves within my breaſt, like wax before the flame;
15 My ſtrength like potter's earth is parch'd, my tongue cleaves to my jaws;
And to the ſilent ſhades of death my fainting ſoul withdraws.
16 Like blood-hounds, to ſurround me, they in pack'd aſſemblies meet;
They pierc'd my inoffenſive hands, they pierc'd my harmleſs feet.
17 My body's rack'd, till all my bones diſtinctly may be told:
Yet ſuch a ſpectacle of woe as paſtime they behold.
18 As ſpoil, my garments they divide, lots for my veſture caſt:
19 Therefore approach, O Lord, my ſtrength, and to my ſuccour haſte.
20 From their ſharp ſword protect thou me, of all but life bereft!
Nor let my darling in the pow'r of cruel dogs be left.
21 To ſave me from the lion's jaws thy preſent ſuccour ſend;
As once, from goring unicorns thou didſt my life defend.
22 Then to my brethren I'll declare the triumphs of thy Name,
In preſence of aſſembled ſaints thy glory thus proclaim:
23 "Ye worſhippers of Jacob's God, all you of Iſrael's line,
"O praiſe the Lord, and to your praiſe ſincere obedience join.
24 "He ne'er diſdain'd on low diſtreſs to caſt a gracious eye;
"Nor turn'd from poverty his face, but hears its humble cry."

The Fourth Part.

25 Thus in thy ſacred courts will I my cheerful thanks expreſs;
In preſence of thy ſaints perform the vows of my diſtreſs.
26 The meek companions of my grief ſhall find my table ſpread;
And all that ſeek the Lord ſhall be with joys immortal fed.

27 Then ſhall the glad converted world to God their homage pay;
And ſcatter'd nations of the earth one ſov'reign Lord obey.
28 'Tis his ſupreme prerogative o'er ſubject kings to reign;
'Tis juſt that he ſhould rule the world, who does the world ſuſtain.

29 The rich, who are with plenty fed, his bounty muſt confeſs;
The ſons of want, by him reliev'd, their gen'rous patron bleſs.
With humble worſhip to his throne they all for aid reſort;
That pow'r, which firſt their beings gave, can only them ſupport.

30, 31 Then ſhall a choſen ſpotleſs race, devoted to his Name,
To their admiring heirs his truth and glorious acts proclaim.

PSALM XXIII.

THE Lord himſelf, the mighty Lord, vouchſafes to be my guide;
The ſhepherd, by whoſe conſtant care my wants are all ſupply'd.
2 In tender graſs he makes me feed, and gently there repoſe;
Then leads me to cool ſhades, and where refreſhing water flows.

3 He does my wand'ring ſoul reclaim, and, to his endleſs praiſe,
Inſtruct with humble zeal to walk in his moſt righteous ways.
4 I paſs the gloomy vale of death, from fear and danger free;
For there his aiding rod and ſtaff defend and comfort me.

5 In preſence of my ſpiteful foes he does my table ſpread,
He crowns my cup with cheerful wine, with oil anoints my head.
6 Since God does thus his wondrous love through all my life extend,
That life to him I will devote, and in his temple ſpend.

PSALM XXIV.

THIS ſpacious earth is all the Lord's, the Lord's her fulneſs is;
The world, and they that dwell therein, by ſov'reign right are his.
2 He fram'd and fix'd it on the ſeas, and his Almighty hand
Upon inconſtant floods has made the ſtable fabric ſtand.

3 But for himſelf this Lord of all one choſen ſeat deſign'd;
O! who ſhall to that ſacred hill deſir'd admittance find!
4 The man whoſe hands and heart are pure, whoſe thoughts from pride are free;
Who honeſt poverty prefers to gainful perjury.

5 This, this is he, on whom the Lord ſhall ſhow'r his bleſſings down,
Whom God his Saviour ſhall vouchſafe with righteouſneſs to crown.
6 Such is the race of ſaints, by whom the ſacred courts are trod;
And ſuch the proſelytes that ſeek the face of Jacob's God.

7 Erect your heads, eternal gates, unfold to entertain
The King of glory; ſee, he comes with his celeſtial train.
8 Who is this King of glory? who? the Lord for ſtrength renown'd;
In battle mighty, o'er his foes eternal victor crown'd.

9 Erect your heads, ye gates, unfold in ſtate to entertain
The King of glory; ſee, he comes with all his ſhining train.
10 Who is this King of glory? who? the Lord of hoſts renown'd;
Of glory he alone is king, who is with glory crown'd.

PSALM XXV.

TO God, in whom I truſt,
2 O let me not be put to ſhame,
3 Thoſe who on thee rely,
Be that the ſhameful lot of ſuch

4, 5 To me thy truth impart,
For thou art he that brings me help,
6 Thy mercies and thy love,
And graciouſly continue ſtill,

7 Let all my youthful crimes
And, for thy wondrous goodneſs' ſake,
8 His mercy and his truth
In bringing wand'ring ſinners home,

9 He thoſe in juſtice guides
And in his ſacred paths ſhall lead
10 Through all the ways of God
To ſuch as with religious hearts

I lift my heart and voice;
nor let my foes rejoice.
let no diſgrace attend;
as wilfully offend.

and lead me in thy way;
on thee I wait all day.
O Lord, recall to mind;
as thou wert ever, kind.

be blotted out by thee;
in mercy think on me.
the righteous Lord diſplays,
and teaching them his ways.

who his direction ſeek;
the humble and the meek.
both truth and mercy ſhine,
to his bleſt will incline.

The Second Part.

11 Since mercy is the grace
Forgive my heinous ſin, O Lord,
12 Whoe'er with humble fear
Shall find the Lord a faithful guide

13 His quiet ſoul with peace
And by his num'rous race the land
14 For God to all his ſaints
And does his gracious cov'nant write

15 To him I lift my eyes,
Who breaks the ſtrong and treach'rous ſnare, which for my feet was laid.
16 O turn, and all my griefs,
For I am compaſs'd round with woes,

17 The ſorrows of my heart
O from this dark and diſmal ſtate
18 Do thou with tender eyes
Acquit me, Lord, and from my guilt

19 Conſider, Lord, my foes,
What lawleſs force and rage they uſe,
20 Protect and ſet my ſoul
Nor let me be aſham'd, who place

21 Let all my righteous acts
Becauſe my firm and conſtant hope
22 To Iſrael's choſen race
And in the midſt of all their wants

that moſt exalts thy fame,
and ſo advance thy Name.
to God his duty pays,
in all his righteous ways.

ſhall be for ever bleſt,
ſucceſſively poſſeſt.
his ſecret will imparts,
in their obedient hearts.

and wait his timely aid,

in mercy, Lord, redreſs;
and plung'd in deep diſtreſs.

to mighty ſums increaſe;
my troubled ſoul releaſe.
my ſad afflictions ſee;
entirely ſet me free.

how vaſt their numbers grow;
what boundleſs hate they ſhow!
from their fierce malice free;
my ſteadfaſt truſt in thee.

to full perfection riſe,
on thee alone relies.
continue ever kind;
let them thy ſuccour find.

PSALM XXVI.

JUDGE me, O Lord, for I the paths
I cannot fail, who all my truſt
2, 3 Search, prove my heart, whoſe innocence will ſhine the more 'tis try'd;
For I have kept thy grace in view,

4 I never for companions took
No hypocrite, with all his arts,
5 I hate the buſy plotting crew,
And ſhun their wicked company,

of righteouſneſs have trod;
repoſe on thee, my God.

and made thy truth my guide.

the idle or profane;
could e'er my friendſhip gain.
who make diſtracted times;
as I avoid their crimes.

6 I'll wash my hands in innocence, and bring a heart so pure,
That when thy altar I approach, my welcome shall secure.
7, 8 My thanks I'll publish there, and tell how thy renown excels;
That seat affords me most delight, in which thy honour dwells.
9 Pass not on me the sinners' doom, who murder make their trade;
10 Who others' rights, by secret bribes, or open force invade.
11 But I will walk in paths of truth, and innocence pursue:
Protect me, therefore, and to me thy mercies, Lord, renew.
12 In spite of all assaulting foes I still maintain my ground;
And shall survive amongst thy saints, thy praises to resound.

PSALM XXVII.

WHOM should I fear, since God to me is saving health and light?
Since strongly he my life supports, what can my soul affright?
2 With fierce intent my flesh to tear, when foes beset me round,
They stumbled, and their lofty crests were made to strike the ground.
3 Through him my heart, undaunted, dares with num'rous hosts to cope;
Through him in doubtful straits of war, for good success I hope.
4 Henceforth within his house to dwell I earnestly desire,
His wondrous beauty there to view, and his blest will enquire.
5 For there may I with comfort rest, in times of deep distress;
And safe as on a rock abide, in that secure recess;
6 Whilst God o'er all my haughty foes my lofty head shall raise,
And I my joyful off'ring bring, and sing glad songs of praise.

The Second Part.

7 Continue, Lord, to hear my voice, whene'er to thee I cry;
In mercy all my pray'rs receive, nor my requests deny.
8 When us to seek thy glorious face thou kindly dost advise;
" Thy glorious face I'll always seek," my grateful heart replies.
9 Then hide not thou thy face, O Lord, nor me in wrath reject;
My God and Saviour, leave not him thou didst so oft protect.
10 Though all my friends and nearest kin their helpless charge forsake,
Yet thou, whose love excels them all, wilt care and pity take.
11 Instruct me in thy paths, O Lord, my ways directly guide;
Lest envious men, who watch my steps, should see me tread aside.
12 Lord, disappoint my cruel foes, defeat their ill desire,
Whose lying lips and bloody hands against my peace conspire.
13 I trusted that my future life should with thy love be crown'd,
Or else my fainting soul had sunk, with sorrow compass'd round.
14 God's time with patient faith expect, and he'll inspire thy breast
With inward strength; do thou thy part, and leave to him the rest.

PSALM XXVIII.

O Lord, my rock, to thee I cry, in sighs consume my breath;
O answer, or I shall become like those that sleep in death.
2 Regard my supplication, Lord, the cries that I repeat,
With weeping eyes and lifted hands before thy mercy seat.
3 Let me escape the sinners' doom, who make a trade of ill;
And ever speak the person fair, whose blood they mean to spill.
4 According to their crimes' extent let justice have its course:
Relentless be to them, as they have sinn'd without remorse.
5 Since they the works of God despise, nor will his grace adore;
His wrath shall utterly destroy, and build them up no more.

6 But I, with due acknowledgment, his praiſes will reſound,
From whom the cries of my diſtreſs a gracious anſwer found.
7 My heart its confidence repos'd in God, my ſtrength and ſhield;
In him I truſted, and return'd triumphant from the field.

As he hath made my joys complete, 'tis juſt that I ſhould raiſe
The cheerful tribute of my thanks, and thus reſound his praiſe:
8 "His aiding pow'r ſupports the troops that my juſt cauſe maintain:
"'Twas he advanc'd me to the throne, 'tis he ſecures my reign."

9 Preſerve thy choſen, and proceed thine heritage to bleſs;
With plenty proſper them in peace; in battle with ſucceſs.

PSALM XXIX.

YE princes that in might excel, your grateful ſacrifice prepare;
God's glorious actions loudly tell, his wondrous pow'r to all declare.
2 To his great Name freſh altars raiſe, devoutly due reſpect afford;
Him in his holy temple praiſe, where he's with ſolemn ſtate ador'd.

3 'Tis he that with amazing noiſe the wat'ry clouds in ſunder breaks;
The ocean trembles at his voice, when he from heav'n in thunder ſpeaks.
4, 5 How full of power his voice appears! with what majeſtic terror crown'd!
Which from their roots tall cedars tears, and ſtrews their ſcatter'd branches round.

6 They, and the hills on which they grow, are ſometimes hurried far away;
And leap like hinds that bounding go, or unicorns in youthful play.
7, 8 When God in thunder loudly ſpeaks, and ſcatter'd flames of lightning ſends,
The foreſt nods, the deſert quakes, and ſtubborn Kadeſh lowly bends.

9 He makes the hinds to caſt their young, and lays the beaſts' dark coverts bare;
While thoſe that to his courts belong ſecurely ſing his praiſes there.
10, 11 God rules the angry floods on high; his boundleſs ſway ſhall never ceaſe;
His people he'll with ſtrength ſupply, and bleſs his own with conſtant peace.

PSALM XXX.

I'LL celebrate thy praiſes, Lord, who didſt thy pow'r employ
To raiſe my drooping head, and check my foes' inſulting joy.
2, 3 In my diſtreſs I cry'd to thee, who kindly didſt relieve,
And from the grave's expecting jaws my hopeleſs life retrieve.

4 Thus to his courts, ye ſaints of his, with ſongs of praiſe repair;
With me commemorate his truth, and providential care.
5 His wrath has but a moment's reign, his favour no decay;
Your night of grief is recompens'd with joy's returning day.

6 But I in proſp'rous days preſum'd; no ſudden change I fear'd,
Whilſt in my ſunſhine of ſucceſs no low'ring cloud appear'd.
7 But ſoon I found thy favour, Lord, my empire's only truſt;
For when thou hid'ſt thy face, I ſaw my honour laid in duſt.

8 Then, as I vainly had preſum'd, my error I confeſs'd;
And thus, with ſupplicating voice, thy mercy's throne addreſs'd:
9 "What profit is there in my blood, congeal'd by death's cold night?
"Can ſilent aſhes ſpeak thy praiſe, thy wondrous truth recite?

10 "Hear me, O Lord; in mercy, hear: thy wonted aid extend;
"Do thou ſend help, on whom alone I can for help depend."
11 'Tis done! Thou haſt my mournful ſcene to ſongs and dances turn'd;
Inveſted me with robes of ſtate, who late in ſackcloth mourn'd.

12 Exalted thus, I'll gladly ſing thy praiſe in grateful verſe;
And, as thy favours endleſs are, thy endleſs praiſe rehearſe.

PSALM XXXI.

DEFEND me, Lord, from ſhame,
As juſt and righteous is thy Name,
for ſtill I truſt in thee;
from danger ſet me free.
2 Bow down thy gracious ear,
Do thou my ſteadfaſt rock appear,
and ſpeedy ſuccour ſend;
to ſhelter and defend.
3 Since thou, when foes oppreſs,
To guide me forth from this diſtreſs
my rock and fortreſs art,
thy wonted help impart.
4 Releaſe me from the ſnare
Since I, O God my ſtrength, repair
which they have cloſely laid,
to thee alone for aid.
5 To thee, the God of truth,
(For thou preſerv'dſt me from my youth,)
my life, and all that's mine,
I willingly reſign.
6 All vain deſigns I hate,
And ſtill my ſoul in every ſtate
of thoſe that truſt in lies;
to God for ſuccour flies.

The Second Part.

7 Thoſe mercies thou haſt ſhown
For thou haſt ſeen my ſtraits, and known
I'll cheerfully expreſs;
my ſoul in deep diſtreſs.
8 When Keilah's treach'rous race
Thou gav'ſt my feet a larger ſpace
did all my ſtrength encloſe,
to ſhun my watchful foes.
9 Thy mercy, Lord, diſplay,
For both my ſoul and fleſh decay,
and hear my juſt complaint;
with grief and hunger faint.
10 Sad thoughts my life oppreſs;
My ſins have made my ſtrength decreaſe,
my years are ſpent in groans;
and e'en conſum'd my bones.
11 My foes my ſuff'rings mock'd;
My friends, at ſight of me, were ſhock'd,
my neighbours did upbraid;
and fled as men diſmay'd.
12 Forſook by all am I,
And like a ſhatter'd veſſel lie,
as dead and out of mind;
whoſe parts can ne'er be join'd.
13 Yet ſland'ring words they ſpeak,
Whilſt they together counſel take
and ſeem my pow'r to dread;
my guiltleſs blood to ſhed.
14 But ſtill my ſteadfaſt truſt
That thou, my God, art good and juſt,
I on thy help repoſe;
my ſoul with comfort knows.

The Third Part.

15 Whate'er events betide,
Then, Lord, thy ſervant ſafely hide
thy wiſdom times them all:
from thoſe that ſeek his fall.
16 The brightneſs of thy face
And, as thy mercies ſtill increaſe,
to me, O Lord, diſcloſe;
preſerve me from my foes.
17 Me from diſhonour ſave,
Let that, and ſilence in the grave,
who ſtill have call'd on thee;
the ſinner's portion be.
18 Do thou their tongues reſtrain,
Who falſe reports, with proud diſdain,
whoſe breath in lies is ſpent;
againſt the righteous vent.
19 How great thy mercies are
Which thou, for thoſe that truſt thy care,
to ſuch as fear thy Name,
doſt to the world proclaim!
20 Thou keep'ſt them in thy ſight,
From tongues that do in ſtriſe delight
from proud oppreſſors free;
they are preſerv'd by thee.
21 With glory and renown
Whoſe love in Keilah's well-fenc'd town
God's Name be ever bleſs'd;
was wondrouſly expreſs'd!
22 I ſaid, in haſty flight,
Yet ſtill thou kept'ſt me in thy ſight,
"I'm baniſh'd from thine eyes!"
and heard'ſt my earneſt cries.
23 O all ye ſaints, the Lord
Who to the juſt will help afford,
with eager love purſue;
and give the proud their due.
24 Ye that on God rely,
For he will ſtill your hearts ſupply
courageouſly proceed:
with ſtrength in time of need.

PSALM XXXII.

HE's bleſs'd whoſe ſins have pardon gain'd, no more in judgment to appear;
2 Whoſe guilt remiſſion has obtain'd, and whoſe repentance is ſincere.
3 While I conceal'd the fretting ſore, my bones conſum'd without relief;
All day did I with anguiſh roar, but no complaint aſſwag'd my grief.
4 Heavy on me thy hand remain'd, by day and night alike diſtreſs'd;
Till quite of vital moiſture drain'd, like land with ſummer's drought oppreſs'd.
5 No ſooner I my wound diſclos'd, the guilt that tortur'd me within,
But thy forgiveneſs interpos'd, and mercy's healing balm pour'd in.
6 True penitents ſhall thus ſucceed, who ſeek thee whilſt thou may'ſt be found;
And, from the common deluge freed, ſhall ſee remorſeleſs ſinners drown'd.
7 Thy favour, Lord, in all diſtreſs, my tow'r of refuge I muſt own;
Thou ſhalt my haughty foes ſuppreſs, and me with ſongs of triumph crown.
8 In my inſtruction then confide, you that would truth's ſafe path deſcry;
Your progreſs I'll ſecurely guide, and keep you in my watchful eye.
9 Submit yourſelves to wiſdom's rule, like men that reaſon have attain'd;
Not like th' ungovern'd horſe and mule, whoſe fury muſt be curb'd and rein'd.
10 Sorrows on ſorrows multiply'd the harden'd ſinner ſhall confound,
But them who in his truth confide, bleſſings of mercy ſhall ſurround.
11 His ſaints that have perform'd his laws their life in triumph ſhall employ;
Let them, as they alone have cauſe, in grateful raptures ſhout for joy.

PSALM XXXIII.

LET all the juſt to God with joy their cheerful voices raiſe,
For well the righteous it becomes to ſing glad ſongs of praiſe.
2, 3 Let harps, and pſalteries, and lutes in joyful concert meet,
And new-made ſongs of loud applauſe the harmony complete.
4, 5 For faithful is the word of God, his works with truth abound;
He juſtice loves, and all the earth is with his goodneſs crown'd.
6 By his Almighty word at firſt heav'n's glorious arch was rear'd,
And all the beauteous hoſts of light at his command appear'd.
7 The ſwelling floods, together roll'd, he makes in heaps to lie;
And lays, as in a ſtorehouſe ſafe, the wat'ry treaſures by.
8, 9 Let earth and all that dwell therein before him trembling ſtand;
For when he ſpake the word 'twas made, 'twas fix'd at his command.
10 He, when the heathen cloſely plot, their counſels undermines,
His wiſdom ineffectual makes the people's raſh deſigns.
11 Whate'er the mighty Lord decrees ſhall ſtand for ever ſure;
The ſettled purpoſe of his heart to ages ſhall endure.

The Second Part.

12 How happy then are they, to whom the Lord for God is known!
Whom he from all the world beſides has choſen for his own!
13, 14, 15 He all the nations of the earth from heav'n, his throne, ſurvey'd;
He ſaw their works, and view'd their thoughts, by him their hearts were made.
16, 17 No king is ſafe by num'rous hoſts, their ſtrength the ſtrong deceives;
No manag'd horſe, by force or ſpeed, his warlike rider ſaves.
18, 19 'Tis God, who thoſe that truſt in him beholds with gracious eyes;
He frees their ſoul from death, their want in time of dearth ſupplies.
20, 21 Our ſoul on God with patience waits, our help and ſhield is he;
Then, Lord, let ſtill our hearts rejoice, becauſe we truſt in thee.
22 The riches of thy mercy, Lord, do thou to us extend;
Since we for all we want or wiſh on thee alone depend.

PSALM XXXIV.

THRO' all the changing ſcenes of life, in trouble and in joy,
The praiſes of my God ſhall ſtill my heart and tongue employ.
2 Of his deliv'rance I will boaſt, till all that are diſtreſt,
From my example comfort take, and charm their griefs to reſt.
3 O magnify the Lord with me, with me exalt his Name;
4 When in diſtreſs to him I call'd, he to my reſcue came.
5 Their drooping hearts were ſoon refreſh'd, who look'd to him for aid;
Deſir'd ſucceſs in ev'ry face a cheerful air diſplay'd.
6 "Behold," ſay they, "behold the man whom Providence reliev'd;
"So dang'rouſly with woes beſet, ſo wondrouſly retriev'd."
7 The hoſts of God encamp around the dwellings of the juſt;
Deliv'rance he affords to all who on his ſuccour truſt.
8 O make but trial of his love, experience will decide,
How bleſs'd they are, and only they, who in his truth confide.
9 Fear him, ye ſaints, and you will then have nothing elſe to fear;
Make you his ſervice your delight, your wants ſhall be his care.
10 While hungry lions lack their prey, the Lord will food provide
For ſuch as put their truſt in him, and ſee their wants ſupply'd.

The Second Part.

11 Approach, ye piouſly diſpos'd, and my inſtruction hear:
I'll teach you the true diſcipline of his religious fear.
12 Let him, who length of life deſires, and proſp'rous days would ſee,
13 From ſland'ring language keep his tongue, his lips from falſehood free.
14 The crooked paths of vice decline, and virtue's ways purſue;
Eſtabliſh peace where 'tis begun, and where 'tis loſt renew.
15 The Lord from heav'n beholds the juſt with favourable eyes;
And, when diſtreſs'd, his gracious ear is open to their cries:
16 But turns his wrathful look on thoſe, whom mercy can't reclaim,
To cut them off, and from the earth blot out their hated name.
17 Deliv'rance to his ſaints he gives, when his relief they crave;
18 He's nigh to heal the broken heart, and contrite ſpirit ſave.
19 The wicked oft, but ſtill in vain, againſt the juſt conſpire;
20 For under their affliction's weight he keeps their bones entire.
21 The wicked from their wicked arts their ruin ſhall derive;
Whilſt righteous men, whom they deteſt, ſhall them and theirs ſurvive.
22 For God preſerves the ſouls of thoſe who on his truth depend,
To them and their poſterity his bleſſings ſhall deſcend.

PSALM XXXV.

AGAINST all thoſe that ſtrive with me, O Lord, aſſert my right;
With ſuch as war unjuſtly wage do thou my battles fight.
2 Thy buckler take, and bind thy ſhield upon thy warlike arm;
Stand up, my God, in my defence, and keep me ſafe from harm.
3 Bring forth thy ſpear, and ſtop their courſe, that haſte my blood to ſpill;
Say to my ſoul, "I am thy health, and will preſerve thee ſtill."
4 Let them with ſhame be cover'd o'er, who my deſtruction ſought;
And ſuch as did my harm deviſe be to confuſion brought.
5 Then ſhall they fly, diſpers'd like chaff before the driving wind;
God's vengeful miniſter of wrath ſhall follow cloſe behind.

6 And when through dark and slipp'ry ways they strive his rage to shun,
His vengeful ministers of wrath shall goad them as they run.
7 Since, unprovok'd by any wrong, they hid their treach'rous snare;
And for my harmless soul a pit did without cause prepare.
8 Surpris'd by mischiefs unforeseen, by their own arts betray'd;
Their feet shall fall into the net which they for me had laid.
9 Whilst my glad soul shall God's great Name for this deliv'rance bless,
And, by his saving health secur'd, its grateful joy express;
10 My very bones shall say, O Lord, who can compare with thee,
Who sett'st the poor and helpless man from strong oppressors free?

The Second Part.

11 False witnesses, with forg'd complaints, against my truth combin'd;
And to my charge such things they laid as I had ne'er design'd.
12 The good which I to them had done, with evil they repaid;
And did, by malice undeserv'd, my harmless life invade.
13 But as for me, when they were sick, I still in sackcloth mourn'd;
I pray'd and fasted, and my pray'r to my own breast return'd.
14 Had they my friends or brethren been, I could have done no more;
Nor with more decent signs of grief a mother's loss deplore.
15 How diff'rent did their carriage prove in times of my distress;
When they, in crowds together met, did savage joy express.
The rabble too, in num'rous throngs, by their example came,
And ceas'd not, with reviling words, to wound my spotless fame.
16 Scoffers, that noble tables haunt, and earn their bread with lies,
Did gnash their teeth, and stand'ring jests maliciously devise.
17 But, Lord, how long wilt thou look on? on my behalf appear:
And save my guiltless soul, which they, like rav'ning beasts, would tear.

The Third Part.

18 So I, before the list'ning world, shall grateful thanks express;
And, where the great assembly meets, thy Name with praises bless.
19 Lord, suffer not my causeless foes, who me unjustly hate,
With open joy, or secret signs, to mock my sad estate.
20 For they, with hearts averse from peace, industriously devise
Against the men of quiet minds to forge malicious lies.
21 Nor with these private arts content, aloud they vent their spite;
And say, "At last we found him out, he did it in our sight."
22 But thou, who dost both them and me with righteous eyes survey,
Assert my innocence, O Lord, and keep not far away.
23 Stir up thyself in my behalf; to judgment, Lord, awake;
Thy righteous servant's cause, O God, to thy decision take.
24 Lord, as my heart has upright been, let me thy justice find;
Nor let my cruel foes obtain the triumph they design'd.
25 O let them not amongst themselves in boasting language say,
"At length our wishes are complete, at last he's made our prey."
26 Let such as in my harm rejoic'd for shame their faces hide;
And foul dishonour wait on those that proudly me defy'd.
27 Whilst they with cheerful voices shout, who my just cause befriend;
And bless the Lord, who loves to make success his saints attend.
28 So shall my tongue thy judgments sing, inspir'd with grateful joy;
And cheerful hymns in praise of thee shall all my days employ.

PSALM XXXVI.

MY crafty foe, with flatt'ring art, his wicked purpoſe would diſguiſe;
But reaſon whiſpers to my heart, he ne'er ſets God before his eyes.
2 He ſoothes himſelf, retir'd from ſight, ſecure he thinks his treach'rous game;
Till his dark plots, expos'd to light, their falſe contriver brand with ſhame.
3 In deeds he is my foe confeſt, whilſt with his tongue he ſpeaks me fair;
True wiſdom's baniſh'd from his breaſt, and vice has ſole dominion there.
4 His wakeful malice ſpends the night in forging his accurs'd deſigns;
His obſtinate ungen'rous ſpite no execrable means declines.
5 But, Lord, thy mercy, my ſure hope, above the heav'nly orb aſcends;
Thy ſacred truth's unmeaſur'd ſcope beyond the ſpreading ſky extends.
6 Thy juſtice, like the hills, remains; unfathom'd depths thy judgments are;
Thy providence the world ſuſtains; the whole creation is thy care.
7 Since of thy goodneſs all partake, with what aſſurance ſhould the juſt
Thy ſhelt'ring wings their refuge make, and ſaints to thy protection truſt.
8 Such gueſts ſhall to thy courts be led to banquet on thy love's repaſt;
And drink, as from a fountain's head, of joys that ſhall for ever laſt.
9 With thee the ſprings of life remain; thy preſence is eternal day:
10 O! let thy ſaints thy favour gain; to upright hearts thy truth diſplay.
11 Whilſt pride's inſulting foot would ſpurn, and wicked hands my life ſurpriſe;
12 Their miſchiefs on themſelves return; down, down they're fall'n, no more to riſe.

PSALM XXXVII.

THO' wicked men grow rich or great, yet let not their ſucceſsful ſtate
Thy anger or thy envy raiſe:
2 For they, cut down like tender graſs, or like young flow'rs, away ſhall paſs,
Whoſe blooming beauty ſoon decays.
3 Depend on God, and him obey; ſo thou within the land ſhalt ſtay,
Secure from danger and from want:
4 Make his commands thy chief delight; and he, thy duty to requite,
Shall all thy earneſt wiſhes grant.
5 In all thy ways truſt thou the Lord, and he will needful help afford
To perfect ev'ry juſt deſign:
6 He'll make, like light, ſerene and clear, thy clouded innocence appear,
And as a midday ſun to ſhine.
7 With quiet mind on God depend, and patiently for him attend;
Nor let thy anger fondly riſe:
Though wicked men with wealth abound, and with ſucceſs the plots are crown'd,
Which they maliciouſly deviſe.
8 From anger ceaſe, and wrath forſake; let no ungovern'd paſſion make
Thy wav'ring heart eſpouſe their crime:
9 For God ſhall ſinful men deſtroy; whilſt only they the land enjoy,
Who truſt on him, and wait his time.
10 How ſoon ſhall wicked men decay! their place ſhall vaniſh quite away,
Nor by the ſtricteſt ſearch be found;
11 Whilſt humble ſouls poſſeſs the earth, rejoicing ſtill with godly mirth,
With peace and plenty always crown'd.

The Second Part.

12 While ſinful crowds, with falſe deſign, againſt the righteous few combine,
And gnaſh their teeth and threat'ning ſtand;
13 God ſhall their empty plots deride, and laugh at their defeated pride;
He ſees their ruin near at hand.

14 They draw the ſword, and bend the bow, the poor and needy to o'erthrow,
And men of upright lives to ſlay;
15 But their ſtrong bows ſhall ſoon be broke, their ſharpen'd weapon's mortal ſtroke
Through their own hearts ſhall force its way.
16 A little, with God's favour bleſt, that's by one righteous man poſſeſs'd,
The wealth of many bad excels:
17 For God ſupports the juſt man's cauſe, but as for thoſe that break his laws,
Their unſucceſsful pow'r he quells.
18 His conſtant care the upright guides, and over all their life preſides;
Their portion ſhall for ever laſt:
19 They, when diſtreſs o'erwhelms the earth, ſhall be unmov'd, and e'en in dearth
The happy fruits of plenty taſte.
20 Not ſo the wicked men, and thoſe who proudly dare God's will oppoſe;
Deſtruction is their hapleſs ſhare:
Like fat of lambs, their hopes and they ſhall in an inſtant melt away,
And vaniſh into ſmoke and air.

The Third Part.

21 While ſinners, brought to ſad decay, ſtill borrow on and never pay,
The juſt have will and pow'r to give;
22 For ſuch as God vouchſafes to bleſs, ſhall peaceably the earth poſſeſs,
And thoſe he curſes ſhall not live.
23 The good man's way is God's delight, he orders all the ſteps aright
Of him that moves by his command;
24 Though he ſometimes may be diſtreſs'd, yet ſhall he ne'er be quite oppreſs'd,
For God upholds him with his hand.
25 From my firſt youth, till age prevail'd, I never ſaw the righteous fail'd,
Or want o'ertake his num'rous race;
26 Becauſe compaſſion fill'd his heart, and he did cheerfully impart,
God made his offspring's wealth increaſe.
27 With caution ſhun each wicked deed, in virtue's ways with zeal proceed,
And ſo prolong your happy days:
28 For God, who judgment loves, does ſtill preſerve his ſaints ſecure from ill,
While ſoon the wicked race decays.
29, 30, 31 The upright ſhall poſſeſs the land, his portion ſhall for ages ſtand;
His mouth with wiſdom is ſupply'd;
His tongue by rules of judgment moves, his heart the law of God approves,
Therefore his footſteps never ſlide.

The Fourth Part.

32 In wait the watchful ſinner lies, in vain the righteous to ſurpriſe;
In vain his ruin doth decree:
33 God will not him defenceleſs leave, to his revenge expos'd, but ſave;
And, when he's ſentenc'd, ſet him free.
34 Wait ſtill on God, keep his command, and thou, exalted in the land,
Thy bleſs'd poſſeſſion ne'er ſhall quit:
The wicked ſoon deſtroy'd ſhall be, and, at his diſmal tragedy,
Thou ſhalt a ſafe ſpectator ſit.
35 The wicked I in pow'r have ſeen, and like a bay tree, freſh and green,
That ſpreads its pleaſant branches round;
36 But he was gone as ſwift as thought, and, though in every place I ſought,
No ſign or track of him I found.

37 Obſerve the perfect man with care, and mark all ſuch as upright are;
Their roughest days in peace ſhall end:
38 While on the latter end of thoſe, who dare God's ſacred will oppoſe,
A common ruin ſhall attend.
39 God to the juſt will aid afford, their only ſafeguard is the Lord;
Their ſtrength in time of need is he:
40 Becauſe on him they ſtill depend, the Lord will timely ſuccour ſend,
And from the wicked ſet them free.

PSALM XXXVIII.

THY chaſt'ning wrath, O Lord, reſtrain, though I deſerve it all;
Nor let at once on me the ſtorm of thy diſpleaſure fall.
2 In ev'ry wretched part of me thy arrows deep remain;
Thy heavy hand's afflicting weight I can no more ſuſtain.
3 My fleſh is one continued wound, thy wrath ſo fiercely glows,
Betwixt my puniſhment and guilt my bones have no repoſe.
4 My ſins, that to a deluge ſwell, my ſinking head o'erflow,
And for my feeble ſtrength to bear too vaſt a burden grow.
5 Stench and corruption fill my wounds, my folly's juſt return;
6 With trouble I am warp'd and bow'd, and all day long I mourn.
7 A loath'd diſeaſe afflicts my loins, infecting ev'ry part;
8 With ſickneſs worn, I groan and roar, through anguiſh of my heart.

The Second Part.

9 But, Lord, before thy ſearching eyes all my deſires appear;
And ſure my groans have been too loud not to have reach'd thine ear.
10 My heart's oppreſt, my ſtrength's decay'd, my eyes depriv'd of light;
11 Friends, lovers, kinſmen, gaze aloof on ſuch a diſmal ſight.
12 Meanwhile the foes that ſeek my life, their ſnares to take me ſet;
Vent ſlanders, and contrive all day to forge ſome new deceit.
13 But I, as if both deaf and dumb, nor heard, nor once reply'd;
14 Quite deaf and dumb, like one whoſe tongue with conſcious guilt is ty'd.
15 For, Lord, to thee I do appeal, my innocence to clear;
Aſſur'd that thou, the righteous God, my injur'd cauſe wilt hear.
16 "Hear me," ſaid I, "leſt my proud foes a ſpiteful joy diſplay,
"Inſulting if they ſee my foot but once to go aſtray."
17 And, with continual grief oppreſt, to ſink I now begin:
18 To thee, O Lord, I will confeſs, to thee bewail my ſin.
19 But whilſt I languiſh, my proud foes their ſtrength and vigour boaſt;
And they that hate me without cauſe are grown a dreadful hoſt.
20 E'en they, whom I oblig'd, return my kindneſs with deſpite;
And are my enemies, becauſe I chooſe the path that's right.
21 Forſake me not, O Lord my God, nor far from me depart;
22 Make haſte to my relief, O thou, who my ſalvation art.

PSALM XXXIX.

RESOLV'D to watch o'er all my ways, I kept my tongue in awe;
I curb'd my haſty words when I the wicked proſp'rous ſaw.
2 Like one that's dumb I ſilent ſtood, and did my tongue refrain
From good diſcourſe; but that reſtraint increas'd my inward pain.
3 My heart did glow, which working thoughts did hot and reſtleſs make;
And warm reflections fann'd the fire, till thus at length I ſpake:
4 Lord, let me know my term of days, how ſoon my life will end;
The num'rous train of ills diſcloſe, which this frail ſtate attend.

5 My life, thou know'ſt, is but a ſpan, a cypher ſums my years;
And ev'ry man, in beſt eſtate, but vanity appears.
6 Man like a ſhadow vainly walks, with fruitleſs cares oppreſs'd;
He heaps up wealth, but cannot tell by whom 'twill be poſſeſs'd.
7 Why then ſhould I on worthleſs toys with anxious care attend?
On thee alone my ſteadfaſt hope ſhall ever, Lord, depend.
8, 9 Forgive my ſins, nor let me ſcorn'd by fooliſh ſinners be;
For I was dumb, and murmur'd not, becauſe 'twas done by thee.
10 The dreadful burden of thy wrath in mercy ſoon remove;
Leſt my frail fleſh too weak to bear the heavy load ſhould prove.
11 For when thou chaſt'neſt man for ſin thou mak'ſt his beauty fade,
(So vain a thing is he,) like cloth by fretting moths decay'd.
12 Lord, hear my cry, accept my tears, and liſten to my pray'r;
Who ſojourn like a ſtranger here, as all my fathers were.
13 O ſpare me yet a little time, my waſted ſtrength reſtore;
Before I vaniſh quite from hence, and ſhall be ſeen no more.

PSALM XL.

I Waited meekly for the Lord, till he vouchſaf'd a kind reply;
Who did his gracious ear afford, and heard from heav'n my humble cry.
2 He took me from the diſmal pit, when founder'd deep in miry clay;
On ſolid ground he plac'd my feet, and ſuffer'd not my ſteps to ſtray.
3 The wonders he for me has wrought ſhall fill my mouth with ſongs of praiſe;
And others, to his worſhip brought, to hopes of like deliv'rance raiſe.
4 For bleſſings ſhall that man reward, who on th' Almighty Lord relies;
Who treats the proud with diſregard, and hates the hypocrite's diſguiſe.
5 Who can the wondrous works recount, which thou, O God, for us haſt wrought!
The treaſures of thy love ſurmount the pow'r of numbers, ſpeech, and thought.
6 I've learnt, that thou haſt not deſir'd off'rings and ſacrifice alone;
Nor blood of guiltleſs beaſts requir'd for man's tranſgreſſion to atone.
7 I therefore come—come to fulfil the oracles thy books impart:
8 'Tis my delight to do thy will; thy law is written in my heart.

The Second Part.

9 In full aſſemblies I have told thy truth and righteouſneſs at large;
Nor did, thou know'ſt, my lips withhold from utt'ring what thou gav'ſt in charge.
10 Nor kept within my breaſt confin'd thy faithfulneſs and ſaving grace;
But preach'd thy love, for all deſign'd, that all might that and truth embrace.
11 Then let thoſe mercies I declar'd to others, Lord, extend to me;
Thy lovingkindneſs my reward, thy truth my ſafe protection be.
12 For I with troubles am diſtreſs'd, too vaſt and numberleſs to bear;
Nor leſs with loads of guilt oppreſs'd, that plunge and ſink me to deſpair.
13 As ſoon, alas! may I recount the hairs on this afflicted head:
My vanquiſh'd courage they ſurmount, and fill my drooping ſoul with dread.

The Third Part.

14 But, Lord, to my relief draw near, for never was more preſſing need!
In my deliv'rance, Lord, appear, and add to that deliv'rance ſpeed.
15 Confuſion on their heads return, who to deſtroy my ſoul combine;
Let them, defeated, bluſh and mourn, enſnar'd in their own vile deſign.
16 Their doom let deſolation be, with ſhame their malice be repaid,
Who mock'd my confidence in thee, and ſport of my affliction made:

17 While thoſe, who humbly ſeek thy face, to joyful triumphs ſhall be rais'd;
And all who prize thy ſaving grace with me reſound, The Lord be prais'd.
18 Thus, wretched though I am and poor, of me th' Almighty Lord takes care;
Thou, God, who only can'ſt reſtore, to my relief with ſpeed repair.

PSALM XLI.

HAPPY the man whoſe tender care relieves the poor diſtreſt:
When he's by trouble compaſs'd round the Lord ſhall give him reſt.
2 The Lord his life, with bleſſings crown'd, in ſafety ſhall prolong;
And diſappoint the will of thoſe that ſeek to do him wrong.
3 If he in languiſhing eſtate, oppreſs'd with ſickneſs lie;
The Lord will eaſy make his bed, and inward ſtrength ſupply.
4 Secure of this, to thee, my God, I thus my pray'r addreſs'd:
"Lord, for thy mercy, heal my ſoul, though I have much tranſgreſs'd."
5 My cruel foes, with ſland'rous words, attempt to wound my fame;
"When ſhall he die, (ſay they,) and men forget his very name?"
6 Suppoſe they formal viſits make, 'tis all but empty ſhow,
They gather miſchief in their hearts, and vent it where they go.
7, 8 With private whiſpers ſuch as theſe, to hurt me they deviſe:
"A ſore diſeaſe afflicts him now, he's fall'n no more to riſe."
9 My own familiar boſom friend, on whom I moſt rely'd,
Has me, whoſe daily gueſt he was, with open ſcorn defy'd.
10 But thou my ſad and wretched ſtate in mercy, Lord, regard;
And raiſe me up, that all their crimes may meet their juſt reward.
11 By this I know thy gracious ear is open when I call;
Becauſe thou ſuffer'ſt not my foes to triumph in my fall.
12 Thy tender care ſecures my life from danger and diſgrace;
And thou vouchſaf'ſt to ſet me ſtill before thy glorious face.
13 Let therefore Iſrael's Lord and God from age to age be bleſs'd;
And all the people's glad applauſe with loud Amens expreſs'd.

PSALM XLII.

AS pants the hart for cooling ſtreams, when heated in the chaſe;
So longs my ſoul, O God, for thee, and thy refreſhing grace.
2 For thee, my God, the living God, my thirſty ſoul doth pine:
O! when ſhall I behold thy face, thou Majeſty divine?
3 Tears are my conſtant food, while thus inſulting foes upbraid:
"Deluded wretch! where's now thy God? and where his promis'd aid?
4 I ſigh whene'er my muſing thoughts thoſe happy days preſent,
When I with troops of pious friends thy temple did frequent:
When I advanc'd with ſongs of praiſe my ſolemn vows to pay,
And led the joyful ſacred throng, that kept the feſtal day.
5 Why reſtleſs, why caſt down, my ſoul, truſt God, and he'll employ
His aid for thee, and change theſe ſighs to thankful hymns of joy.
6 My ſoul's caſt down, O God, but thinks on thee and Sion ſtill;
From Jordan's bank, from Hermon's heights, and Miſſar's humbler hill.
7 One trouble calls another on, and burſting o'er my head,
Fall ſpouting down, till round my ſoul a roaring ſea is ſpread.
8 But when thy preſence, Lord of life, has once diſpell'd this ſtorm,
To thee I'll midnight anthems ſing, and all my vows perform.
9 God of my ſtrength, how long ſhall I, like one forgotten, mourn?
Forlorn, forſaken, and expos'd to my oppreſſor's ſcorn.

10 My heart is pierc'd, as with a ſword, whilſt thus my foes upbraid,
"Vain boaſter, where is now thy God? and where his promis'd aid?
11 Why reſtleſs, why caſt down, my ſoul? hope ſtill, and thou ſhalt ſing
The praiſe of him who is thy God, thy health's eternal ſpring.

PSALM XLIII.

JUST Judge of heav'n, againſt my foes do thou aſſert my injur'd right;
O ſet me free, my God, from thoſe that in deceit and wrong delight.
2 Since thou art ſtill my only ſtay, why leav'ſt thou me in deep diſtreſs?
Why go I mourning all the day, whilſt me inſulting foes oppreſs?
3 Let me with light and truth be bleſt, be theſe my guides, and lead the way,
Till on thy holy hill I reſt, and in thy ſacred temple pray.
4 Then will I there freſh altars raiſe to God, who is my only joy;
And well-tun'd harps, with ſongs of praiſe, ſhall all my grateful hours employ.
5 Why then caſt down, my ſoul? and why ſo much oppreſt with anxious care?
On God, thy God, for aid rely, who will thy ruin'd ſtate repair.

PSALM XLIV.

O Lord, our fathers oft have told in our attentive ears,
Thy wonders in their days perform'd, and elder times than theirs:
2 How thou, to plant them here, didſt drive the heathen from this land;
Diſpeopled by repeated ſtrokes of thy avenging hand.
3 For, not their courage, nor their ſword, to them poſſeſſion gave;
Nor ſtrength, that from unequal force their fainting troops could ſave:
But thy right hand and pow'rful arm, whoſe ſuccour they implor'd;
Thy preſence with the choſen race, who thy great Name ador'd.
4 As thee their God our fathers own'd, thou art our ſov'reign King;
O therefore, as thou didſt to them, to us deliv'rance bring.
5 Through thy victorious Name our arms the proudeſt foes ſhall quell,
And cruſh them with repeated ſtrokes, as oft as they rebel.
6 I'll neither truſt my bow nor ſword, when I in fight engage;
7 But thee, who haſt our foes ſubdu'd, and ſham'd their ſpiteful rage.
8 To thee the triumph we aſcribe, from whom the conqueſt came;
In God we will rejoice all day, and ever bleſs his Name.

The Second Part.

9 But thou haſt caſt us off, and now moſt ſhamefully we yield;
For thou no more vouchſaf'ſt to lead our armies to the field.
10 Since when, to ev'ry upſtart foe we turn our backs in fight;
And with our ſpoil their malice feaſt, who bear us ancient ſpite.
11 To ſlaughter doom'd, we fall, like ſheep, into their butch'ring hands;
Or (what's more wretched yet) ſurvive, diſpers'd through heathen lands.
12 Thy people thou haſt ſold for ſlaves, and ſet their price ſo low,
That not thy treaſure by the ſale, but their diſgrace might grow.
13, 14 Reproach'd by all the nations round, the heathen's byword grown,
Whoſe ſcorn of us is both in ſpeech and mocking geſtures ſhown.
15 Confuſion ſtrikes me blind, my face in conſcious ſhame I hide,
16 While we are ſcoff'd, and God blaſphem'd, by their licentious pride.

The Third Part.

17 On us this heap of woes is fall'n, all this we have endur'd;
Yet have not, Lord, renounc'd thy Name, or faith to thee abjur'd.
18 But in thy righteous paths have kept our hearts and ſteps with care;
19 Though thou haſt broken all our ſtrength, and we almoſt deſpair.

20 Could we, forgetting thy great Name, on other gods rely,
21 And not the Searcher of all hearts the treach'rous crime deſcry?
22 Thou ſeeſt what ſuff'rings for thy ſake we every day ſuſtain;
All ſlaughter'd, or reſerv'd like ſheep appointed to be ſlain.
23 Awake, ariſe; let ſeeming ſleep no longer thee detain;
Nor let us, Lord, who ſue to thee, for ever ſue in vain.
24 O wherefore hideſt thou thy face, from our afflicted ſtate?
25 Whoſe ſouls and bodies ſink to earth, with grief's oppreſſive weight.
26 Ariſe, O Lord, and timely haſte to our deliv'rance make;
Redeem us, Lord,—if not for ours, yet for thy mercy's ſake.

PSALM XLV.

WHILE I the King's loud praiſe rehearſe, indited by my heart,
My tongue is like the pen of him that writes with ready art.
2 How matchleſs is thy form, O King! thy mouth with grace o'erflows;
Becauſe freſh bleſſings God on thee eternally beſtows.
3 Gird on thy ſword, moſt mighty prince; and, clad in rich array,
With glorious ornaments of pow'r majeſtic pomp diſplay.
4 Ride on in ſtate, and ſtill protect the meek, the juſt, and true;
Whilſt thy right hand with ſwift revenge does all thy foes purſue.
5 How ſharp thy weapons are to them, that dare thy pow'r deſpiſe!
Down, down they fall, while through their heart the feather'd arrow flies.
6 But thy firm throne, O God, is fix'd for ever to endure;
Thy ſceptre's ſway ſhall always laſt, by righteous laws ſecure.
7 Becauſe thy heart, by juſtice led, did upright ways approve,
And hated ſtill the crooked paths where wand'ring ſinners rove:
Therefore did God, thy God, on thee the oil of gladneſs ſhed;
And hath above thy fellows round, advanc'd thy lofty head.
8 With caſſia, aloes, and myrrh, thy royal robes abound;
Which, from the ſtately wardrobe brought, ſpread grateful odours round.
9 Among the honourable train did princely virgins wait;
The queen was plac'd at thy right hand in golden robes of ſtate.

The Second Part.

10 But thou, O royal bride, give ear, and to my words attend;
Forget thy native country now, and ev'ry former friend.
11 So ſhall thy beauty charm the King; nor ſhall his love decay:
For he is now become thy Lord; to him due rev'rence pay.
12 The Tyrian matrons, rich and proud, ſhall humble preſents make;
And all the wealthy nations ſue thy favour to partake.
13 The King's fair daughter's beauteous ſoul all inward graces fill;
Her raiment is of pureſt gold, adorn'd with coſtly ſkill.
14 She, in her nuptial garments dreſt, with needles richly wrought,
Attended by her virgin train, ſhall to the King be brought.
15 With all the ſtate of ſolemn joy the triumph moves along,
Till with wide gates the royal court receives the pompous throng.
16 Thou, in thy royal father's room, muſt princely ſons expect;
Whom thou to diff'rent realms may'ſt ſend to govern and protect.
17 Whilſt this my ſong to future times tranſmits thy glorious Name;
And makes the world, with one conſent, thy laſting praiſe proclaim.

PSALM XLVI.

GOD is our refuge in diſtreſs, a preſent help when dangers preſs;
In him undaunted we'll confide:
2, 3 Though earth were from her centre toſt, and mountains in the ocean loſt,
Torn piece-meal by the roaring tide.
4 A gentler ſtream with gladneſs ſtill the city of our Lord ſhall fill,
The royal ſeat of God moſt high:
5 God dwells in Sion, whoſe fair tow'rs ſhall mock th' aſſaults of earthly pow'rs,
While his almighty aid is nigh.
6 In tumults when the heathen rag'd, and kingdoms war againſt us wag'd,
He thunder'd, and diſpers'd their pow'rs:
7 The Lord of hoſts conducts our arms, our tow'r of refuge in alarms,
Our fathers' guardian God and ours.
8 Come ſee the wonders he hath wrought, on earth what deſolation brought;
How he has calm'd the jarring world:
9 He broke the warlike ſpear and bow; with them the thund'ring chariots too
Into devouring flames were hurl'd.
10 Submit to God's almighty ſway, for him the heathen ſhall obey,
And earth her ſov'reign Lord confeſs:
11 The God of hoſts conducts our arms, our tow'r of refuge in alarms,
As to our fathers in diſtreſs.

PSALM XLVII.

1, 2 O All ye people clap your hands, and with triumphant voices ſing;
No force the mighty power withſtands, of God, the univerſal King.
3, 4 He ſhall oppoſing nations quell, and with ſucceſs our battles fight;
Shall fix the place where we muſt dwell, the pride of Jacob, his delight.
5, 6 God is gone up, our Lord and King, with ſhouts of joy and trumpet's ſound;
To him repeated praiſes ſing, and let the cheerful ſong go round.
7, 8 Your utmoſt ſkill in praiſe be ſhown, for him, who all the world commands;
Who ſits upon his righteous throne, and ſpreads his ſway o'er heathen lands.
9 Our chiefs and tribes that far from hence, to ſerve the God of Ab'ram came,
Found him their conſtant ſure defence: how great and glorious is his Name!

PSALM XLVIII.

THE Lord, the only God, is great, and greatly to be prais'd
In Sion, on whoſe happy mount his ſacred throne is rais'd.
2 Her tow'rs, the joy of all the earth, with beauteous proſpect riſe;
On her north ſide th' Almighty King's imperial city lies.
3 God in her palaces is known; his preſence is her guard:
4 Confed'rate kings withdrew their ſiege, and of ſucceſs deſpair'd.
5 They view'd her walls, admir'd and fled, with grief and terror ſtruck;
6 Like women whom the ſudden pangs of travail had o'ertook.
7 No wretched crew of mariners appear like them forlorn,
When fleets from Tarſhiſh' wealthy coaſts by eaſtern winds are torn.
8 In Sion we have ſeen perform'd a work that was foretold;
In pledge that God, for times to come, his city will uphold.
9 Not in our fortreſſes and walls did we, O God, confide;
But on the temple fix'd our hopes, in which thou doſt reſide.
10 According to thy ſov'reign Name, thy praiſe through earth extends;
Thy pow'rful arm, as juſtice guides, chaſtiſes or defends.

11 Let Sion's mount with joy resound, her daughters all be taught
In songs his judgments to extol, who this deliv'rance wrought.
12 Compass her walls in solemn pomp, your eyes quite round her cast;
Count all her tow'rs, and see if there you find one stone displac'd.
13 Her forts and palaces survey, observe their order well;
That with assurance to your heirs this wonder you may tell.
14 This God is ours, and will be ours, whilst we in him confide;
Who, as he has preserv'd us now, till death will be our guide.

PSALM XLIX.

1, 2 LET all the list'ning world attend, and my instruction hear;
Let high and low, and rich and poor, with joint consent give ear.
3 My mouth, with sacred wisdom fill'd, shall good advice impart,
The sound result of prudent thoughts, digested in my heart.
4 To parables of weighty sense I will my ear incline;
Whilst to my tuneful harp I sing dark words of deep design.
5 Why should my courage fail in times of danger and of doubt?
When sinners, that would me supplant, have compass'd me about?
6 Those men that all their hope and trust in heaps of treasure place,
And boast and triumph, when they see their ill-got wealth increase,
7 Are yet unable from the grave their dearest friend to free;
Nor can by force or bribes reverse th' Almighty Lord's decree.
8, 9 Their vain endeavours they must quit; the price is held too high:
No sums can purchase such a grant, that man should never die.
10 Not wisdom can the wise exempt, nor fools their folly save;
But both must perish, and in death their wealth to others leave.
11 For though they think their stately seats shall ne'er to ruin fall;
But their remembrance last in lands which by their names they call:
12 Yet shall their fame be soon forgot, how great soe'er their state;
With beasts their memory and they shall share one common fate.

The Second Part.

13 How great their folly is, who thus absurd conclusions make!
And yet their children, unreclaim'd, repeat the gross mistake.
14 They all, like sheep to slaughter led, the prey of death are made;
Their beauty, while the just rejoice, within the grave shall fade.
15 But God will yet redeem my soul, and from the greedy grave
His greater pow'r shall set me free, and to himself receive.
16 Then fear not thou, when worldly men in envy'd wealth abound,
Nor though their prosp'rous house increase, with state and honour crown'd.
17 For when they're summon'd hence by death, they leave all this behind;
No shadow of their former pomp within the grave they find:
18 And yet they thought their state was bless'd, caught in the flatt'rer's snare,
Who with their vanity comply'd, and prais'd their selfish care.
19 In their forefathers' steps they tread; and when, like them, they die,
Their wretched ancestors and they in endless darkness lie.
20 For man, how great soe'er his state, unless he's truly wise,
As like a sensual beast he lives, so like a beast he dies.

PSALM L.

1, 2 THE Lord hath spoke, the mighty God hath sent his summons all abroad,
From dawning light, till day declines:
The list'ning earth his voice hath heard, and he from Sion hath appear'd,
Where beauty in perfection shines.

PSALM LI.

3, 4 Our God ſhall come, and keep no more miſconſtru'd ſilence, as before;
But waſting flames before him ſend:
Around ſhall tempeſts fiercely rage, while he does heav'n and earth engage
His juſt tribunal to attend.
5, 6 Aſſemble all my ſaints to me, (thus runs the great divine decree,)
That in my laſting cov'nant live:
And off'rings bring with conſtant care; (the heav'ns his juſtice ſhall declare;)
For God himſelf ſhall ſentence give.
7 Attend, my people; Iſrael, hear; thy ſtrong accuſer I'll appear;
Thy God, thy only God, am I:
8 'Tis not of off'rings I complain, which, daily in my temple ſlain,
My ſacred altar did ſupply.
9 Will this alone atonement make? no bullock from thy ſtall I'll take,
Nor he-goat from thy fold accept;
10 The foreſt beaſts that range alone, the cattle too are all my own,
That on a thouſand hills are kept.
11 I know the fowls, that build their neſts in craggy rocks; and ſavage beaſts,
That looſely haunt the open fields:
12 If ſeiz'd with hunger I could be, I need not ſeek relief from thee,
Since the world's mine, and all it yields.
13 Think'ſt thou that I have any need on ſlaughter'd bulls and goats to feed;
To eat their fleſh and drink their blood?
14 The ſacrifices I require, are hearts which love and zeal inſpire,
And vows with ſtricteſt care made good.
15 In time of trouble call on me, and I will ſet thee ſafe and free,
And thou returns of praiſe ſhalt make.
16 But to the wicked thus ſaith God, How dar'ſt thou teach my laws abroad,
Or in thy mouth my cov'nant take?
17 For ſtubborn thou, confirm'd in ſin, haſt proof againſt inſtruction been,
And of my word didſt ſlightly ſpeak.
18 When thou a ſubtil thief didſt ſee, thou gladly didſt with him agree,
And with adult'rers didſt partake.
19 Vile ſlander is thy chief delight, thy tongue, by envy mov'd and ſpite,
Deceitful tales doth hourly ſpread;
20 Thou doſt with hateful ſcandals wound thy brother, and with lies confound
The offſpring of thy mother's bed.
21 Theſe things didſt thou, whom ſtill I ſtrove to gain with ſilence and with love;
Till thou didſt wickedly ſurmiſe,
That I was ſuch a one as thou; but I'll reprove and ſhame thee now,
And ſet thy ſins before thine eyes.
22 Mark this, ye wicked fools, leſt I let all my bolts of vengeance fly,
Whilſt none ſhall dare your cauſe to own.
23 Who praiſes me, due honour gives; and to the man that juſtly lives,
My ſtrong ſalvation ſhall be ſhewn.

PSALM LI.

HAVE mercy, Lord, on me, as thou wert ever kind;
Let me, oppreſt with loads of guilt, thy wonted mercy find.
2, 3 Waſh off my foul offence, and cleanſe me from my ſin;
For I confeſs my crime, and ſee how great my guilt has been.
4 Againſt thee, Lord, alone, and only in thy ſight,
Have I tranſgreſs'd, and, tho' condemn'd, muſt own thy judgments right.

5 In guilt each part was form'd of all this sinful frame;
In guilt I was conceiv'd, and born the heir of sin and shame.
6 Yet thou, whose searching eye doth inward truth require,
In secret didst with wisdom's laws my tender soul inspire.
7 With hyssop purge me, Lord, and so I clean shall be;
I shall with snow in whiteness vie, when purify'd by thee.
8 Make me to hear with joy thy kind forgiving voice;
That so the bones which thou hast broke may with fresh strength rejoice.
9, 10 Blot out my crying sins, nor me in anger view;
Create in me a heart that's clean, an upright mind renew.

The Second Part.

11 Withdraw not thou thy help, nor cast me from thy sight;
Nor let thy holy Spirit take its everlasting flight.
12 The joy thy favour gives let me again obtain;
And thy free Spirit's firm support my fainting soul sustain.
13 So I thy righteous ways to sinners will impart,
Whilst my advice shall wicked men to thy just laws convert.
14 My guilt of blood remove, my Saviour and my God;
And my glad tongue shall loudly tell thy righteous acts abroad.
15 Do thou unlock my lips, with sorrow clos'd and shame;
So shall my mouth thy wondrous praise to all the world proclaim.
16 Could sacrifice atone, whole flocks and herds should die;
But on such off'rings thou disdain'st to cast a gracious eye.
17 A broken spirit is by God most highly priz'd;
By him a broken contrite heart shall never be despis'd.
18 Let Sion favour find, of thy good-will assur'd;
And thy own city flourish long, by lofty walls secur'd.
19 The just shall then attend, and pleasing tribute pay;
And sacrifice of choicest kind upon thy altar lay.

PSALM LII.

IN vain, O man of lawless might, thou boast'st thyself in ill;
Since God, the God in whom I trust, vouchsafes his favour still.
2 Thy wicked tongue doth sland'rous tales maliciously devise;
And, sharper than a razor set, it wounds with treach'rous lies.
3, 4 Thy thoughts are more on ill than good, on lies than truth employ'd;
Thy tongue delights in words, by which the guiltless are destroy'd.
5 God shall for ever blast thy hopes, and snatch thee soon away;
Nor in thy dwelling-place permit, nor in the world to stay.
6 The just, with pious fear, shall see the downfall of thy pride;
And at thy sudden ruin laugh, and thus thy fall deride:
7 "See there the man that haughty was, who proudly God defy'd,
"Who trusted in his wealth, and still on wicked arts rely'd."
8 But I am like those olive plants that shade God's temple round;
And hope with his indulgent grace to be for ever crown'd.
9 So shall my soul with praise, O God, extol thy wondrous love;
And on thy Name with patience wait; for this thy saints approve.

PSALM LIII.

THE wicked fools must sure suppose that God is but a name;
This gross mistake their practice shows, since virtue all disclaim.
2 The Lord look'd down from heav'n's high tow'r, the sons of men to view;
To see if any own'd his pow'r, or truth or justice knew.

3 But all, he saw, were backwards gone, degen'rate grown, and base;
None for religion car'd, not one of all the sinful race.
4 But are those workers of deceit so dull and senseless grown,
That they, like bread, my people eat, and God's just pow'r disown?
5 Their causeless fears shall strangely grow, and they, despis'd of God,
Shall soon be foil'd; his hand shall throw their shatter'd bones abroad.
6 Would he his saving pow'r employ to break our servile band,
Loud shouts of universal joy should echo through the land.

PSALM LIV.

1, 2 LORD, save me, for thy glorious Name, and in thy strength appear,
To judge my cause, accept my pray'r, and to my words give ear.
3 Mere strangers, whom I never wrong'd, to ruin me design'd;
And cruel men, that fear no God, against my soul combin'd.
4, 5 But God takes part with all my friends, and he's the surest guard;
The God of truth shall give my foes their falsehood's just reward:
6 While I my grateful off'rings bring, and sacrifice with joy;
And in his praise my time to come delightfully employ.
7 From dreadful danger and distress the Lord hath set me free;
Through him shall I of all my foes the just destruction see.

PSALM LV.

GIVE ear, thou Judge of all the earth, and listen when I pray;
Nor from thy humble suppliant turn thy glorious face away.
2 Attend to this my sad complaint, and hear my grievous moans;
Whilst I my mournful case declare with artless sighs and groans.
3 Hark, how the foe insults aloud! how fierce oppressors rage!
Whose sland'rous tongues, with wrathful hate, against my fame engage.
4, 5 My heart is rack'd with pain, my soul with deadly frights distress'd;
With fear and trembling compass'd round, with horror quite oppress'd.
6 How often wish'd I then, that I the dove's swift wings could get;
That I might take my speedy flight, and seek a safe retreat.
7, 8 Then would I wander far from hence, and in wild deserts stray,
Till all this furious storm were spent, this tempest past away.

The Second Part.

9 Destroy, O Lord, their ill designs, their counsels soon divide;
For through the city my griev'd eyes have strife and rapine spy'd.
10 By day and night on ev'ry wall they walk'd their constant round;
And in the midst of all her strength are grief and mischief found.
11 Whoe'er through ev'ry part shall roam, with fresh disorders meet;
Deceit and guile their constant posts maintain in ev'ry street.
12 For 'twas not any open foe that false reflections made;
For then I could with ease have borne the bitter things he said:
'Twas none who hatred had profess'd, that did against me rise;
For then I had withdrawn myself from his malicious eyes.
13, 14 But 'twas e'en thou, my guide, my friend, whom tend'rest love did join;
Whose sweet advice I valu'd most, whose pray'rs were mix'd with mine.
15 Sure vengeance, equal to their crimes, such traitors must surprise;
And sudden death requite those ills, they wickedly devise.
16, 17 But I will call on God, who still shall in my aid appear;
At morn, at noon, at night I'll pray, and he my voice shall hear.

The Third Part.

18 God has releas'd my ſoul from thoſe that did with me contend;
And made a num'rous hoſt of friends my righteous cauſe defend.
19 For he, who was my help of old, ſhall now his ſuppliant hear;
And puniſh them, whoſe proſp'rous ſtate makes them no God to fear.
20 Whom can I truſt, if faithleſs men perfidiouſly deviſe
To ruin me, their peaceful friend, and break the ſtrongeſt ties!
21 Though ſoft and melting are their words, their hearts with war abound;
Their ſpeeches are more ſmooth than oil, and yet like ſwords they wound.
22 Do thou, my ſoul, on God depend, and he ſhall thee ſuſtain;
He aids the juſt, whom to ſupplant the wicked ſtrive in vain.
23 My foes, that trade in lies and blood, ſhall all untimely die;
Whilſt I for health and length of days on thee, my God, rely.

PSALM LVI.

DO thou, O God, in mercy help, for man my life purſues;
To cruſh me with repeated wrongs he daily ſtrife renews.
2 Continually my ſpiteful foes to ruin me combine;
Thou ſeeſt, who ſitt'ſt enthron'd on high, what mighty numbers join.
3 But though ſometimes ſurpris'd by fear, (on danger's firſt alarm,)
Yet ſtill for ſuccour I depend on thy Almighty arm.
4 God's faithful promiſe I ſhall praiſe, on which I now rely:
In God I truſt, and, truſting him, the arm of fleſh defy.
5 They wreſt my words, and make them ſpeak a ſenſe they never meant:
Their thoughts are all, with reſtleſs ſpite, on my deſtruction bent.
6 In cloſe aſſemblies they combine, and wicked projects lay;
They watch my ſteps, and lie in wait to make my ſoul their prey.
7 Shall ſuch injuſtice ſtill eſcape? O righteous God, ariſe;
Let thy juſt wrath, (too long provok'd,) this impious race chaſtiſe.
8 Thou number'ſt all my ſteps, ſince firſt I was compell'd to flee;
My very tears are treaſur'd up, and regiſter'd by thee.
9 When therefore I invoke thy aid, my foes ſhall be o'erthrown;
For I am well aſſur'd that God my righteous cauſe will own.
10, 11 I'll truſt God's word, and ſo deſpiſe the force that man can raiſe;
12 To thee, O God, my vows are due; to thee I'll render praiſe.
13 Thou haſt retriev'd my ſoul from death, and thou wilt ſtill ſecure
The life thou haſt ſo oft preſerv'd, and make my footſteps ſure;
That thus protected by thy pow'r, I may this light enjoy,
And in the ſervice of my God my lengthen'd days employ.

PSALM LVII.

THY mercy, Lord, to me extend, on thy protection I depend;
And to thy wing for ſhelter haſte, till this outrageous ſtorm is paſt.
2 To thy tribunal, Lord, I fly, thou ſov'reign Judge and God moſt high,
Who wonders haſt for me begun, and wilt not leave thy work undone.
3 From heav'n protect me by thine arm, and ſhame all thoſe who ſeek my harm;
To my relief thy mercy ſend, and truth, on which my hopes depend.
4 For I with ſavage men converſe, like hungry lions wild and fierce,
With men whoſe teeth are ſpears, their words envenom'd darts, and two-edg'd ſwords.
5 Be thou, O God, exalted high; and, as thy glory fills the ſky,
So let it be on earth diſplay'd, till thou art here, as there, obey'd.
6 To take me they their net prepar'd, and had almoſt my ſoul enſnar'd;
But fell themſelves, by juſt decree, into the pit they made for me.

7 O God, my heart is fix'd, 'tis bent, its thankful tribute to preſent;
And with my heart my voice I'll raiſe to thee, my God, in ſongs of praiſe.
8 Awake, my glory, harp and lute, no longer let your ſtrings be mute;
And I, my tuneful part to take, will with the early dawn awake.
9 Thy praiſes, Lord, I will reſound to all the liſt'ning nations round:
10 Thy mercy higheſt heav'n tranſcends, thy truth beyond the clouds extends.
11 Be thou, O God, exalted high; and, as thy glory fills the ſky,
So let it be on earth diſplay'd, till thou art here, as there, obey'd.

PSALM LVIII.

SPEAK, O ye judges of the earth, if juſt your ſentence be;
Or, muſt not innocence appeal to Heav'n from your decree?
2 Your wicked hearts and judgments are alike by malice ſway'd;
Your griping hands, by weighty bribes, to violence betray'd.
3 To virtue ſtrangers from the womb, their infant ſteps went wrong;
They prattled ſlander, and in lies employ'd their liſping tongue.
4 No ſerpent of parch'd Afric's breed does ranker poiſon bear;
The drowſy adder will as ſoon unlock his ſullen ear.
5 Unmov'd by good advice, and deaf as adders they remain;
From whom the ſkilful charmer's voice can no attention gain.
6 Defeat, O God, their threat'ning rage, and timely break their pow'r;
Diſarm theſe growing lions' jaws, ere practis'd to devour.
7 Let now their inſolence, at height, like ebbing tides be ſpent:
Their ſhiver'd darts deceive their aim, when they their bow have bent.
8 Like ſnails let them diſſolve to ſlime; like haſty births become,
Unworthy to behold the ſun, and dead within the womb.
9 Ere thorns can make the fleſh-pots boil, tempeſtuous wrath ſhall come
From God, and ſnatch them hence alive to their eternal doom.
10 The righteous ſhall rejoice to ſee their crimes ſuch vengeance meet,
And ſaints in perſecutors' blood ſhall dip their harmleſs feet.
11 Tranſgreſſors then with grief ſhall ſee juſt men rewards obtain;
And own a God, whoſe juſtice will the guilty earth arraign.

PSALM LIX.

DELIVER me, O Lord my God, from all my ſpiteful foes;
In my defence oppoſe thy pow'r to theirs, who me oppoſe.
2 Preſerve me from a wicked race, who make a trade of ill;
Protect me from remorſeleſs men, who ſeek my blood to ſpill.
3 They lie in wait, and mighty pow'rs againſt my life combine:
Implacable; yet, Lord, thou know'ſt for no offence of mine.
4 In haſte they run about, and watch my guiltleſs life to take:
Look down, O Lord, on my diſtreſs, and to my help awake!
5 Thou, Lord of hoſts, and Iſrael's God, their heathen rage ſuppreſs:
Relentleſs vengeance take on thoſe who ſtubbornly tranſgreſs.
6 At ev'ning to beſet my houſe like growling dogs they meet;
While others through the city range, and ranſack ev'ry ſtreet.
7 Their throats envenom'd ſlander breathe, their tongues are ſharpen'd ſwords;
Who hears, (ſay they,) or, hearing, dares reprove our lawleſs words?
6 But from thy throne thou ſhalt, O Lord, their baffled plots deride;
And ſoon to ſcorn and ſhame expoſe their boaſted heathen pride.
9 On thee I wait, 'tis on thy ſtrength for ſuccour I depend;
'Tis thou, O God, art my defence, who only canſt defend.

10 Thy mercy, Lord, which haſt ſo oft from danger ſet me free,
Shall crown my wiſhes, and ſubdue my haughty foes to me.
11 Deſtroy them not, O Lord, at once, reſtrain thy vengeful blow,
Leſt we, ingratefully, too ſoon forget their overthrow.
Diſperſe them through the nations round by thy avenging pow'r:
Do thou bring down their haughty pride, O Lord, our ſhield and tow'r.
12 Now, in the height of all their hopes, their arrogance chaſtiſe;
Whoſe tongues have ſinn'd without reſtraint, and curſes join'd with lies.
13 Nor ſhalt thou, whilſt their race endures, thine anger, Lord, ſuppreſs,
That diſtant lands, by their juſt doom, may Iſrael's God confeſs.
14 At ev'ning let them ſtill perſiſt like growling dogs to meet,
Still wander all the city round, and traverſe ev'ry ſtreet.
15 Then, as for malice now they do, for hunger let them ſtray,
And yell their vain complaints aloud, defeated of their prey.
16 Whilſt early I thy mercy ſing, thy wondrous pow'r confeſs;
For thou haſt been my ſure defence, my refuge in diſtreſs.
17 To thee with never-ceaſing praiſe, O God, my ſtrength, I'll ſing;
Thou art my God, the rock from whence my health and ſafety ſpring.

PSALM LX.

O God, who haſt our troops diſpers'd, forſaking thoſe who left thee firſt;
As we thy juſt diſpleaſure mourn, to us in mercy, Lord, return.
2 Our ſtrength, that firm as earth did ſtand, is rent by thy avenging hand:
O heal the breaches thou haſt made; we ſhake, we fall, without thy aid!
3 Our folly's ſad effects we feel, for, drunk with diſcord's cup, we reel;
4 But now for them who thee rever'd, thou haſt thy truth's bright banner rear'd.
5 Let thy right hand thy ſaints protect: Lord, hear the pray'rs that we direct!
6 The holy God hath ſpoke; and I, o'erjoy'd, on his firm word rely.
To thee in portions I'll divide fair Sichem's ſoil, Samaria's pride;
To Sichem, Succoth next I'll join, and meaſure out her vale by line.
7 Manaſſeh, Gilead, both ſubſcribe to my commands, with Ephraim's tribe;
Ephraim by arms ſupports my cauſe, and Judah by religious laws.
8 Moab my ſlave and drudge ſhall be, nor Edom from my yoke get free;
Proud Paleſtine's imperious ſtate ſhall humbly on our triumph wait.
9 But who ſhall quell theſe mighty pow'rs, and clear my way to Edom's tow'rs?
Or through her guarded frontiers tread the path that does to conqueſt lead?
10 E'en thou, O God, who haſt diſperſt our troops, (for we forſook thee firſt,)
Thoſe whom thou didſt in wrath forſake, aton'd, thou wilt victorious make.
11 Do thou our fainting cauſe ſuſtain, for human ſuccours are but vain:
12 Freſh ſtrength and courage God beſtows, 'tis he treads down our proudeſt foes.

PSALM LXI.

LORD, hear my cry, regard my pray'r, which I, oppreſs'd with grief,
2 From earth's remoteſt parts addreſs to thee for kind relief.
O lodge me ſafe beyond the reach of perſecuting pow'r;
3 Thou, who ſo oft from ſpiteful foes haſt been my ſhelt'ring tow'r.
4 So ſhall I in thy ſacred courts ſecure from danger lie;
Beneath the covert of thy wings all future ſtorms defy.
5 In ſign my vows are heard, once more I o'er thy choſen reign;
6 O bleſs with long and proſp'rous life the king thou didſt ordain.
7 Confirm his throne, and make his reign accepted in thy ſight,
And let thy truth and mercy both in his defence unite.
8 So ſhall I ever ſing thy praiſe, thy name for ever bleſs;
Devote my proſp'rous days to pay the vows of my diſtreſs.

PSALM LXII.

MY soul for help on God relies, from him alone my safety flows;
2 My rock, my health, that strength supplies, to bear the shock of all my foes.
3 How long will ye contrive my fall, which will but hasten on your own?
You'll totter like a bending wall, or fence of uncemented stone.
4 To make my envy'd honours less they strive with lies, their chief delight;
For they, tho' with their mouths they bless, in private curse with inward spite.
5, 6 But thou, my soul, on God rely; on him alone thy trust repose;
My rock and health will strength supply to bear the shock of all my foes.
7 God does his saving health dispense, and flowing blessings daily send;
He is my fortress and defence, on him my soul shall still depend.
8 In him, ye people, always trust, before his throne pour out your hearts;
For God, the merciful and just, his timely aid to us imparts.
9 The vulgar fickle are and frail; the great dissemble and betray;
And laid in truth's impartial scale, the lightest things will both outweigh.
10 Then trust not in oppressive ways, by spoil and rapine grow not vain;
Nor let your hearts, if wealth increase, be set too much upon your gain.
11 For God has oft his will express'd, and I this truth have fully known;
To be of boundless pow'r possess'd belongs of right to God alone.
12 Though mercy is his darling grace, in which he chiefly takes delight,
Yet will he all the human race according to their works requite.

PSALM LXIII.

O God, my gracious God, to thee my morning pray'rs shall offer'd be;
For thee my thirsty soul doth pant:
My fainting flesh implores thy grace, within this dry and barren place,
Where I refreshing waters want.
2 O to my longing eyes once more that view of glorious pow'r restore,
Which thy majestic house displays:
3 Because to me thy wondrous love than life itself does dearer prove,
My lips shall always speak thy praise.
4 My life, while I that life enjoy, in blessing God I will employ,
With lifted hands adore his Name:
5 My soul's content shall be as great as theirs who choicest dainties eat,
While I with joy his praise proclaim.
6 When down I lie sweet sleep to find, thou, Lord, art present to my mind;
And when I wake in dead of night:
7 Because thou still dost succour bring, beneath the shadow of thy wing
I rest with safety and delight.
8 My soul, when foes would me devour, cleaves fast to thee, whose matchless pow'r
In her support is daily shown:
9 But those the righteous Lord shall slay that my destruction wish, and they
That seek my life shall lose their own.
10, 11 They by untimely ends shall die, their flesh a prey to foxes lie;
But God shall fill the king with joy:
Who thee confess shall still rejoice, whilst the false tongue, and lying voice,
Thou, Lord, shalt silence and destroy.

PSALM LXIV.

LORD, hear the voice of my complaint, to my request give ear;
Preserve my life from cruel foes, and free my soul from fear.
2 O hide me with thy tend'rest care in some secure retreat,
From sinners that against me rise, and all their plots defeat.

3 See how, intent to work my harm, they whet their tongues like swords;
And bend their bows to shoot their darts, sharp lies and bitter words.
4 Lurking in private, at the just they take their secret aim;
And suddenly at him they shoot, quite void of fear and shame.
5 To carry on their ill designs they mutually agree;
They speak of laying private snares, and think that none shall see.
6 With utmost diligence and care their wicked plots they lay;
The deep designs of all their hearts are only to betray.
7 But God, to anger justly mov'd, his dreadful bow shall bend,
And on his flying arrow's point shall swift destruction send.
8 Those slanders, which their mouths did vent, upon themselves shall fall;
Their crimes disclos'd, shall make them be despis'd and shunn'd by all.
9 The world shall then God's pow'r confess, and nations trembling stand,
Convinc'd that 'tis the mighty work of his avenging hand.
10 Whilst righteous men, whom God secures, in him shall gladly trust;
And all the list'ning earth shall hear loud triumphs of the just.

PSALM LXV.

FOR thee, O God, our constant praise in Sion waits, thy chosen seat;
Our promis'd altars there we'll raise, and all our zealous vows complete.
2 O thou, who to my humble pray'r didst always bend thy list'ning ear,
To thee shall all mankind repair, and at thy gracious throne appear.
3 Our sins (though numberless) in vain to stop thy flowing mercy try;
Whilst thou o'erlook'st the guilty stain, and washest out the crimson dye.
4 Blest is the man, who near thee plac'd, within thy sacred dwelling lives!
Whilst we at humbler distance taste the vast delights thy temple gives.
5 By wondrous acts, O God, most just, have we thy gracious answer found;
In thee remotest nations trust, and those whom stormy waves surround.
6, 7 God, by his strength, sets fast the hills, and does his matchless pow'r engage,
With which the sea's loud waves he stills, and angry crowds' tumultuous rage.

The Second Part.

8 Thou, Lord, dost barb'rous lands dismay, when they thy dreadful tokens view,
With joy they see the night and day each other's track by turns pursue.
9 From out thy unexhausted store thy rain relieves the thirsty ground;
Makes lands, that barren were before, with corn and useful fruits abound.
10 On rising ridges down it pours, and ev'ry furrow'd valley fills;
Thou mak'st them soft with gentle show'rs, in which a blest increase distils.
11 Thy goodness does the circling year with fresh returns of plenty crown;
And, where thy glorious paths appear, thy fruitful clouds drop fatness down.
12 They drop on barren forests, chang'd by them to pastures fresh and green;
The hills about in order rang'd in beauteous robes of joy are seen.
13 Large flocks with fleecy wool adorn the cheerful downs; the vallies bring
A plenteous crop of full-ear'd corn, and seem for joy to shout and sing.

PSALM LXVI.

1, 2 LET all the lands with shouts of joy to God their voices raise;
Sing psalms in honour of his Name, and spread his glorious praise.
3 And let them say, How dreadful, Lord, in all thy works art thou!
To thy great pow'r thy stubborn foes shall all be forc'd to bow.
4 Through all the earth the nations round shall thee their God confess;
And with glad hymns their awful dread of thy great Name express.

5 O come, behold the works of God, and then with me you'll own,
That he to all the ſons of men has wondrous judgments ſhown.
6 He made the ſea become dry land, through which our fathers walk'd;
Whilſt to each other of his might with joy his people talk'd.
7 He by his power for ever rules; his eyes the world ſurvey;
Let no preſumptuous man rebel againſt his ſov'reign ſway.

The Second Part.

8, 9 O all ye nations, bleſs our God, and loudly ſpeak his praiſe;
Who keeps our ſoul alive, and ſtill confirms our ſteadfaſt ways.
10 For thou haſt try'd us, Lord, as fire does try the precious ore;
11 Thou brought'ſt us into ſtraits, where we oppreſſing burdens bore.
12 Inſulting foes did us, their ſlaves, through fire and water chaſe;
But yet at laſt thou brought'ſt us forth into a wealthy place.
13 Burnt off'rings to thy houſe I'll bring, and there my vows I'll pay,
14 Which I with ſolemn zeal did make in trouble's diſmal day.
15 Then ſhall the richeſt incenſe ſmoke, the fatteſt rams ſhall fall;
The choiceſt goats from out the fold, and bullocks from the ſtall.
16 O come, all ye that fear the Lord, attend with heedful care;
Whilſt I, what God for me has done, with grateful joy declare.
17, 18 As I before his aid implor'd, ſo now I praiſe his Name;
Who, if my heart had harbour'd ſin, would all my pray'rs diſclaim.
19 But God to me, whene'er I cry'd, his gracious ear did bend;
And to the voice of my requeſt with conſtant love attend.
20 Then bleſs'd for ever be my God, who never, when I pray,
Withholds his mercy from my ſoul, nor turns his face away.

PSALM LXVII.

TO bleſs thy choſen race, in mercy, Lord, incline;
And cauſe the brightneſs of thy face on all thy ſaints to ſhine.
2 That ſo thy wondrous ways may through the world be known,
Whilſt diſtant lands their tribute pay, and thy ſalvation own.
3 Let diff'ring nations join to celebrate thy fame;
Let all the world, O Lord, combine to praiſe thy glorious Name.
4 O let them ſhout and ſing with joy and pious mirth,
For thou, the righteous Judge and King, ſhalt govern all the earth.
5 Let diff'ring nations join to celebrate thy fame;
Let all the world, O Lord, combine to praiſe thy glorious Name.
6 Then ſhall the teeming ground a large increaſe diſcloſe;
And we with plenty ſhall be crown'd, which God, our God, beſtows.
7 Then God upon our land ſhall conſtant bleſſings ſhow'r,
And all the world in awe ſhall ſtand of his reſiſtleſs pow'r.

PSALM LXVIII.

LET God, the God of battle riſe, and ſcatter his preſumptuous foes;
Let ſhameful rout their hoſt ſurpriſe, who ſpitefully his pow'r oppoſe.
2 As ſmoke in tempeſt's rage is loſt, or wax into the furnace caſt,
So let the ſacrilegious hoſt before his wrathful preſence waſte.
3 But let the ſervants of his will his favour's gentle beams enjoy;
Their upright hearts let gladneſs fill, and cheerful ſongs their tongues employ.
4 To him your voice in anthems raiſe, Jehovah's awful name he bears;
In him rejoice, extol his praiſe, who rides upon high rolling ſpheres.

5 Him, from his empire of the skies,
The orphan's claim to patronize,
6 'Tis God, who from a foreign soil
Makes captives free, and fruitless toil
7 'Twas so of old, when thou didst lead
Strange terrors through the desert spread,
8 The breaking clouds did rain distil,
How then should Sinai's humble hill
9 Thy hand, at famish'd earth's complaint,
And, when thy heritage was faint,
10 Where savages had rang'd before,
And in the desert for the poor

to this low world compassion draws,
and judge the injur'd widow's cause.
restores poor exiles to their home,
their proud oppressors' righteous doom.
in person, Lord, our armies forth,
convulsions shook th' astonish'd earth.
and heav'n's high arches shook with fear;
of Israel's God the presence bear?
reliev'd her from celestial stores;
aswag'd the drought with plenteous show'rs.
at ease thou mad'st our tribes reside;
thy gen'rous bounty didst provide.

The Second Part.

11 Thou gav'st the word, we sally'd forth,
While virgin troops, with songs of mirth,
12 Vast armies, by such gen'rals led,
Forsook their camp with sudden dread,
13 Though Egypt's drudges you have been,
As doves, in golden sunshine seen,
14 'Twas so, when God's almighty hand
Our troops, drawn up on Jordan's strand,
15 From thence to Jordan's farther coast,
No more her height shall Bashan boast,
16 But wherefore (tho' the honour's great)
For Sion is his chosen seat,
17 His chariots numberless, his pow'rs
His presence now fills Sion's tow'rs,
18 Ascending high in triumph thou
And on thy people didst bestow
E'en rebels shall partake thy grace,
To worship at thy dwelling-place,
19 For benefits each day bestow'd,
20 Who is our Saviour and our God,
21 But justice for his harden'd foes
To wound the hoary head of those
22 The Lord hath thus in thunder spoke:
"Once more I'll break my people's yoke,
23 "Their feet shall with a crimson flood
"Nor earth receive such impious blood,

and in that pow'rful word o'ercame;
in state our conquest did proclaim.
as yet had ne'er receiv'd a foil,
and to our women left the spoil.
your army's wings shall shine as bright
or silver'd o'er with paler light.
o'er scatter'd kings the conquest won;
high Salmon's glitt'ring snow outshone.
and Bashan's hill we did advance;
but that she's God's inheritance.
should this, O mountains, swell your pride?
where he for ever will reside.
are heav'nly hosts that wait his will;
as once it honour'd Sinai's hill.
captivity hast captive led,
the spoil of armies, once their dread.
and humble proselytes repair
and all the world pay homage there.
be daily his great Name ador'd;
of life and death the sov'reign Lord.
proportion'd vengeance hath decreed,
who in presumptuous crimes proceed.
"As I subdu'd proud Bashan's king,
and from the deep my servants bring.
of slaughter'd foes be cover'd o'er;
but leave for dogs th' unhallow'd gore."

The Third Part.

24 When marching to thy blest abode,
The pompous state of thee, our God,
25 Sweet-singing Levites led the van,
Between both troops a virgin train
26 This was the burden of their song,
"All, who to Israel's tribes belong,
27 Nor little Benjamin alone
Nor only Judah's nearer throne
But Zebulon's remoter seat,
(The grand procession to complete,)

the wond'ring multitude survey'd
in robes of majesty array'd;
loud instruments brought up the rear;
with voice and timbrel charm'd the ear.
"In full assemblies bless the Lord,
the God of Israel's praise record."
from neighb'ring bounds did there attend,
her counsellors in state did send;
and Naphtali's more distant coast,
sent up their tribes, a princely host.

28 Thus God to ſtrength and union brought our tribes, at ſtrife till that bleſt hour;
This work, which thou, O God, haſt wrought, confirm with freſh recruits of pow'r.
29 To viſit Salem, Lord, deſcend, and Sion thy terreſtrial throne;
Where kings with preſents ſhall attend, and thee with offer'd crowns atone.
30 Break down the ſpearmen's ranks, who threat like pamper'd herds of ſavage might;
Their ſilver armour'd chiefs defeat, who in deſtructive war delight.
31 Egypt ſhall then to God ſtretch forth her hands, and Afric homage bring:
32 The ſcatter'd kingdoms of the earth their common ſov'reign's praiſes ſing.
33 Who, mounted on the loftieſt ſphere of ancient heav'n ſublimely rides;
From whence his dreadful voice we hear, like that of warring winds and tides.
34 Aſcribe ye pow'r to God moſt high, of humble Iſrael he takes care;
Whoſe ſtrength from out the duſky ſky darts ſhining terrors through the air.
35 How dreadful are the ſacred courts, where God has fix'd his earthly throne!
His ſtrength his feeble ſaints ſupports; to God give praiſe, and him alone.

PSALM LXIX.

SAVE me, O God, from waves that roll, and preſs to overwhelm my ſoul:
2 With painful ſteps in mire I tread, and deluges o'erflow my head.
3 With reſtleſs cries my ſpirits faint, my voice is hoarſe with long complaint;
My ſight decays with tedious pain, whilſt for my God I wait in vain.
4 My hairs, though num'rous, are but few compar'd with foes that me purſue
With groundleſs hate, grown now of might, to execute their lawleſs ſpite:
They force me guiltleſs to reſign as rapine, what by right was mine.
5 Thou, Lord, my innocence doſt ſee, nor are my ſins conceal'd from thee.
6 Lord God of hoſts, take timely care, leſt for my ſake thy ſaints deſpair;
7 Since I have ſuffer'd for thy name reproach, and hid my face in ſhame.
8 A ſtranger to my country grown, nor to my neareſt kindred known;
A foreigner, expos'd to ſcorn by brethren of my mother born.
9 For zeal to thy lov'd houſe and name conſumes me like devouring flame,
Concern'd at their affronts to thee, more than at ſlanders caſt on me.
10 My very tears and abſtinence they conſtrue in a ſpiteful ſenſe:
11 When cloth'd with ſackcloth for their ſake, they me their common proverb make.
12 Their judges at my wrongs do jeſt, thoſe wrongs they ought to have redreſt!
How ſhould I then expect to be from libels of lewd drunkards free?
13 But, Lord, to thee I will repair for help with humble timely pray'r;
Relieve me from thy mercy's ſtore, diſplay thy truth's preſerving pow'r.
14 From threat'ning dangers me relieve, and from the mire my feet retrieve;
From ſpiteful foes in ſafety keep, and ſnatch me from the raging deep.
15 Control the deluge ere it ſpread, and roll its waves above my head;
Nor deep deſtruction's open pit to cloſe her jaws on me permit.
16 Lord, hear the humble pray'r I make, for thy tranſcending goodneſs' ſake;
Relieve thy ſupplicant once more from thy abounding mercy's ſtore.
17 Nor from thy ſervant hide thy face; make haſte, for deſp'rate is my caſe;
18 Thy timely ſuccour interpoſe, and ſhield me from remorſeleſs foes.
19 Thou know'ſt what infamy and ſcorn I from my enemies have borne,
Nor can their cloſe diſſembled ſpite, or darkeſt plots, eſcape thy ſight.
20 Reproach and grief have broke my heart; I look'd for ſome to take my part,
To pity or relieve my pain; but look'd, alas! for both in vain.
21 With hunger pin'd, for food I call, inſtead of food they give me gall;
And when with thirſt my ſpirits ſink, they give me vinegar to drink.
22 Their table therefore to their health ſhall prove a ſnare, a trap their wealth;
23 Perpetual darkneſs ſeize their eyes, and ſudden blaſts their hopes ſurpriſe.

24 On them thou shalt thy fury pour, till thy fierce wrath their race devour;
25 And make their house a dismal cell, where none will e'er vouchsafe to dwell.
26 For new afflictions they procur'd for him, who had thy stripes endur'd;
And made the wounds thy scourge had torn to bleed afresh with sharper scorn.
27 Sin shall to sin their steps betray, till they to truth have lost the way.
28 From life thou shalt exclude their soul, nor with the just their names enrol.
29 But me, howe'er distress'd and poor, thy strong salvation shall restore:
30 Thy pow'r with songs I'll then proclaim, and celebrate with thanks thy Name.
31 Our God shall this more highly prize than herds or flocks in sacrifice;
32 Which humble saints with joy shall see, and hope for like redress with me.
33 For God regards the poor's complaint, sets pris'ners free from close restraint.
34 Let heav'n, earth, sea, their voices raise, and all the world resound his praise.
35 For God will Sion's walls erect, and Judah's cities still protect,
Till all her scatter'd sons repair to undisturb'd possession there.
36 This blessing they shall at their death to their religious heirs bequeath;
And they to endless ages more of such as his blest name adore.

PSALM LXX.

O Lord, to my relief draw near, for never was more pressing need;
For my deliv'rance, Lord, appear, and add to that deliv'rance speed.
2 Confusion on their heads return, who to destroy my soul combine;
Let them, defeated, blush and mourn, ensnar'd in their own vile design.
3 Their doom let desolation be, with shame their malice be repaid,
Who mock'd my confidence in thee, and sport of my affliction made.
4 While those, who humbly seek thy face, to joyful triumph shall be rais'd,
And all who prize thy saving grace, with me shall sing, The Lord be prais'd.
5 Thus wretched though I am and poor, the mighty Lord of me takes care;
Thou, God, who only canst restore, to my relief with speed repair.

PSALM LXXI.

1, 2 IN thee I put my steadfast trust, defend me, Lord, from shame;
Incline thine ear, and save my soul, for righteous is thy Name.
3 Be thou my strong abiding place, to which I may resort;
'Tis thy decree that keeps me safe; thou art my rock and fort.
4, 5 From cruel and ungodly men protect and set me free;
For, from my earliest youth till now, my hope has been in thee.
6 Thy constant care did safely guard my tender infant days;
Thou took'st me from my mother's womb to sing thy constant praise.
7, 8 While some on me with wonder gaze, thy hand supports me still;
Thy honour, therefore, and thy praise my mouth shall always fill.
9 Reject not then thy servant, Lord, when I with age decay,
Forsake me not when, worn with years, my vigour fades away.
10 My foes against my fame and me with crafty malice speak;
Against my soul they lay their snares, and mutual counsel take.
11 His God, say they, forsakes him now, on whom he did rely;
Pursue and take him, whilst no hope of timely aid is nigh.
12 But thou, my God, withdraw not far, for speedy help I call;
13 To shame and ruin bring my foes, that seek to work my fall.
14 But as for me, my steadfast hope shall on thy pow'r depend,
And I in grateful songs of praise my time to come will spend.

PSALM LXXII.

The Second Part.

15 Thy righteous acts and saving health my mouth shall still declare;
Unable yet to count them all, though summ'd with utmost care.
16 While God vouchsafes me his support, I'll in his strength go on;
All other righteousness disclaim, and mention his alone.

17 Thou, Lord, hast taught me from my youth to praise thy glorious Name;
And ever since thy wondrous works have been my constant theme.
18 Then now forsake me not when I am grey and feeble grown,
Till I to these, and future times, thy strength and pow'r have shown.

19 How high thy justice soars, O God! how great and wondrous are
The mighty works which thou hast done! who may with thee compare?
20 Me, whom thy hand has sorely press'd, thy grace shall yet relieve,
And from the lowest depth of woe with tender care retrieve.

21 Through thee, my time to come shall be with pow'r and greatness crown'd;
And me, who dismal years have pass'd, thy comforts shall surround.
22 Therefore with psaltery and harp thy truth, O Lord, I'll praise;
To thee, the God of Jacob's race, my voice in anthems raise.

23 Then joy shall fill my mouth, and songs employ my cheerful voice;
My grateful soul, by thee redeem'd, shall in thy strength rejoice.
24 My tongue thy just and righteous acts shall all the day proclaim;
Because thou didst confound my foes, and brought'st them all to shame.

PSALM LXXII.

LORD, let thy just decrees the king in all his ways direct;
And let his son, throughout his reign, thy righteous laws respect.
2 So shall he still thy people judge with pure and upright mind,
Whilst all the helpless poor shall him their just protector find.

3 Then hills and mountains shall bring forth the happy fruits of peace,
Which all the land shall own to be the work of righteousness;
4 Whilst he the poor and needy race shall rule with gentle sway,
And from their humble necks shall take oppressive yokes away.

5 In ev'ry heart thy awful fear shall then be rooted fast,
As long as sun and moon endure, or time itself shall last.
6 He shall descend like rain that cheers the meadows' second birth,
Or like warm show'rs, whose gentle drops refresh the thirsty earth.

7 In his blest days the just and good shall be with favour crown'd;
The happy land shall every where with endless peace abound.
8 His uncontroll'd dominion shall from sea to sea extend,
Begin at proud Euphrates' streams, at nature's limits end.

9 To him the savage nations round shall bow their servile heads;
His vanquish'd foes shall lick the dust, where he his conquest spreads.
10 The kings of Tarshish and the isles shall costly presents bring;
From spicy Sheba gifts shall come, and wealthy Saba's king.

11 To him shall ev'ry king on earth his humble homage pay,
And diff'ring nations gladly join to own his righteous sway.
12 For he shall set the needy free, when they for succour cry,
Shall save the helpless and the poor, and all their wants supply.

The Second Part.

13 His providence for needy souls shall due supplies prepare;
And over their defenceless lives shall watch with tender care.
14 He shall preserve and keep their souls from fraud and rapine free,
And in his sight their guiltless blood of mighty price shall be.

15 Therefore shall God his life and reign to many years extend,
Whilst eastern princes tribute pay, and golden presents send.
For him shall constant pray'rs be made through all his prosp'rous days;
His just dominion shall afford a lasting theme of praise.

16 Of useful grain, through all the land, great plenty shall appear;
A handful sown on mountain tops a mighty crop shall bear.
Its fruit, like cedars shook by winds, a rattling noise shall yield;
The city too shall thrive, and vie for plenty with the field.

17 The mem'ry of his glorious Name through endless years shall run;
His spotless fame shall shine as bright and lasting as the sun.
In him the nations of the world shall be completely bless'd,
And his unbounded happiness by ev'ry tongue confess'd.

18 Then bless'd be God, the mighty Lord, the God whom Israel fears;
Who only wondrous in his works beyond compare appears.
19 Let earth be with his glory fill'd; and ever bless his Name;
Whilst to his praise the list'ning world their glad assent proclaim.

PSALM LXXIII.

AT length, by certain proofs, 'tis plain that God will to his saints be kind;
That all whose hearts are pure and clean shall his protecting favour find.
2, 3 Till this sustaining truth I knew, my stagg'ring feet had almost fail'd;
I griev'd the sinner's wealth to view, and envy'd when the fools prevail'd.
4, 5 They to the grave in peace descend, and whilst they live are hale and strong;
No plague or troubles them offend, which oft to other men belong.
6, 7 With pride, as with a chain, they're held, and rapine seems their robe of state;
Their eyes stand out, with fatness swell'd, they grow beyond their wishes great.
8, 9 With hearts corrupt, and lofty talk, oppressive methods they defend;
Their tongue through all the earth does walk, their blasphemies to Heav'n ascend.
10 And yet admiring crowds are found, who servile visits duly make,
Because with plenty they abound, of which their flatt'ring slaves partake.
11 Their fond opinions these pursue, till they with them profanely cry,
"How should the Lord our actions view, can he perceive who dwells so high?"
12 Behold the wicked! these are they who openly their sins profess;
And yet their wealth's increas'd each day, and all their actions meet success.
13, 14 Then have I cleans'd my heart, said I, and wash'd my hands from guilt in vain,
If all the day oppress'd I lie, and every morning suffer pain.
15 Thus did I once to speak intend; but, if such things I rashly say,
Thy children, Lord, I must offend, and basely should their cause betray.

The Second Part.

16, 17 To fathom this my thoughts I bent, but found the case too hard for me;
Till to the house of God I went, then I their end did plainly see.
18 How high soe'er advanc'd, they all on slipp'ry places loosely stand;
Thence into ruin headlong fall, cast down by thy avenging hand.
19, 20 How dreadful and how quick their fate! despis'd by thee when they're destroy'd;
As waking men with scorn do treat the fancies that their dreams employ'd.
21, 22 Thus was my heart with grief oppress, my reins were rack'd with restless pains;
So stupid was I, like a beast, who no reflecting thought retains.
23, 24 Yet still thy presence me supply'd, and thy right hand assistance gave:
Thou first shalt with thy counsel guide, and then to glory me receive.
25 Whom then in heav'n, but thee alone, have I, whose favour I require?
Throughout the spacious earth there's none that I besides thee can desire.
26 My trembling flesh and aching heart may often fail to succour me,
But God shall inward strength impart, and my eternal portion be.

27 For they that far from thee remove, shall into sudden ruin fall;
If after other gods they rove, thy vengeance shall destroy them all.
28 But as for me, 'tis good and just that I should still to God repair;
In him I always put my trust, and will his wondrous works declare.

PSALM LXXIV.

WHY hast thou cast us off, O God? wilt thou no more return?
O why against thy chosen flock does thy fierce anger burn?
2 Think on thy ancient purchase, Lord, the land that is thy own;
By thee redeem'd, and Sion's mount, where once thy glory shone.
3 O come, and view our ruin'd state! how long our troubles last!
See how the foe, with wicked rage, has laid thy temple waste!
4 Thy foes blaspheme thy Name, where late thy zealous servants pray'd;
The heathen there, with haughty pomp, their banners have display'd.
5, 6 Those curious carvings, which did once advance the artist's fame,
With ax and hammer they destroy, like works of vulgar frame.
7 Thy holy temple they have burnt: and what escap'd the flame
Has been profan'd, and quite defac'd, though sacred to thy Name.
8 Thy worship wholly to destroy maliciously they aim'd;
And all the sacred places burn'd, where we thy praise proclaim'd.
9 Yet of thy presence thou vouchsaf'st no tender signs to send;
We have no prophet now, that knows when this sad state shall end.

The Second Part.

10 But, Lord, how long wilt thou permit th' insulting foe to boast?
Shall all the honour of thy Name for evermore be lost?
11 Why hold'st thou back thy strong right hand, and on thy patient breast,
When vengeance calls to stretch it forth, so calmly lett'st it rest?
12 Thou heretofore, with kingly pow'r, in our defence hast fought;
For us, throughout the wond'ring world, hast great salvation wrought.
13 'Twas thou, O God, that didst the sea by thy own strength divide;
Thou brak'st the wat'ry monster's head, the waves o'erwhelm'd their pride.
14 The greatest, fiercest of them all, that seem'd the deep to sway,
Was by thy pow'r destroy'd, and made to savage beasts a prey.
15 Thou clav'st the solid rock, and mad'st the waters largely flow;
Again thou mad'st through parting streams thy wond'ring people go.
16 Thine is the cheerful day, and thine the black return of night;
Thou hast prepar'd the glorious sun, and ev'ry feebler light:
17 By thee the borders of the earth in perfect order stand;
The summer's warmth, and winter's cold, attend on thy command.

The Third Part.

18 Remember, Lord, how scornful foes have daily urg'd our shame;
And how the foolish people have blasphem'd thy holy Name.
19 O free thy mourning turtle-dove, by sinful crowds beset;
Nor the assembly of thy poor for evermore forget.
20 Thy ancient cov'nant, Lord, regard, and make thy promise good;
For now each corner of the land is fill'd with men of blood.
21 O let not the oppress'd return with sorrow cloth'd and shame;
But let the helpless and the poor for ever praise thy Name.
22 Arise, O God, in our behalf, thy cause and ours maintain;
Remember how insulting fools each day thy Name profane!
23 Make thou the boastings of thy foes for evermore to cease;
Whose insolence, if unchastis'd, will more and more increase.

PSALM LXXV.

TO thee, O God, we render praiſe, to thee with thanks repair;
For that thy Name to us is nigh, thy wondrous works declare.
2 In Iſrael when my throne is fix'd, with me ſhall juſtice reign:
3 The land with diſcord ſhakes, but I the ſinking frame ſuſtain.
4 Deluded wretches I advis'd their errors to redreſs,
And warn'd bold ſinners, that they ſhould their ſwelling pride ſuppreſs.
5 Bear not yourſelves ſo high, as if no pow'r could yours reſtrain;
Submit your ſtubborn necks, and learn to ſpeak with leſs diſdain.
6 For that promotion, which to gain your vain ambition ſtrives,
From neither eaſt, nor weſt, nor yet from ſouthern climes arrives.
7 For God the great diſpoſer is, and ſov'reign Judge alone,
Who caſts the proud to earth, and lifts the humble to a throne.
8 His hand holds forth a dreadful cup, with purple wine 'tis crown'd;
The deadly mixture, which his wrath deals out to nations round.
Of this his ſaints ſometimes may taſte; but wicked men ſhall ſqueeze
The bitter dregs, and be condemn'd to drink the very lees.
9 His prophet, I to all the world this meſſage will relate;
The juſtice then of Jacob's God my ſong ſhall celebrate.
10 The wicked's pride I will reduce, their cruelty diſarm;
Exalt the juſt, and ſeat him high, above the reach of harm.

PSALM LXXVI.

IN Judah the Almighty's known, (Almighty there by wonders ſhown,)
His Name in Jacob does excel;
2 His ſanctuary in Salem ſtands; the Majeſty that heav'n commands
In Sion condeſcends to dwell.
3 He brake the bow and arrows there, the ſhield, the temper'd ſword, and ſpear,
There ſlain the mighty army lay;
4 Whence Sion's fame through earth is ſpread, of greater glory, greater dread,
Than hills where robbers lodge their prey.
5 Their valiant chiefs, who came for ſpoil, themſelves met there a ſhameful foil;
Securely down to ſleep they lay:
But wak'd no more; their ſtouteſt band ne'er lifted one reſiſting hand
'Gainſt his, that did their legions ſlay.
6 When Jacob's God began to frown, both horſe and charioteers o'erthrown,
Together ſlept in endleſs night.
7 When thou, whom earth and heav'n revere, doſt once with wrathful look appear,
What mortal pow'r can ſtand thy ſight? [did'ſt come,
8 Pronounc'd from heav'n, earth heard its doom; grew huſh'd with fear, when thou
9 The meek with juſtice to reſtore:
10 The wrath of man ſhall yield thee praiſe; its laſt attempts but ſerve to raiſe
The triumphs of Almighty pow'r.
11 Vow to the Lord, ye nations; bring vow'd preſents to th' eternal King;
Thus to his Name due rev'rence pay:
12 Who proudeſt potentates can quell; to earthly kings more terrible,
Than to their trembling ſubjects they.

PSALM LXXVII.

TO God I cry'd, who to my help did graciouſly repair;
2 In trouble's diſmal day I ſought my God with humble pray'r.
All night my feſt'ring wound did run, no med'cine gave relief;
My ſoul no comfort would admit, my ſoul indulg'd her grief.

3 I thought on God, and favours paſt, but that increas'd my pain;
I found my ſpirit more oppreſs'd, the more I did complain.
4 Through ev'ry watch of tedious night thou keep'ſt my eyes awake;
My grief is ſwell'd to that exceſs, I ſigh, but cannot ſpeak.
5 I call to mind the days of old, with ſignal mercy crown'd,
Thoſe famous years of ancient times, for miracles renown'd.
6 By night I recollect my ſongs, on former triumphs made;
Then ſearch, conſult, and aſk my heart, where's now that wondrous aid?
7 Has God for ever caſt us off? withdrawn his favour quite?
8 Are both his mercy and his truth retir'd to endleſs night?
9 Can his long-practis'd love forget its wonted aids to bring?
Has he in wrath ſhut up and ſeal'd his mercy's healing ſpring?
10 I ſaid, My weakneſs hints theſe fears: but I'll my fears diſband;
I'll yet remember the Moſt High, and years of his right hand.
11 I'll call to mind his works of old, the wonders of his might;
12 On them my heart ſhall meditate, my tongue ſhall them recite.
13 Safe lodg'd from human ſearch on high, O God, thy counſels are!
Who is ſo great a God as ours? who can with him compare?
14 Long ſince a God of wonders thee thy reſcu'd people found:
15 Long ſince haſt thou thy choſen ſeed with ſtrong deliv'rance crown'd.
16 When thee, O God, the waters ſaw, the frighted billows ſhrunk;
The troubled depths themſelves, for fear, beneath their channels ſunk.
17 The clouds pour'd down, while rending ſkies did with their noiſe conſpire;
Thy arrows all abroad were ſent, wing'd with avenging fire.
18 Heav'n with thy thunder's voice was torn, whilſt all the lower world
With lightnings blaz'd, earth ſhook, and ſeem'd from her foundations hurl'd.
19 Through rolling ſtreams thou find'ſt thy way, thy paths in waters lie;
Thy wondrous paſſage, where no ſight thy footſteps can deſcry.
20 Thou led'ſt thy people like a flock, ſafe through the deſert land,
By Moſes their meek ſkilful guide, and Aaron's ſacred hand.

PSALM LXXVIII.

HEAR, O my people; to my law devout attention lend;
Let the inſtruction of my mouth deep in your hearts deſcend.
2 My tongue, by inſpiration taught, ſhall parables unfold,
Dark oracles, but underſtood, and own'd for truths of old.
3 Which we from ſacred regiſters of ancient times have known,
And our forefathers' pious care to us have handed down.
4 We will not hide them from our ſons; our offſpring ſhall be taught
The praiſes of the Lord, whoſe ſtrength has works of wonder wrought.
5 For Jacob he this law ordain'd; this league with Iſrael made;
With charge to be from age to age, from race to race convey'd.
6 That generations yet to come ſhould to their unborn heirs
Religiouſly tranſmit the fame, and they again to theirs.
7 To teach them that in God alone their hope ſecurely ſtands;
That they ſhould ne'er his works forget, but keep his juſt commands.
8 Leſt, like their fathers, they might prove a ſtiff rebellious race,
Falſe-hearted, fickle to their God, unſteadfaſt in his grace.
9 Such were revolting Ephraim's ſons, who, though to warfare bred,
And ſkilful archers, arm'd with bows, from field ignobly fled.
10, 11 They falſify'd their league with God, his orders diſobey'd,
Forgot his works and miracles before their eyes diſplay'd.

12 Nor wonders which their fathers ſaw did they in mind retain;
Prodigious things in Egypt done, and Zoan's fertile plain.
13 He cut the ſeas to let them paſs, reſtrain'd the preſſing flood;
While, pil'd in heaps, on either ſide the ſolid waters ſtood.
14 A wondrous pillar led them on, compos'd of ſhade and light;
A ſhelt'ring cloud it prov'd by day, a leading fire by night.
15 When drought oppreſs'd them, where no ſtream the wilderneſs ſupply'd,
He cleft the rock, whoſe flinty breaſt diſſolv'd into a tide.
16 Streams from the ſolid rock he brought, which down in rivers fell,
That, trav'ling with their camp, each day renew'd the miracle.
17 Yet there they ſinn'd againſt him more, provoking the Moſt High,
In that ſame deſert, where he did their fainting ſouls ſupply.
18 They firſt incens'd him in their hearts, that did his pow'r diſtruſt,
And long'd for meat, not urg'd by want, but to indulge their luſt.
19 Then utter'd their blaſpheming doubts, "Can God (ſay they) prepare
"A table in the wilderneſs, ſet out with various fare?
20 "He ſmote the flinty rock, 'tis true, and guſhing ſtreams enſu'd;
"But can he corn and fleſh provide for ſuch a multitude?"
21 The Lord with indignation heard: from heav'n avenging flame
On Jacob fell, conſuming wrath on thankleſs Iſrael came.
22 Becauſe their unbelieving hearts in God would not confide,
Nor truſt his care, who had from heav'n their wants ſo oft ſupply'd.
23 Though he had made his clouds diſcharge proviſions down in ſhow'rs;
And, when earth fail'd, reliev'd their needs from his celeſtial ſtores.
24 Though taſteful manna was rain'd down, their hunger to relieve;
Though from the ſtores of heav'n they did ſuſtaining corn receive.
25 Thus man, with angels' ſacred food, ungrateful man, was fed;
Not ſparingly, for ſtill they found a plenteous table ſpread.
26 From heav'n he made an eaſt wind blow, then did the ſouth command,
27 To rain down fleſh, like duſt, and fowls like ſea's unnumber'd ſand.
28 Within their trenches he let fall the luſcious eaſy prey,
And all around their ſpreading camp the ready booty lay.
29 They fed, were fill'd: he gave them leave their appetites to feaſt;
30, 31 Yet ſtill their wanton luſt crav'd on, nor with their hunger ceas'd.
But whilſt in their luxurious mouths they did their dainties chew,
The wrath of God ſmote down their chiefs, and Iſrael's choſen flew.

The Second Part.

32 Yet ſtill they ſinn'd, nor would afford his miracles belief;
33 Therefore through fruitleſs travels he conſum'd their lives in grief.
34 When ſome were ſlain, the reſt return'd to God with early cry;
35 Own'd him the rock of their defence, their Saviour, God moſt high.
36 But this was feign'd ſubmiſſion all; their heart their tongue bely'd;
37 Their heart was ſtill perverſe, nor would firm in his league abide.
38 Yet, full of mercy, he forgave, nor did with death chaſtiſe;
But turn'd his kindled wrath aſide, nor would not let it riſe.
39 For he remember'd they were fleſh that could not long remain;
A murm'ring wind that's quickly paſt, and ne'er returns again.
40 How oft did they provoke him there, how oft his patience grieve,
In that ſame deſert where he did their fainting ſouls relieve!
41 They tempted him by turning back, and wickedly repin'd,
When Iſrael's God refus'd to be by their deſires confin'd.

42 Nor call'd to mind the hand and day that their redemption brought;
43 His signs in Egypt, wondrous works in Zoan's valley wrought.
44 He turn'd their rivers into blood, that man and beast forbore,
And rather chose to die of thirst, than drink the putrid gore.
45 He sent devouring swarms of flies; hoarse frogs annoy'd their soil;
46 Locusts and caterpillars reap'd the harvest of their toil.
47 Their vines with batt'ring hail were broke, with frost the fig-tree dies;
48 Lightning and hail made flocks and herds one general sacrifice.
49 He turn'd his anger loose, and set no time for it to cease;
And, with their plagues, bad angels sent their torments to increase.
50 He clear'd a passage for his wrath to ravage uncontroll'd;
The murrain on their firstlings seiz'd in ev'ry field and fold.
51 The deadly pest from beast to man, from field to city came;
It slew their heirs, their eldest hopes, through all the tents of Ham.
52 But his own tribe, like folded sheep, he brought from their distress,
And them conducted like a flock throughout the wilderness.
53 He led them on, and in their way no cause of fear they found;
But march'd securely through those deeps, in which their foes were drown'd.
54 Nor ceas'd his care till them he brought safe to his promis'd land,
And to his holy mount, the prize of his victorious hand.
55 To them the outcast heathen's land he did by lot divide;
And in their foes' abandon'd tents made Israel's tribes reside.

The Third Part.

56 Yet still they tempted, still provok'd the wrath of God most high;
Nor would to practise his commands their stubborn hearts apply.
57 But in their faithless fathers' steps perversely chose to go;
They turn aside, like arrows shot from some deceitful bow.
58 For him to fury they provok'd with altars set on high;
And with their graven images inflam'd his jealousy.
59 When God heard this, on Israel's tribes his wrath and hatred fell;
60 He quitted Shilo, and the tents where once he chose to dwell.
61 To vile captivity his ark, his glory to disdain,
62 His people to the sword he gave, nor would his wrath restrain.
63 Destructive war their ablest youth untimely did confound;
No virgin was to th' altar led with nuptial garlands crown'd.
64 In fight the sacrificer fell, the priest a victim bled;
And widows, who their death should mourn, themselves of grief were dead.
65 Then, as a giant rous'd from sleep, whom wine had throughly warm'd,
Shouts out aloud, the Lord awak'd, and his proud foe alarm'd.
66 He smote their hosts, that from the field a scatter'd remnant came,
With wounds imprinted on their backs of everlasting shame.
67 With conquests crown'd, he Joseph's tents and Ephraim's tribe forsook;
68 But Judah chose, and Sion's mount for his lov'd dwelling took.
69 His temple he erected there, with spires exalted high,
While deep and fix'd, as that of earth, the strong foundations lie.
70 His faithful servant David too he for his choice did own,
And from the sheepfolds him advanc'd to sit on Judah's throne.
71 From tending on the teeming ewes, he brought him forth to feed
His own inheritance, the tribes of Israel's chosen seed.
72 Exalted thus the monarch prov'd a faithful shepherd still;
He fed them with an upright heart, and guided them with skill.

PSALM LXXIX.

BEHOLD, O God, how heathen hosts have thy possession seiz'd;
Thy sacred house they have defil'd, thy holy city raz'd.
2 The mangled bodies of thy saints abroad unbury'd lay;
Their flesh expos'd to savage beasts, and rav'nous birds of prey.
3 Quite through Jerus'lem was their blood like common water shed;
And none were left alive to pay last duties to the dead.
4 The neighb'ring lands our small remains with loud reproaches wound;
And we a laughing-stock are made to all the nations round.
5 How long wilt thou be angry, Lord; must we for ever mourn?
Shall thy devouring jealous rage, like fire, for ever burn?
6 On foreign lands, that know not thee, thy heavy vengeance show'r;
Those sinful kingdoms let it crush, that have not own'd thy pow'r.
7 For their devouring jaws have prey'd on Jacob's chosen race;
And to a barren desert turn'd their fruitful dwelling-place.
8 O think not on our former sins, but speedily prevent
The utter ruin of thy saints, almost with sorrow spent.
9 Thou God of our salvation, help, and free our souls from blame;
So shall our pardon and defence exalt thy glorious Name.
10 Let infidels, that scoffing say, Where is the God they boast?
In vengeance for thy slaughter'd saints, perceive thee to their cost.
11 Lord, hear the sighing pris'ner's moan, thy saving pow'r extend;
Preserve the wretches, doom'd to die, from that untimely end.
12 On them who us oppress let all our suff'rings be repaid;
Make their confusion seven times more than what on us they laid.
13 So we, thy people and thy flock, shall ever praise thy Name;
And with glad hearts our grateful thanks from age to age proclaim.

PSALM LXXX.

O Israel's Shepherd, Joseph's Guide, our pray'rs to thee vouchsafe to hear;
Thou that dost on the cherubs ride, again in solemn state appear.
2 Behold, how Benjamin expects, with Ephraim and Manasseh join'd,
In our deliv'rance, the effects of thy resistless strength to find.
3 Do thou convert us, Lord, do thou the lustre of thy face display;
And all the ills we suffer now like scatter'd clouds shall pass away.
4 O thou, whom heav'nly hosts obey, how long shall thy fierce anger burn?
How long thy suff'ring people pray, and to their pray'rs have no return?
5 When hungry, we are forc'd to drench our scanty food in floods of woe;
When dry, our raging thirst we quench with streams of tears that largely flow.
6 For us the heathen nations round, as for a common prey contest;
Our foes with spiteful joy abound, and at our lost condition jest.
7 Do thou convert us, Lord; do thou the lustre of thy face display;
And all the ills we suffer now like scatter'd clouds shall pass away.

The Second Part.

8 Thou brought'st a vine from Egypt's land, and, casting out the heathen race,
Didst plant it with thine own right hand, and firmly fix'd it in their place.
9 Before it thou prepar'st the way, and mad'st it take a lasting root;
Which, blest with thy indulgent ray, o'er all the land did widely shoot.
10, 11 The hills were cover'd with its shade, its goodly bows did cedars seem;
Its branches to the sea were spread, and reach'd to proud Euphrates' stream.

12 Why then haſt thou its hedge o'erthrown, which thou hadſt made ſo firm and
Whilſt all its grapes, defenceleſs grown, are pluck'd by thoſe that paſs along. [ſtrong?
13 See how the briſtling foreſt boar with dreadful fury lays it waſte;
Hark, how the ſavage monſters roar, and to their helpleſs prey make haſte.

The Third Part.

14 To thee, O God of hoſts, we pray; thy wonted goodneſs, Lord, renew;
From heav'n, thy throne, this vine ſurvey, and her ſad ſtate with pity view.
15 Behold the vineyard made by thee, which thy right hand did guard ſo long;
And keep that branch from danger free, which for thyſelf thou mad'ſt ſo ſtrong.
16 To waſting flames 'tis made a prey, and all its ſpreading boughs cut down,
At thy rebuke they ſoon decay, and periſh at thy dreadful frown.
17 Crown thou the king with good ſucceſs, by thy right hand ſecur'd from wrong:
The ſon of man in mercy bleſs, whom for thyſelf thou mad'ſt ſo ſtrong.
18 So ſhall we ſtill continue free from whatſoe'er deſerves thy blame;
And, if once more reviv'd by thee, will always praiſe thy holy Name.
19 Do thou convert us, Lord; do thou the luſtre of thy face diſplay;
And all the ills we ſuffer now, like ſcatter'd clouds, ſhall paſs away.

PSALM LXXXI.

TO God, our never-failing ſtrength, with loud applauſes ſing;
And jointly make a cheerful noiſe to Jacob's awful King.
2 Compoſe a hymn of praiſe, and touch your inſtruments of joy,
Let pſalteries and pleaſant harps your grateful ſkill employ.
3 Let trumpets at the great new moon their joyful voices raiſe,
To celebrate th' appointed time, the ſolemn day of praiſe.
4 For this a ſtatute was of old, which Jacob's God decreed,
To be with pious care obſerv'd by Iſrael's choſen ſeed.
5 This he for a memorial fix'd, when freed from Egypt's land;
Strange nations' barb'rous ſpeech we heard, but could not underſtand.
6 "Your burden'd ſhoulders I reliev'd, (thus ſeems our God to ſay,)
"Your ſervile hands by me were freed from lab'ring in the clay.
7 "Your anceſtors, with wrongs oppreſs'd, to me for aid did call;
"With pity I their ſuff'rings ſaw, and ſet them free from all.
"They ſought for me, and from the cloud in thunder I reply'd;
"At Meribah's contentious ſtream their faith and duty try'd.

The Second Part.

8 "While I my ſolemn will declare, my choſen people, hear:
"If thou, O Iſrael, to my words wilt lend thy liſt'ning ear;
9 "Then ſhall no god beſides myſelf within thy coaſts be found;
"Nor ſhalt thou worſhip any god of all the nations round.
10 "The Lord thy God am I, who thee brought forth from Egypt's land:
"'Tis I that all thy juſt deſires ſupply with lib'ral hand.
11 "But they, my choſen race, refus'd to hearken to my voice;
"Nor would rebellious Iſrael's ſons make me their happy choice."
12 So I, provok'd, reſign'd them up to ev'ry luſt a prey,
And in their own perverſe deſigns permitted them to ſtray.
13 O that my people wiſely would my juſt commandments heed!
And Iſrael in my righteous ways with pious care proceed!
14 Then ſhould my heavy judgments fall on all that them oppoſe,
And my avenging hand be turn'd againſt their num'rous foes.
15 Their enemies and mine ſhould all before my footſtool bend;
But as for them, their happy ſtate ſhould never know an end.
16 All parts with plenty ſhould abound; with fineſt wheat their field:
The barren rocks, to pleaſe their taſte, ſhould richeſt honey yield.

PSALM LXXXII.

GOD in the great assembly stands, where his impartial eye
In state surveys the earthly gods, and does their judgments try.
2, 3 How dare you then unjustly judge, or be to sinners kind?
Defend the orphans and the poor, let such your justice find.
4 Protect the humble helpless man, reduc'd to deep distress,
And let not him become a prey to such as would oppress.
5 They neither know, nor will they learn, but blindly rove and stray;
Justice and truth, the world's support, through all the land decay.
6 Well then might God in anger say, "I've call'd you by my Name;
"I've said, Y'are gods, the sons and heirs of my immortal fame.
7 "But ne'ertheless your unjust deeds to strict account I'll call;
"You all shall die like common men, like other tyrants fall."
8 Arise, and thy just judgments, Lord, throughout the earth display;
And all the nations of the world shall own thy righteous sway.

PSALM LXXXIII.

HOLD not thy peace, O Lord our God, no longer silent be;
Nor with consenting quiet looks our ruin calmly see.
2 For lo! the tumults of thy foes o'er all the land are spread;
And those who hate thy saints and thee lift up their threat'ning head.
3 Against thy zealous people, Lord, they craftily combine;
And to destroy thy chosen saints have laid their close design.
4 "Come, let us cut them off, say they, their nation quite deface;
"That no remembrance may remain of Israel's hated race."
5 Thus they against thy people's peace consult with one consent;
And diff'ring nations, jointly leagued, their common malice vent.
6 The Ishmaelites, that dwell in tents, with warlike Edom join'd,
And Moab's sons our ruin vow, with Hagar's race combin'd.
7 Proud Ammon's offspring, Gebal too, with Amalek conspire;
The lords of Palestine, and all the wealthy sons of Tyre.
8 All these the strong Assyrian king their firm ally have got;
Who with a pow'rful army aids th' incestuous race of Lot.

The Second Part.

9 But let such vengeance come to them, as once to Midian came;
To Jabin and proud Sisera, at Kishon's fatal stream.
10 When thy right hand their num'rous hosts near Endor did confound;
And left their carcases for dung to feed the hungry ground.
11 Let all their mighty men the fate of Zeb and Oreb share;
As Zeba and Zalmunna, so let all their princes fare.
12 Who, with the same design inspir'd, thus vainly boasting spake,
"In firm possession for ourselves let us God's houses take."
13 To ruin let them haste, like wheels which downwards swiftly move;
Like chaff before the winds, let all their scatter'd forces prove.
14, 15 As flames consume dry wood or heath that on parch'd mountains grows,
So let thy fierce pursuing wrath with terror strike thy foes.
16, 17 Lord, shroud their faces with disgrace, that they may own thy Name;
Or them confound, whose harden'd hearts thy gentler means disclaim.
18 So shall the wond'ring world confess, that thou, who claim'st alone
Jehovah's Name, o'er all the earth hast rais'd thy lofty throne.

PSALM LXXXIV.

O God of hosts, the mighty Lord, how lovely is the place,
Where thou, enthron'd in glory, shew'st the brightness of thy face!
2 My longing soul faints with desire to view thy blest abode;
My panting heart and flesh cry out for thee, the living God.
3 The birds, more happy far than I, around thy temple throng;
Securely there they build, and there securely hatch their young.
4 O Lord of hosts, my King and God, how highly blest are they,
Who in thy temple always dwell, and there thy praise display!
5 Thrice happy they, whose choice has thee their sure protection made;
Who long to tread the sacred ways that to thy dwelling lead!
6 Who pass through Baca's thirsty vale, yet no refreshment want;
Their pools are fill'd with rain, which thou at their request dost grant.
7 Thus they proceed from strength to strength, and still approach more near,
Till all on Sion's holy mount before their God appear.
8 O Lord, the mighty God of hosts, my just request regard;
Thou God of Jacob, let my pray'r be still with favour heard.
9 Behold, O God, for thou alone canst timely aid dispense;
On thy anointed servant look, be thou his strong defence:
10 For in thy courts one single day 'tis better to attend,
Than, Lord, in any place besides a thousand days to spend.
11 Much rather in God's house will I the meanest office take,
Than in the wealthy tents of sin my pompous dwelling make.
12 For God, who is our sun and shield, will grace and glory give;
And no good thing will he withhold from them that justly live.
13 Thou God, whom heav'nly hosts obey, how highly blest is he,
Whose hope and trust, securely plac'd, is still repos'd on thee!

PSALM LXXXV.

LORD, thou hast granted to thy land the favours we implor'd,
And faithful Jacob's captive race hast graciously restor'd.
2, 3 Thy people's sins thou hast absolv'd, and all their guilt defac'd;
Thou hast not let thy wrath flame on, nor thy fierce anger last.
4 O God our Saviour, all our hearts to thy obedience turn;
That, quench'd with our repenting tears, thy wrath no more may burn.
5, 6 For why should'st thou be angry still, and wrath so long retain?
Revive us, Lord, and let thy saints thy wonted comfort gain.
7 Thy gracious favour, Lord, display, which we have long implor'd;
And, for thy wondrous mercy's sake, thy wonted aid afford.
8 God's answer patiently I'll wait; for he with glad success,
(If they no more to folly turn,) his mourning saints will bless.
9 To all that fear his holy Name his sure salvation's near;
And in its former happy state our nation shall appear.
10 For mercy now with truth is join'd, and righteousness with peace,
Like kind companions absent long, with friendly arms embrace.
11, 12 Truth from the earth shall spring, whilst heav'n shall streams of justice pour;
And God, from whom all goodness flows, shall endless plenty show'r.
13 Before him righteousness shall march, and his just paths prepare;
Whilst we his holy steps pursue, with constant zeal and care.

PSALM LXXXVI.

TO my complaint, O Lord my God, thy gracious ear incline;
Hear me, diſtreſs'd and deſtitute of all relief but thine!
2 Do thou, O God, preſerve my ſoul, that does thy Name adore;
Thy ſervant keep, and him, whoſe truſt relies on thee, reſtore.
3 To me, who daily thee invoke, thy mercy, Lord, extend;
4 Refreſh thy ſervant's ſoul, whoſe hopes on thee alone depend.
5 Thou, Lord, art good; nor only good, but prompt to pardon too;
Of plenteous mercy to all thoſe who for thy mercy ſue.
6 To my repeated humble pray'r, O Lord, attentive be;
7 When troubled I on thee will call, for thou wilt anſwer me.
8 Among the gods there's none like thee, O Lord, alone divine!
To thee as much inferior they, as are their works to thine.
9 Therefore their great Creator thee, the nation ſhall adore,
Their long miſguided pray'rs and praiſe to thy bleſt Name reſtore.
10 All ſhall confeſs thee great, and great the wonders thou haſt done:
Confeſs thee God, the God ſupreme; confeſs thee God alone.

The Second Part.

11 Teach me thy way, O Lord, and I from truth ſhall ne'er depart;
In rev'rence to thy ſacred Name devoutly fix my heart.
12 Thee will I praiſe, O Lord my God, praiſe thee with heart ſincere,
And to thy everlaſting Name eternal trophies rear.
13 Thy boundleſs mercies ſhown to me tranſcend my pow'r to tell,
For thou haſt oft redeem'd my ſoul from loweſt depths of hell.
14 O God, the ſons of pride and ſtrife have my deſtruction ſought,
Regardleſs of thy pow'r, that oft has my deliv'rance wrought.
15 But thou thy conſtant goodneſs didſt to my aſſiſtance bring;
Of patience, mercy, and of truth, thou everlaſting ſpring!
16 O bounteous Lord, thy grace and ſtrength to me thy ſervant ſhow;
Thy kind protection, Lord, on me, thine handmaid's ſon, beſtow.
17 Some ſignal give, which my proud foes may ſee with ſhame and rage,
When thou, O Lord, for my relief and comfort doſt engage.

PSALM LXXXVII.

GOD's temple crowns the holy mount, the Lord there condeſcends to dwell;
2 His Sion's gates, in his account, our Iſrael's faireſt tents excel.
3 Fame glorious things of thee ſhall ſing, O city of th' Almighty King!
4 I'll mention Rahab with due praiſe, in Babylon's applauſes join,
The fame of Ethiopia raiſe, with that of Tyre and Paleſtine;
And grant that ſome amongſt them born their age and country did adorn.
5, 6 But ſtill of Sion I'll aver, that many ſuch from her proceed;
Th' Almighty ſhall eſtabliſh her: his gen'ral liſt ſhall ſhew, when read,
That ſuch a perſon there was born, and ſuch did ſuch an age adorn.
7 He'll Sion find with numbers fill'd of ſuch as merit high renown;
For hand and voice muſicians ſkill'd, and (her tranſcending fame to crown)
Of ſuch ſhe ſhall ſucceſſions bring, like waters from a living ſpring.

PSALM LXXXVIII.

TO thee, my God and Saviour, I by day and night addreſs my cry;
2 Vouchſafe my mournful voice to hear, to my diſtreſs incline thine ear:
3 For ſeas of trouble me invade, my ſoul draws nigh to death's cold ſhade.
4 Like one whoſe ſtrength and hopes are fled, they number me among the dead.

5 Like thoſe who, ſhrouded in the grave, from thee no more remembrance have;
6 Caſt off from thy ſuſtaining care down to the confines of deſpair.
7 Thy wrath has hard upon me lain, afflicting me with reſtleſs pain:
Me all thy mountain waves have preſt, too weak, alas! to bear the leaſt.
8 Remov'd from friends, I ſigh alone in a loath'd dungeon laid, where none
A viſit will vouchſafe to me, confin'd, paſt hopes of liberty.
9 My eyes from weeping never ceaſe, they waſte, but ſtill my griefs increaſe;
Yet daily, Lord, to thee I pray'd, with out-ſtretch'd hands invok'd thy aid.
10 Wilt thou by miracle revive the dead, whom thou forſook'ſt alive?
From death reſtore, thy praiſe to ſing, whom thou from priſon would'ſt not bring?
11 Shall the mute grave thy love confeſs? a mould'ring tomb thy faithfulneſs?
12 Thy truth and pow'r renown obtain, where darkneſs and oblivion reign?
13 To thee, O Lord, I cry forlorn: my pray'r prevents the early morn.
14 Why haſt thou, Lord, my ſoul forſook, nor once vouchſaf'd a gracious look?
15 Prevailing ſorrows bear me down, which from my youth with me have grown;
Thy terrors paſt diſtract my mind, and fears of blacker days behind.
16 Thy wrath hath burſt upon my head, thy terrors fill my ſoul with dread;
17 Environ'd as with waves combin'd, and for a gen'ral deluge join'd.
18 My lovers, friends, familiars, all remov'd from ſight, and out of call;
To dark oblivion all retir'd, dead, or at leaſt to me expir'd.

PSALM LXXXIX.

THY mercies, Lord, ſhall be my ſong, my ſong on them ſhall ever dwell;
To ages yet unborn my tongue thy never-failing truth ſhall tell.
2 I have affirm'd, and ſtill maintain, thy mercy ſhall for ever laſt;
Thy truth, that does the heav'ns ſuſtain, like them ſhall ſtand for ever faſt.
3 Thus ſpak'ſt thou by the prophet's voice, "With David I a league have made;
"To him, my ſervant and my choice, by ſolemn oath this grant convey'd:
4 "While earth, and ſeas, and ſkies endure, thy ſeed ſhall in my ſight remain;
"To them thy throne I will inſure; they ſhall to endleſs ages reign."
5 For ſuch ſtupendous truth and love both heav'n and earth juſt praiſes owe,
By choirs of angels ſung above, and by aſſembled ſaints below.
6 What ſeraph of celeſtial birth to vie with Iſrael's God ſhall dare?
Or who among the gods of earth with our Almighty Lord compare?
7 With rev'rence and religious dread his ſaints ſhould to his temple preſs;
His fear through all their hearts ſhould ſpread, who his Almighty Name confeſs.
8 Lord God of armies, who can boaſt of ſtrength or pow'r like thine renown'd?
Of ſuch a num'rous faithful hoſt, as that which does thy throne ſurround.
9 Thou doſt the lawleſs ſea control, and change the proſpect of the deep;
Thou mak'ſt the ſleeping billows roll; Thou mak'ſt the rolling billows ſleep.
10 Thou brak'ſt in pieces Rahab's pride, and didſt oppreſſing pow'r diſarm;
Thy ſcatter'd foes have dearly try'd the force of thy reſiſtleſs arm.
11 In thee the ſov'reign right remains of earth and heav'n; thee, Lord, alone,
The world, and all that it contains, their maker and preſerver own.
12 The poles on which the globe doth reſt were form'd by thy creating voice;
Tabor and Hermon, eaſt and weſt, in thy ſuſtaining pow'r rejoice.
13 Thy arm is mighty, ſtrong thy hand, yet, Lord, thou doſt with juſtice reign;
14 Poſſeſs'd of abſolute command, thou truth and mercy doſt maintain.
15 Happy, thrice happy, they who hear thy ſacred trumpet's joyful ſound;
Who may at feſtivals appear, with thy moſt glorious preſence crown'd!

16 Thy ſaints ſhall always be o'erjoy'd, who on thy ſacred Name rely;
And, in thy righteouſneſs employ'd, above their foes be rais'd on high.
17 For in thy ſtrength they ſhall advance, whoſe conqueſts from thy favour ſpring;
18 The Lord of hoſts is our defence, and Iſrael's God our Iſrael's King.
19 Thus ſpak'ſt thou by the prophet's voice: "A mighty champion I will ſend;
"From Judah's tribe have I made choice of one who ſhall the reſt defend.
20 "My ſervant David I have found, with holy oil anointed him;
21 "Him ſhall the hand ſupport that crown'd, and guard that gave the diadem.
22 "No prince from him ſhall tribute force, no ſon of ſtrife ſhall him annoy;
23 "His ſpiteful foes I will diſperſe, and them before his face deſtroy.
24 "My truth and grace ſhall him ſuſtain; his armies, in well order'd ranks,
25 "Shall conquer from the Tyrian main, to Tigris and Euphrates' banks.
26 "Me for his father he ſhall take, his God and rock of ſafety call;
27 "Him I my firſt-born ſon will make, and earthly kings his ſubjects all.
28 "To him my mercy I'll ſecure, my cov'nant make for ever faſt:
29 "His ſeed for ever ſhall endure; his throne, till heav'n diſſolves, ſhall laſt.

The Second Part.

30 "But if his heirs my law forſake, and from my ſacred precepts ſtray;
31 "If they my righteous ſtatutes break, nor ſtrictly my commands obey:
32 "Their ſins I'll viſit with a rod, and for their folly make them ſmart;
33 "Yet will not ceaſe to be their God, nor from my truth, like them, depart.
34 "My cov'nant I will ne'er revoke, but in remembrance faſt retain:
"The thing that once my lips have ſpoke ſhall in eternal force remain.
35 "Once have I ſworn, but once for all, and made my holineſs the tie,
"That I my grant will ne'er recall, nor to my ſervant David lie.
36 "Whoſe throne and race the conſtant ſun ſhall, like his courſe, eſtabliſh'd ſee;
37 "Of this my oath, thou conſcious moon, in heav'n my faithful witneſs be."
38 Such was thy gracious promiſe, Lord; but thou haſt now our tribes forſook;
Thy own anointed haſt abhorr'd, and turn'd on him thy wrathful look.
39 Thou ſeemeſt to have render'd void the cov'nant with thy ſervant made;
Thou haſt his dignity deſtroy'd, and in the duſt his honour laid.
40 Of ſtrong holds thou haſt him bereft, and brought his bulwarks to decay;
41 His frontier coaſts defenceleſs left, a publick ſcorn and common prey.
42 His ruin does glad triumphs yield to foes advanc'd by thee to might;
43 Thou haſt his conqu'ring ſword unſteel'd, his valour turn'd to ſhameful flight.
44 His glory is to darkneſs fled, his throne is levell'd with the ground; [drown'd.
45 His youth to wretched bondage led, with ſhame o'erwhelm'd and ſorrow
46 How long ſhall we thy abſence mourn? wilt thou for ever, Lord, retire?
Shall thy conſuming anger burn, till that and we at once expire?
47 Conſider, Lord, how ſhort a ſpace thou doſt for mortal life ordain;
No method to prolong the race, but loading it with grief and pain.
48 What man is he that can control death's ſtrict unalterable doom?
Or reſcue from the grave his ſoul, the grave that muſt mankind entomb?
49 Lord, where's thy love, thy boundleſs grace, the oath to which thy truth did ſeal,
Conſign'd to David and his race, the grant which time ſhould ne'er repeal?
50 See how thy ſervants treated are with infamy, reproach, and ſpite;
Which in my ſilent breaſt I bear from nations of licentious might.
51 How they, reproaching thy great Name, have made thy ſervant's hope their jeſt,
52 Yet thy juſt praiſes we'll proclaim, and ever ſing, "The Lord be bleſt."

Amen, Amen.

PSALM XC.

O Lord, the saviour and defence of us thy chosen race,
From age to age thou still hast been our sure abiding-place.
2 Before thou brought'st the mountains forth, or th' earth and world didst frame,
Thou always wert the mighty God, and ever art the same.
3 Thou turnest man, O Lord, to dust, of which he first was made;
And when thou speak'st the word, "Return," 'tis instantly obey'd.
4 For in thy sight a thousand years are like a day that's past,
Or like a watch in dead of night, whose hours unminded waste.
5 Thou sweep'st us off as with a flood, we vanish hence like dreams;
At first we grow like grass that feels the sun's reviving beams:
6 But howsoever fresh and fair its morning beauty shews;
'Tis all cut down and wither'd quite before the ev'ning close.
7, 8 We by thine anger are consum'd, and by thy wrath dismay'd:
Our publick crimes and secret sins before thy sight are laid.
9 Beneath thy anger's sad effects our drooping days we spend;
Our unregarded years break off, like tales that quickly end.
10 Our term of life is seventy years, an age that few survive;
But if, with more than common strength, to eighty we arrive;
Yet then our boasted strength decays, to sorrow turn'd, and pain:
So soon the slender thread is cut, and we no more remain.

The Second Part.

11 But who thy anger's dread effects does, as he ought, revere?
And yet thy wrath does fall or rise, as more or less we fear.
12 So teach us, Lord, th' uncertain sum of our short days to mind,
That to true wisdom all our hearts may ever be inclin'd.
13 O to thy servants, Lord, return, and speedily relent!
As we of our misdeeds, do thou of our just doom repent.
14 To satisfy and cheer our souls thy early mercy send;
That we may all our days to come in joy and comfort spend.
15 Let happy times, with large amends, dry up our former tears,
Or equal at the least the term of our afflicted years.
16 To all thy servants, Lord, let this thy wondrous work be known,
And to our offspring yet unborn thy glorious pow'r be shown.
17 Let thy bright rays upon us shine; give thou our work success:
The glorious work we have in hand do thou vouchsafe to bless.

PSALM XCI.

HE that has God his guardian made, shall under the Almighty shade
Secure and undisturb'd abide.
2 Thus to my soul of him I'll say, He is my fortress and my stay,
My God, in whom I will confide.
3 His tender love and watchful care shall free thee from the fowler's snare,
And from the noisome pestilence:
4 He over thee his wings shall spread, and cover thy unguarded head;
His truth shall be thy strong defence.
5 No terrors that surprise by night shall thy undaunted courage fright,
Nor deadly shafts that fly by day;
6 Nor plague of unknown rise, that kills in darkness, nor infectious ills
That in the hottest season slay.

7 A thousand at thy side shall die, at thy right hand ten thousand lie,
While thy firm health untouch'd remains;
8 Thou only shalt look on and see the wicked's dismal tragedy,
And count the sinner's mournful gains.
9 Because (with well-plac'd confidence) thou mak'st the Lord thy sure defence,
And on the Highest dost rely;
10 Therefore no ill shall thee befall, nor to thy healthful dwelling shall
Any infectious plague draw nigh.
11 For he, throughout thy happy days, to keep thee safe in all thy ways
Shall give his angels strict commands; [feet,
12 And they, lest thou should'st chance to meet with some rough stone to wound thy
Shall bear thee safely in their hands.
13 Dragons and asps, that thirst for blood, and lions roaring for their food,
Beneath his conqu'ring feet shall lie;
14 Because he lov'd and honour'd me, therefore, says God, I'll set him free,
And fix his glorious throne on high.
15 He'll call; I'll answer, when he calls, and rescue him when ill befalls;
Increase his honour and his wealth:
16 And when with undisturb'd content his long and happy life is spent,
His end I'll crown with saving health.

PSALM XCII.

HOW good and pleasant must it be to thank the Lord most high;
And with repeated hymns of praise his Name to magnify!
2 With every morning's early dawn his goodness to relate;
And of his constant truth each night the glad effects repeat!
3 To ten-string'd instruments we'll sing, with tuneful psalt'ries join'd;
And to the harp with solemn sounds, for sacred use design'd.
4 For through thy wondrous works, O Lord, thou mak'st my heart rejoice;
The thoughts of them shall make me glad, and shout with cheerful voice.
5, 6 How wondrous are thy works, O Lord! how deep are thy decrees!
Whose winding tracks, in secret laid, no stupid sinner sees.
7 He little thinks, when wicked men, like grass, look fresh and gay,
How soon their short-liv'd splendour must for ever pass away.
8, 9 But thou, my God, art still most high, and all thy lofty foes,
Who thought they might securely sin, shall be o'erwhelm'd with woes.
10 Whilst thou exalt'st my sov'reign pow'r, and mak'st it largely spread;
And with refreshing oil anoint'st my consecrated head;
11 I soon shall see my stubborn foes to utter ruin brought,
And hear the dismal end of those who have against me fought.
12 But righteous men, like fruitful palms, shall make a glorious show;
As cedars that in Lebanon in stately order grow.
13, 14 These, planted in the house of God, within his courts shall thrive;
Their vigour and their lustre both shall in old age revive.
15 Thus will the Lord his justice show; and God, my strong defence,
Shall due rewards to all the world impartially dispense.

PSALM XCIII.

WITH glory clad, with strength array'd, the Lord, that o'er all nature reigns,
The world's foundations strongly laid, and the vast fabrick still sustains.
2 How surely stablish'd is thy throne, which shall no change or period see!
For thou, O Lord, and thou alone, art God from all eternity.

3, 4 The floods, O Lord, lift up their voice, and toſs the troubled waves on high;
But God above can ſtill their noiſe, and make the angry ſea comply.
5 Thy promiſe, Lord, is ever ſure, and they that in thy houſe would dwell,
That happy ſtation to ſecure, muſt ſtill in holineſs excel.

PSALM XCIV.

1, 2 O God, to whom revenge belongs, thy vengeance now diſcloſe;
Ariſe, thou Judge of all the earth, and cruſh thy haughty foes.
3, 4 How long, O Lord, ſhall ſinful men their ſolemn triumphs make?
How long their wicked actions boaſt, and inſolently ſpeak?
5, 6 Not only they thy ſaints oppreſs, but unprovok'd they ſpill
The widow's and the ſtranger's blood, and helpleſs orphans kill.
7 "And yet the Lord ſhall ne'er perceive," (profanely thus they ſpeak,)
"Nor any notice of our deeds the God of Jacob take."
8 At length, ye ſtupid fools, your wants endeavour to diſcern;
In folly will you ſtill proceed, and wiſdom never learn?
9, 10 Can he be deaf, who form'd the ear? or blind, who fram'd the eye?
Shall earth's great Judge not puniſh thoſe who his known will defy?
11 He fathoms all the thoughts of men, to him their hearts lie bare;
His eye ſurveys them all, and ſees how vain their counſels are.

The Second Part.

12 Bleſs'd is the man, whom thou, O Lord, in kindneſs doſt chaſtiſe,
And by thy ſacred rules to walk doſt lovingly adviſe.
13 This man ſhall reſt and ſafety find in ſeaſons of diſtreſs,
Whilſt God prepares a pit for thoſe that ſtubbornly tranſgreſs.
14 For God will never from his ſaints his favour wholly take;
His own poſſeſſion and his lot he will not quite forſake.
15 The world ſhall then confeſs thee juſt in all that thou haſt done;
And thoſe that chooſe thy upright ways ſhall in thoſe paths go on.
16 Who will appear in my behalf when wicked men invade?
Or who, when ſinners would oppreſs, my righteous cauſe ſhall plead?
17, 18, 19 Long ſince had I in ſilence ſlept, but that the Lord was near,
To ſtay me when I ſlipt: when ſad, my troubled heart to cheer.
20 Wilt thou, who art a God moſt juſt, their ſinful throne ſuſtain,
Who make the law a fair pretence their wicked ends to gain?
21 Againſt the lives of righteous men they form their cloſe deſign;
And, blood of innocents to ſpill, in ſolemn league combine.
22 But my defence is firmly plac'd in God the Lord moſt high;
He is my rock, to which I may for refuge always fly.
23 The Lord ſhall cauſe their ill deſigns on their own heads to fall;
He in their ſins ſhall cut them off, our God ſhall ſlay them all.

PSALM XCV.

O Come, loud anthems let us ſing, loud thanks to our Almighty King;
For we our voices high ſhould raiſe when our ſalvation's rock we praiſe.
2 Into his preſence let us haſte, to thank him for his favours paſt;
To him addreſs, in joyful ſongs, the praiſe that to his Name belongs.
3 For God, the Lord, enthron'd in ſtate is with unrivall'd glory great;
A King, ſuperior far to all, whom gods the heathen falſely call.
4 The depths of earth are in his hand, her ſecret wealth at his command;
The ſtrength of hills that reach the ſkies ſubjected to his empire lies.

5 The rolling ocean's vaſt abyſs by the ſame ſov'reign right is his:
'Tis mov'd by his Almighty hand, that form'd and fix'd the ſolid land.
6 O let us to his courts repair, and bow with adoration there;
Down on our knees devoutly all before the Lord our Maker fall.
7 For he's our God, our ſhepherd he, his flock and paſture ſheep are we;
If then you'll (like his flock) draw near, to-day if you his voice will hear,
8 Let not your harden'd hearts renew your fathers' crimes and judgments too;
Nor here provoke my wrath, as they in deſert plains of Meribah.
9 When through the wilderneſs they mov'd, and me with freſh temptations prov'd,
They ſtill, through unbelief, rebell'd, while they my wondrous works beheld.
10, 11 They forty years my patience griev'd, though daily I their wants reliev'd;
Then,—'Tis a faithleſs race, I ſaid, whoſe heart from me has always ſtray'd.
12 They ne'er will tread my righteous path; therefore to them, in ſettled wrath,
Since they deſpis'd my reſt, I ſware that they ſhould never enter there.

PSALM XCVI.

SING to the Lord a new-made ſong; let earth, in one aſſembled throng,
Her common Patron's praiſe reſound.
2 Sing to the Lord, and bleſs his Name, from day to day his praiſe proclaim,
Who us has with ſalvation crown'd.
3 To heathen lands his fame rehearſe, his wonders to the univerſe.
4 He's great, and greatly to be prais'd; in majeſty and glory rais'd
Above all other deities.
5 For pageantry and idols all are they whom gods the heathen call;
He only rules who made the ſkies.
6 With majeſty and honour crown'd, beauty and ſtrength his throne ſurround.
7 Be therefore both to him reſtor'd, by you who have falſe gods ador'd;
Aſcribe due honour to his Name:
8 Peace off'rings on his altar lay, before his throne your homage pay,
Which he, and he alone, can claim.
9 To worſhip at his ſacred court let all the trembling world reſort.
10 Proclaim aloud, Jehovah reigns, whoſe pow'r the univerſe ſuſtains,
And baniſh'd juſtice will reſtore.
11 Let therefore heav'n new joys confeſs, and heav'nly mirth let earth expreſs;
Its loud applauſe the ocean roar:
Its mute inhabitants rejoice, and for this triumph find a voice.
12 For joy let fertile vallies ſing, the cheerful groves their tribute bring;
The tuneful choir of birds awake,
13 The Lord's approach to celebrate; who now ſets out with awful ſtate,
His circuit through the earth to take.
From heav'n to judge the world he's come, with juſtice to reward and doom.

PSALM XCVII.

JEHOVAH reigns, let all the earth in his juſt government rejoice;
Let all the iſles, with ſacred mirth, in his applauſe unite their voice.
2 Darkneſs and clouds of awful ſhade his dazzling glory ſhroud in ſtate;
Juſtice and truth his guards are made, and, fix'd by his pavilion, wait.
3 Devouring fire before his face his foes around with vengeance ſtruck;
4 His lightnings ſet the world on blaze; earth ſaw it, and with terror ſhook.
5 The proudeſt hills his preſence felt, their height nor ſtrength could help afford;
The proudeſt hills like wax did melt in preſence of th' Almighty Lord.
6 The heav'ns, his righteouſneſs to ſhow, with ſtorms of fire our foes purſu'd;
And all the trembling world below have his deſcending glory view'd.

7 Confounded be their impious hosts, who make the gods to whom they pray;
All who of pageant idols boast, to him, ye gods, your worship pay.
8 Glad Sion of thy triumph heard, and Judah's daughters were o'erjoy'd;
Because thy righteous judgments, Lord, have Pagan pride and pow'r destroy'd.
9 For thou, O God, art seated high, above earth's potentates enthron'd;
Thou, Lord, unrivall'd in the sky, supreme by all the gods art own'd.
10 You, who to serve this Lord aspire, abhor what's ill, and truth esteem;
He'll keep his servants' souls entire, and them from wicked hands redeem.
11 For seeds are sown of glorious light, a future harvest for the just;
And gladness for the heart that's right, to recompense its pious trust.
12 Rejoice, ye righteous, in the Lord: memorials of his holiness
Deep in your faithful breasts record, and with your thankful tongues confess.

PSALM XCVIII.

SING to the Lord a new made song, who wondrous things has done;
With his right hand and holy arm the conquest he has won.
2 The Lord has through th' astonish'd world display'd his saving might,
And made his righteous acts appear in all the heathen's sight.
3 Of Israel's house his love and truth have ever mindful been;
Wide earth's remotest parts the pow'r of Israel's God have seen.
4 Let therefore earth's inhabitants their cheerful voices raise,
And all with universal joy resound their Maker's praise.
5 With harp and hymn's soft melody into the concert bring,
6 The trumpet and shrill cornet's sound, before th' Almighty King.
7 Let the loud ocean roar her joy, with all that seas contain;
The earth and her inhabitants join concert with the main.
8 With joy let riv'lets swell to streams, to spreading torrents they;
And echoing vales from hill to hill redoubled shouts convey;
9 To welcome down the world's great Judge, who does with justice come,
And with impartial equity both to reward and doom.

PSALM XCIX.

JEHOVAH reigns, let therefore all the guilty nations quake:
On cherubs' wings he sits enthron'd; let earth's foundations shake.
2 On Sion's hill he keeps his court, his palace makes her tow'rs;
Yet thence his sov'reignty extends supreme o'er earthly pow'rs.
3 Let therefore all with praise address his great and dreadful Name;
And with his unresisted might his holiness proclaim.
4 For truth and justice in his reign of strength and pow'r take place;
His judgments are with righteousness dispens'd to Jacob's race.
5 Therefore exalt the Lord our God, before his footstool fall;
And with his unresisted might his holiness extol.
6 Moses and Aaron thus of old among his priests ador'd;
Among his prophets Samuel thus his sacred Name implor'd.
Distress'd, upon the Lord they call'd, who ne'er their suit deny'd;
But, as with rev'rence they implor'd, he graciously reply'd.
7 For with their camp, to guide their march, the cloudy pillar mov'd:
They kept his laws, and to his will obedient servants prov'd.
8 He answer'd them, forgiving oft his people for their sake;
And those who rashly them oppos'd, did sad examples make.
9 With worship at his sacred courts exalt our God and Lord;
For he, who only holy is, alone should be ador'd.

PSALM C.

1, 2 WITH one consent let all the earth to God their cheerful voices raise;
Glad homage pay with awful mirth, and sing before him songs of praise.
3 Convinc'd that he is God alone, from whom both we and all proceed;
We, whom he chooses for his own, the flock that he vouchsafes to feed.
4 O enter then his temple gate, thence to his courts devoutly press,
And still your grateful hymns repeat, and still his Name with praises bless.
5 For he's the Lord, supremely good, his mercy is for ever sure:
His truth, which always firmly stood, to endless ages shall endure.

PSALM CI.

OF mercy's never-failing spring, and steadfast judgment I will sing;
And since they both to thee belong, to thee, O Lord, address my song.
2 When, Lord, thou shalt with me reside, wise discipline my reign shall guide;
With blameless life myself I'll make a pattern for my court to take.
3 No ill design will I pursue, nor those my fav'rites make that do.
4 Who to reproof bears no regard, him will I totally discard.
5 The private slanderer shall be in publick justice doom'd by me.
From haughty looks I'll turn aside, and mortify the heart of pride.
6 But honesty, call'd from her cell, in splendour at my court shall dwell:
Who virtue's practice make their care, shall have the first preferments there.
7 No politicks shall recommend his country's foe to be my friend:
None e'er shall to my favour rise by flatt'ring or malicious lies.
8 All those who wicked courses take an early sacrifice I'll make;
Cut off, destroy, till none remain God's holy city to profane.

PSALM CII.

WHEN I pour out my soul in pray'r, do thou, O Lord, attend;
To thy eternal throne of grace let my sad cry ascend.
2 O hide not thou thy glorious face in times of deep distress;
Incline thine ear, and, when I call, my sorrows soon redress.
3 Each cloudy portion of my life like scatter'd smoke expires;
My shrivell'd bones are like a hearth parch'd with continual fires.
4 My heart, like grass that feels the blast of some infectious wind,
Does languish so with grief, that scarce my needful food I mind.
5 By reason of my sad estate I spend my breath in groans;
My flesh is worn away, my skin scarce hides my starting bones.
6 I'm like a pelican become, that does in deserts mourn;
Or like an owl, that sits all day on barren trees forlorn.
7 In watchings or in restless dreams the night by me is spent,
As by those solitary birds that lonesome roofs frequent.
8 All day by railing foes I'm made the subject of their scorn;
Who all, possess'd with furious rage, have my destruction sworn.
9 When grov'ling on the ground I lie, oppress'd with grief and fears,
My bread is strew'd with ashes o'er, my drink is mix'd with tears.
10 Because on me with double weight thy heavy wrath doth lie;
For thou, to make my fall more great, didst lift me up on high.
11 My days, just hast'ning to their end, are like an ev'ning shade;
My beauty does, like wither'd grass, with waning lustre fade.
12 But thy eternal state, O Lord, no length of time shall waste;
The mem'ry of thy wondrous works from age to age shall last.

13 Thou ſhalt ariſe, and Sion view — with an unclouded face;
For now her time is come, thy own — appointed day of grace.
14 Her ſcatter'd ruins by thy ſaints — with pity are ſurvey'd;
They grieve to ſee her lofty ſpires — in duſt and rubbiſh laid.

15, 16 The Name and glory of the Lord — all heathen kings ſhall fear;
When he ſhall Sion build again, — and in full ſtate appear.
17, 18 When he regards the poor's requeſt, — nor ſlights their earneſt pray'r;
Our ſons, for this recorded grace, — ſhall his juſt praiſe declare.

19 For God, from his abode on high, — his gracious beams diſplay'd:
The Lord from heav'n, his lofty throne, — has all the earth ſurvey'd.
20 He liſten'd to the captives' moans, — he heard their mournful cry,
And freed by his reſiſtleſs pow'r — the wretches doom'd to die.

21 That they in Sion, where he dwells, — might celebrate his fame,
And through the holy city ſing — loud praiſes to his Name.
22 When all the tribes aſſembling there — their ſolemn vows addreſs,
And neighb'ring lands, with glad conſent, — the Lord their God confeſs.

23 But, ere my race is run, my ſtrength — through his fierce wrath decays;
He has, when all my wiſhes bloom'd, — cut ſhort my hopeful days.
24 Lord, end not thou my life, ſaid I, — when half is ſcarcely paſt:
Thy years, from worldly changes free, — to endleſs ages laſt.

25 The ſtrong foundations of the earth — of old by thee were laid;
Thy hands the beauteous arch of heav'n — with wondrous ſkill have made.
26, 27 Whilſt thou for ever ſhalt endure, — they ſoon ſhall paſs away;
And, like a garment often worn, — ſhall tarniſh and decay.

Like that, when thou ordain'ſt their change, — to thy command they bend:
But thou continu'ſt ſtill the ſame, — nor have thy years an end.
28 Thou to the children of thy ſaints — ſhall laſting quiet give;
Whoſe happy race, ſecurely fix'd, — ſhall in thy preſence live.

PSALM CIII.

1, 2 MY ſoul, inſpir'd with ſacred love, — God's holy Name for ever bleſs;
Of all his favours mindful prove, — and ſtill thy grateful thanks expreſs.
3, 4 'Tis he that all thy ſins forgives, — and after ſickneſs makes thee ſound;
From danger he thy life retrieves, — by him with grace and mercy crown'd.

5, 6 He with good things thy mouth ſupplies; — thy vigour, eagle-like, renews:
He, when the guiltleſs ſuff'rer cries, — his foe with juſt revenge purſues.
7 God made of old his righteous ways — to Moſes and our fathers known;
His works, to his eternal praiſe, — were to the ſons of Jacob ſhown.

8 The Lord abounds with tender love, — and unexampled acts of grace;
His waken'd wrath does ſlowly move, — his willing mercy flows apace.
9, 10 God will not always harſhly chide, — but with his anger quickly part;
And loves his puniſhments to guide — more by his love than our deſert.

11 As high as heav'n its arch extends — above this little ſpot of clay,
So much his boundleſs love tranſcends — the ſmall reſpects that we can pay.
12, 13 As far as 'tis from eaſt to weſt, — ſo far has he our ſins remov'd,
Who with a father's tender breaſt — has ſuch as fear him always lov'd.

14, 15 For God, who all our frame ſurveys, — conſiders that we are but clay;
How freſh ſoe'er we ſeem, our days — like graſs or flowers muſt fade away.
16, 17 Whilſt they are nipt with ſudden blaſts, — nor can we find their former place;
God's faithful mercy ever laſts — to thoſe that fear him, and their race.

18 This ſhall attend on ſuch as ſtill — proceed in his appointed way;
And who not only know his will, — but to it juſt obedience pay.

19, 20 The Lord, the universal King, in heav'n has fix'd his lofty throne:
To him, ye angels, praises sing, in whose great strength his pow'r is shown.
Ye that his just commands obey, and hear and do his sacred will,
21 Ye hosts of his, this tribute pay, who still what he ordains fulfil.
22 Let ev'ry creature jointly bless the mighty Lord: and thou, my heart,
With grateful joy thy thanks express, and in this concert bear thy part.

PSALM CIV.

BLESS God, my soul; thou, Lord, alone possessest empire without bounds;
With honour thou art crown'd, thy throne eternal majesty surrounds.
2 With light thou dost thyself enrobe, and glory for a garment take;
Heav'n's curtains stretch beyond the globe, thy canopy of state to make.
3 God builds on liquid air, and forms his palace chambers in the skies;
The clouds his chariot are, and storms the swift-wing'd steeds with which he flies.
4 As bright as flame, and swift as wind, his ministers heaven's palace fill,
To have their sundry tasks assign'd; all proud to serve their sov'reign's will.
5, 6 Earth on her centre fix'd he set, her face with waters overspread,
Nor proudest mountains dar'd, as yet, to lift above the waves their head.
7 But when thy awful face appear'd, th' insulting waves dispers'd; they fled,
When once thy thunder's voice they heard, and by their haste confess'd their dread.
8 Thence up by secret tracks they creep, and, gushing from the mountain's side,
Through vallies travel to the deep, appointed to receive their tide.
9 There hast thou fix'd the ocean's bounds, the threat'ning surges to repel;
That they no more o'erpass their mounds, nor to a second deluge swell.

The Second Part.

10 Yet thence, in smaller parties drawn, the sea recovers her lost hills;
And starting springs from ev'ry lawn surprise the vales with plenteous rills.
11 The fields' tame beasts are thither led, weary with labour, faint with drought:
And asses, on wild mountains bred, have sense to find these currents out.
12 Their shady trees, from scorching beams, yield shelter to the feather'd throng;
They drink, and to the bounteous streams return the tribute of their song.
13 His rains from heav'n parch'd hills recruit, that soon transmit the liquid store,
Till earth is burden'd with her fruit, and nature's lap can hold no more.
14 Grass for our cattle to devour, he makes the growth of ev'ry field;
Herbs for man's use, of various pow'r, that either food or physick yield.
15 With cluster'd grapes he crowns the vine, to cheer man's heart, oppress'd with cares;
Gives oil that makes his face to shine, and corn that wasted strength repairs.

The Third Part.

16 The trees of God, without the care or art of man, with sap are fed;
The mountain cedar looks as fair as those in royal gardens bred.
17 Safe in the lofty cedar's arms the wand'rers of the air may rest;
The hospitable pine from harms protects the stork, her pious guest.
18 Wild goats the craggy rocks ascend, its tow'ring heights their fortress make,
Whose cells in labyrinths extend, where feebler creatures refuge take.
19 The moon's inconstant aspect shows th' appointed seasons of the year;
Th' instructed sun his duty knows, his hours to rise and disappear.
20, 21 Darkness he makes the earth to shroud, when forest beasts securely stray;
Young lions roar their wants aloud to Providence, that sends them prey.
22 They range all night, on slaughter bent, till, summon'd by the rising morn,
To sculk in dens, with one consent, the conscious ravagers return.

23 Forth to the tillage of his ſoil the huſbandman ſecurely goes,
Commencing with the ſun his toil, with him returns to his repoſe.
24 How various, Lord, thy works are found, for which thy wiſdom we adore;
The earth is with thy treaſure crown'd, till nature's hand can graſp no more!

The Fourth Part.

25 But ſtill the vaſt unfathom'd main of wonders a new ſcene ſupplies;
Whoſe depths inhabitants contain of ev'ry form and ev'ry ſize.
26 Full-freighted ſhips from ev'ry port there cut their unmoleſted way;
Leviathan, whom there to ſport thou mad'ſt, has compaſs there to play.

27 Theſe various troops of ſea and land in ſenſe of common want agree:
All wait on thy diſpenſing hand, and have their daily alms from thee.
28 They gather what thy ſtores diſperſe, without their trouble to provide:
Thou op'ſt thy hand, the univerſe, the craving world, is all ſupply'd.

29 Thou for a moment hid'ſt thy face, the num'rous ranks of creatures mourn;
Thou tak'ſt their breath, all nature's race forthwith to mother earth return.
30 Again thou ſend'ſt thy Spirit forth t' inſpire the maſs with vital ſeed;
Nature's reſtor'd, and parent earth ſmiles on her new-created breed.

31 Thus through ſucceſſive ages ſtands, firm fix'd, thy providential care;
Pleas'd with the work of thy own hands, thou doſt the waſtes of time repair.
32 One look of thine, one wrathful look, earth's panting breaſt with terror fills;
One touch from thee, with clouds of ſmoke in darkneſs ſhrouds the proudeſt hills.

33 In praiſing God, while he prolongs my breath, I will that breath employ;
34 And join devotion to my ſongs, ſincere as is in him my joy.
35 While ſinners from earth's face are hurl'd, my ſoul, praiſe thou his holy Name,
Till with my ſong the liſt'ning world join concert, and his praiſe proclaim.

PSALM CV.

O Render thanks, and bleſs the Lord; invoke his ſacred Name;
Acquaint the nations with his deeds, his matchleſs deeds proclaim.
2 Sing to his praiſe, in lofty hymns his wondrous works rehearſe;
Make them the theme of your diſcourſe, and ſubject of your verſe.

3 Rejoice in his Almighty Name, alone to be ador'd;
And let their heart o'erflow with joy that humbly ſeek the Lord,
4 Seek ye the Lord, his ſaving ſtrength devoutly ſtill implore;
And, where he's ever preſent, ſeek his face for evermore.

5 The wonders that his hands have wrought keep thankfully in mind;
The righteous ſtatutes of his mouth, and laws to us aſſign'd.
6 Know ye, his ſervant Abr'am's ſeed, and Jacob's choſen race;
7 He's ſtill our God, his judgments ſtill throughout the earth take place.

8 His cov'nant he hath kept in mind for num'rous ages paſt;
Which yet for thouſand ages more in equal force ſhall laſt.
9 Firſt ſign'd to Abr'am, next by oath to Iſaac made ſecure;
10 To Jacob and his heirs a law for ever to endure.

11 That Canaan's land ſhould be their lot, when yet but few they were;
12 But few in number, and thoſe few all friendleſs ſtrangers there.
13 In pilgrimage from realm to realm ſecurely they remov'd;
14 Whilſt proudeſt monarchs for their ſakes ſeverely he reprov'd.

15 "Theſe mine anointed are, (ſaid he,) let none my ſervants wrong;
"Nor treat the pooreſt prophet ill, that does to me belong."
16 A dearth at laſt, by his command, did through the land prevail;
Till corn, the chief ſupport of life, ſuſtaining corn did fail.

17 But his indulgent providence had pious Joseph sent,
Sold into Egypt, but their death who sold him to prevent.
18 His feet with heavy chains were crush'd, with calumny his fame;
19 Till God's appointed time and word to his deliv'rance came.
20 The king his sov'reign orders sent, and rescu'd him with speed;
Whom private malice had confin'd, the people's ruler freed.
21 His court, revenues, realm, were all subjected to his will;
22 His greatest princes to control, and teach his statesmen skill.

The Second Part.

23 To Egypt then, invited guests, half-famish'd Israel came;
And Jacob held, by royal grant, the fertile soil of Ham.
24 Th' Almighty there with such increase his people multiply'd,
Till with their proud oppressors they in strength and number vy'd.
25 Their vast increase th' Egyptians' hearts with jealous anger fir'd,
Till they his servants to destroy by treach'rous arts conspir'd.
26 His servant Moses then he sent, his chosen Aaron too;
27 Empower'd with signs and miracles to prove their mission true.
28 He call'd for darkness, darkness came; nature his summons knew;
29 Each stream and lake, transform'd to blood, the wand'ring fishes slew.
30 In putrid floods, throughout the land, the pest of frogs was bred;
From noisome fens sent up to croak at Pharaoh's board and bed.
31 He gave the sign, and swarms of flies came down in cloudy hosts,
Whilst earth's enliven'd dust below bred lice through all their coasts.
32 He sent them batt'ring hail for rain, and fire for cooling dew;
33 He smote their vines and forest plants, and garden's pride o'erthrew.
34 He spake the word, and locusts came, with caterpillars join'd;
They prey'd upon the poor remains the storm had left behind.
35 From trees to herbage they descend, no verdant thing they spare;
But, like the naked fallow field, leave all the pastures bare.
36 From fields to villages and towns commission'd vengeance flew;
One fatal stroke their eldest hopes and strength of Egypt slew.
37 He brought his servants forth, enrich'd with Egypt's borrow'd wealth;
And, what transcends all treasures else, enrich'd with vig'rous health.
38 Egypt rejoic'd, in hopes to find her plagues with them remov'd;
Taught dearly now to fear worse ills by those already prov'd.
39 Their shrouding canopy by day a journeying cloud was spread;
A fiery pillar all the night their desert marches led.
40 They long'd for flesh; with ev'ning quails he furnish'd ev'ry tent;
From heav'n's own granary, each morn, the bread of angels sent.
41 He smote the rock, whose flinty breast pour'd forth a gushing tide;
Whose flowing streams, where'er they march'd, the desert's drought supply'd.
42 For still he did on Abr'am's faith an ancient league reflect;
43 He brought his people forth with joy, with triumph his elect.
44 Quite rooting out their heathen foes from Canaan's fertile soil,
To them in cheap possession gave the fruit of others' toil.
45 That they his statutes might observe, his sacred laws obey;
For benefits so vast let us our songs of praise repay.

PSALM CVI.

O Render thanks to God above, the fountain of eternal love;
Whose mercy firm through ages past has stood, and shall for ever last.
2 Who can his mighty deeds express, not only vast but numberless?
What mortal eloquence can raise his tribute of immortal praise?

3 Happy are they, and only they, who from thy judgments never ſtray:
Who know what's right, nor only ſo, but always practiſe what they know.
4 Extend to me that favour, Lord, thou to thy choſen doſt afford:
When thou return'ſt to ſet them free, let thy ſalvation viſit me.

5 O may I worthy prove to ſee thy ſaints in full proſperity;
That I the joyful choir may join, and count thy people's triumph mine.
6 But ah! can we expect ſuch grace, of parents vile the viler race;
Who their miſdeeds have acted o'er, and with new crimes increas'd the ſcore?

7 Ungrateful, they no longer thought on all his works in Egypt wrought;
The Red ſea they no ſooner view'd but they their baſe diſtruſt renew'd.
8 Yet he, to vindicate his Name, once more to their deliv'rance came,
To make his ſov'reign pow'r be known, that he is God, and he alone.

9 To right and left, at his command, the parting deep diſclos'd her ſand;
Where firm and dry the paſſage lay, as through ſome parch'd and deſert way.
10 Thus reſcu'd from their foes they were, who cloſely preſs'd upon their rear;
11 Whoſe rage purſu'd them to thoſe waves, that prov'd the raſh purſuers' graves.

12 The wat'ry mountain's ſudden fall o'erwhelm'd proud Pharaoh, hoſt and all;
This proof did ſtupid Iſrael move to own God's truth, and praiſe his love.

The Second Part.

13 But ſoon theſe wonders they forgot, and for his counſel waited not;
14 But, luſting in the wilderneſs, did him with freſh temptations preſs.
15 Strong food at their requeſt he ſent, but made their ſin their puniſhment;
16 Yet ſtill his ſaints they did oppoſe, the prieſt and prophet whom he choſe.

17 But earth, the quarrel to decide, her vengeful jaws extending wide,
Raſh Dathan to her centre drew, with proud Abiram's factious crew.
18 The reſt of thoſe who did conſpire to kindle wild ſedition's fire,
With all their impious train, became a prey to heav'n's devouring flame.

19 Near Horeb's mount a calf they made, and to the molten image pray'd;
20 Adoring what their hands did frame, they chang'd their glory to their ſhame.
21 Their God and Saviour they forgot, and all his works in Egypt wrought;
22 His ſigns in Ham's aſtoniſh'd coaſt, and where proud Pharaoh's troops were loſt.

23 Thus urg'd, his vengeful hand he rear'd, but Moſes in the breach appear'd;
The ſaint did for the rebels pray, and turn'd heav'n's kindled wrath away.
24 Yet they his pleaſant land deſpis'd, nor his repeated promiſe priz'd;
25 Nor did th' Almighty's voice obey, but when God ſaid, Go up, would ſtay.
26, 27 This ſeal'd their doom without redreſs, to periſh in the wilderneſs;
Or elſe to be by heathen hands o'erthrown, and ſcatter'd thro' the lands.

The Third Part.

28 Yet, unreclaim'd, this ſtubborn race Baal-peor's worſhip did embrace;
Became his impious gueſts, and fed on ſacrifices to the dead.
29 Thus they perſiſted to provoke God's vengeance to the final ſtroke;
'Tis come;—the deadly peſt is come, to execute their gen'ral doom.

30 But Phinehas, fir'd with holy rage, (th' Almighty vengeance to aſſwage,)
Did, by two bold offenders' fall, th' atonement make that ranſom'd all.
31 As him a heav'nly zeal had mov'd, ſo Heav'n the zealous act approv'd;
To him confirming, and his race, the prieſthood he ſo well did grace.

32 At Meribah God's wrath they mov'd, who Moſes for their ſakes reprov'd;
33 Whoſe patient ſoul they did provoke, till raſhly the meek prophet ſpoke.
34 Nor, when poſſeſs'd of Canaan's land, did they perform their Lord's command;
Nor his commiſſion'd ſword employ the guilty nations to deſtroy.

35 Nor only ſpar'd the Pagan crew, but, mingling, learnt their vices too;
36 And worſhip to thoſe idols paid, which them to fatal ſnares betray'd.
37, 38 To devils they did ſacrifice their children with relentleſs eyes;
Approach'd their altars through a flood of their own ſons' and daughters' blood.
No cheaper victims would appeaſe Canaan's remorſeleſs deities;
No blood her idols reconcile, but that which did the land defile.

The Fourth Part.

39 Nor did theſe ſavage cruelties the harden'd reprobates ſuffice;
For after their hearts' luſt they went, and daily did new crimes invent.
40 But ſins of ſuch infernal hue God's wrath againſt his people drew,
Till he, their once indulgent Lord, his own inheritance abhorr'd.
41 He them, defenceleſs, did expoſe to their inſulting heathen foes;
And made them on the triumphs wait of thoſe who bore them greateſt hate.
42 Nor thus his indignation ceas'd: their liſt of tyrants he increas'd,
Till they, who God's mild ſway declin'd, were made the vaſſals of mankind.
43 Yet when diſtreſs'd they did repent, his anger did as oft relent;
But freed, they did his wrath provoke, renew'd their ſins, and he their yoke.
44 Nor yet implacable he prov'd, nor heard their wretched cries unmov'd;
45 But did to mind his promiſe bring, and mercy's inexhauſted ſpring.
46 Compaſſion too he did impart e'en to their foes' obdurate heart,
And pity for their ſuff'rings bred in thoſe, who them to bondage led.
47 Still ſave us, Lord, and Iſrael's bands together bring from heathen lands,
So to thy Name our thanks we'll raiſe, and ever triumph in thy praiſe.
48 Let Iſrael's God be ever bleſs'd, his name eternally confeſs'd:
Let all his ſaints, with full accord, ſing loud Amens—Praiſe ye the Lord.

PSALM CVII.

TO God your grateful voices raiſe, who does your daily patron prove;
And let your never-ceaſing praiſe attend on his eternal love.
2, 3 Let thoſe give thanks whom he from bands of proud oppreſſing foes releas'd;
And brought them back from diſtant lands, from north and ſouth, and weſt and eaſt.
4, 5 Through lonely deſert ways they went, nor could a peopled city find;
Till, quite with thirſt and hunger ſpent, their fainting ſoul within them pin'd.
6 Then ſoon to God's indulgent ear did they their mournful cry addreſs;
Who graciouſly vouchſaf'd to hear, and freed them from their deep diſtreſs.
7 From crooked paths he led them forth, and in the certain way did guide
To wealthy towns of great reſort, where all their wants were well ſupply'd.
8 O then that all the earth with me would God for this his goodneſs praiſe
And for the mighty works which he throughout the wond'ring world diſplays!
9 For he from heav'n the ſad eſtate of longing ſouls with pity views;
To hungry ſouls that pant for meat, his goodneſs daily food renews.

The Second Part.

10 Some lie with darkneſs compaſs'd round, in death's uncomfortable ſhade,
And with unwieldy fetters bound, by preſſing cares more heavy made.
11, 12 Becauſe God's counſel they defy'd, and lightly priz'd his holy word,
With theſe afflictions they were try'd: they fell, and none could help afford.
13 Then ſoon to God's indulgent ear did they their mournful cry addreſs;
Who graciouſly vouchſaf'd to hear, and freed them from their deep diſtreſs.
14 From diſmal dungeons, dark as night, and ſhades as black as death's abode,
He brought them forth to cheerful light, and welcome liberty beſtow'd.

15 O then that all the earth with me would God for this his goodneſs praiſe,
And for the mighty works which he throughout the wond'ring world diſplays!
16 For he with his Almighty hand the gates of braſs in pieces broke;
Nor could the maſſy bars withſtand, or temper'd ſteel reſiſt his ſtroke.

The Third Part.

17 Remorſeleſs wretches, void of ſenſe, with bold tranſgreſſions God defy,
And, for their multiply'd offence, oppreſs'd with ſore diſeaſes lie.
18 Their ſoul, a prey to pain and fear, abhors to taſte the choiceſt meats;
And they by faint degrees draw near to death's inhoſpitable gates.
19 Then ſtraight to God's indulgent ear do they their mournful cry addreſs,
Who graciouſly vouchſafes to hear, and frees them from their deep diſtreſs.
20 He all their ſad diſtempers heals, his word both health and ſafety gives;
And, when all human ſuccour fails, from near deſtruction them retrieves.
21 O then that all the earth with me would God for this his goodneſs praiſe,
And for the mighty works which he throughout the wond'ring world diſplays!
22 With off'rings let his altar flame, whilſt they their grateful thanks expreſs,
And with loud joy his holy Name for all his acts of wonder bleſs.

The Fourth Part.

23, 24 They that in ſhips, with courage bold, o'er ſwelling waves their trade purſue,
Do God's amazing works behold, and in the deep his wonders view.
25 No ſooner his command is paſt, but forth the dreadful tempeſt flies,
Which ſweeps the ſea with rapid haſte, and makes the ſtormy billows riſe.
26 Sometimes the ſhips, toſs'd up to heav'n, on tops of mounting waves appear;
Then down the ſteep abyſs are driven; whilſt ev'ry ſoul diſſolves with fear.
27 They reel and ſtagger to and fro, like men with fumes of wine oppreſt;
Nor do the ſkilful ſeamen know which way to ſteer, what courſe is beſt.
28 Then ſtraight to God's indulgent ear they do their mournful cry addreſs;
Who graciouſly vouchſafes to hear, and frees them from their deep diſtreſs.
29, 30 He does the raging ſtorm appeaſe, and makes the billows calm and ſtill;
With joy they ſee their fury ceaſe, and their intended courſe fulfil.
31 O then that all the earth with me would God for this his goodneſs praiſe,
And for the mighty works which he throughout the wond'ring world diſplays!
32 Let them, where all the tribes reſort, advance to heav'n his glorious Name,
And in the elders' ſov'reign court, with one conſent his praiſe proclaim!

The Fifth Part.

33, 34 A fruitful land, where ſtreams abound, God's juſt revenge, if people ſin,
Will turn to dry and barren ground, to puniſh thoſe that dwell therein.
35, 36 The parch'd and deſert heath he makes to flow with ſtreams and ſpringing wells,
Which for his lot the hungry takes, and in ſtrong cities ſafely dwells.
37, 38 He ſows the field, the vineyard plants, which gratefully his toil repay;
Nor can, whilſt God his bleſſing grants, his fruitful ſeed or ſtock decay.
39 But when his ſins heav'n's wrath provoke, his health and ſubſtance fade away;
He feels th' oppreſſor's galling yoke, and is of grief the wretched prey. [throne;
40 The prince who ſlights what God commands, expos'd to ſcorn, muſt quit his
And over wild and deſert lands, where no path offers, ſtray alone.
41 Whilſt God, from all afflicting cares, ſets up the humble man on high,
And makes in time his num'rous heirs with his increaſing flocks to vie.
42, 43 Then ſinners ſhall have nought to ſay, the juſt a decent joy ſhall ſhow;
The wiſe theſe ſtrange events ſhall weigh, and thence God's goodneſs fully know.

PSALM CVIII.

O God, my heart is fully bent to magnify thy Name;
My tongue with cheerful ſongs of praiſe ſhall celebrate thy fame.
2 Awake, my lute; nor thou, my harp, thy warbling notes delay;
Whilſt I with early hymns of joy prevent the dawning day.
3 To all the liſt'ning tribes, O Lord, thy wonders I will tell;
And to thoſe nations ſing thy praiſe that round about us dwell.
4 Becauſe thy mercy's boundleſs height the higheſt heav'n tranſcends,
And far beyond th' aſpiring clouds thy faithful truth extends.
5 Be thou, O God, exalted high above the ſtarry frame;
And let the earth, with one conſent, confeſs thy glorious Name.
6 That all thy choſen people thee their Saviour may declare:
Let thy right hand protect me ſtill, and anſwer thou my pray'r.
7 Since God himſelf has ſaid the word, whoſe promiſe cannot fail,
With joy I Shechem ſhall divide, and meaſure Succoth's vale.
8 Gilead is mine, Manaſſeh too, and Ephraim owns my cauſe:
Their ſtrength my regal pow'r ſupports, and Judah gives my laws.
9 Moab I'll make my ſervile drudge, on vanquiſh'd Edom tread;
And through the proud Philiſtine lands my conqu'ring banners ſpread.
10 By whoſe ſupport and aid ſhall I their well-fenc'd city gain?
Who will my troops ſecurely lead through Edom's guarded plain?
11 Lord, wilt not thou aſſiſt our arms, which late thou didſt forſake?
And wilt not thou of theſe our hoſts once more the guidance take?
12 O, to thy ſervants in diſtreſs thy ſpeedy ſuccour ſend;
For vain it is on human aid for ſafety to depend.
13 Then valiant acts ſhall we perform, if thou thy pow'r diſcloſe;
For God it is, and God alone, that treads down all our foes.

PSALM CIX.

O God, whoſe former mercies make my conſtant praiſe thy due,
Hold not thy peace, but my ſad ſtate with wonted favour view.
2 For ſinful men, with lying lips, deceitful ſpeeches frame,
And with their ſtudied ſlanders ſeek to wound my ſpotleſs fame.
3 Their reſtleſs hatred prompts them ſtill malicious lies to ſpread;
And all againſt my life combine, by cauſeleſs fury led.
4 Thoſe whom with tend'reſt love I us'd, my chief oppoſers are;
Whilſt I, of other friends bereft, reſort to thee by pray'r.
5 Since miſchief for the good I did their ſtrange reward does prove,
And hatred's the return they make for undiſſembled love:
6 Their guilty leader ſhall be made to ſome ill man a ſlave;
And, when he's tried, his mortal foe for his accuſer have.
7 His guilt, when ſentence is pronounc'd, ſhall meet a dreadful fate,
Whilſt his rejected pray'r but ſerves his crimes to aggravate.
8 He, ſnatch'd by ſome untimely fate, ſha'n't live out half his days;
Another, by divine decree, ſhall on his office ſeize.
9, 10 His ſeed ſhall orphans be, his wife a widow plung'd in grief;
His vagrant children beg their bread, where none can give relief.
11 His ill-got riches ſhall be made to uſurers a prey;
The fruit of all his toil ſhall be by ſtrangers borne away.
12 None ſhall be found that to his wants their mercy will extend,
Or to his helpleſs orphan ſeed the leaſt aſſiſtance lend.

13 A swift destruction soon shall seize on his unhappy race;
And the next age his hated name shall utterly deface.
14 The vengeance of his father's sins upon his head shall fall;
God on his mother's crimes shall think, and punish him for all.
15 All these, in horrid order rank'd, before the Lord shall stand,
Till his fierce anger quite cuts off their mem'ry from the land.

The Second Part.

16 Because he never mercy show'd, but still the poor oppress'd;
And sought to slay the helpless man, with heavy woes distress'd:
17 Therefore the curse he lov'd to vent shall his own portion prove;
And blessing, which he still abhorr'd, shall far from him remove.
18 Since he in cursing took such pride, like water it shall spread
Through all his veins, and stick like oil, with which his bones are fed.
19 This, like a poison'd robe, shall still his constant cov'ring be,
Or an envenom'd belt, from which he never shall be free.
20 Thus shall the Lord reward all those that ill to me design,
That with malicious false reports against my life combine.
21 But for thy glorious Name, O God, do thou deliver me;
And for thy gracious mercy's sake preserve and set me free.
22 For I, to utmost straits reduc'd, am void of all relief;
My heart is wounded with distress, and quite pierc'd through with grief.
23 I, like an ev'ning shade, decline, which vanishes apace:
Like locusts, up and down I'm tos's'd, and have no certain place.
24, 25 My knees with fasting are grown weak, my body lank and lean;
All that behold me shake their heads, and treat me with disdain.
26, 27 But for thy mercy's sake, O Lord, do thou my foes withstand;
That all may see 'tis thine own act, the work of thy right hand.
28 Then let them curse, so thou but bless; let shame the portion be
Of all that my destruction seek; while I rejoice in thee.
29 My foe shall with disgrace be cloth'd, and, spite of all his pride,
His own confusion, like a cloke, the guilty wretch shall hide.
30 But I to God, in grateful thanks, my cheerful voice will raise;
And, where the great assembly meets, set forth his noble praise.
31 For him the poor shall always find their sure and constant friend;
And he shall from unrighteous dooms their guiltless souls defend.

PSALM CX.

THE Lord unto my Lord thus spake: "Till I thy foes thy footstool make,
"Sit thou in state at my right hand;
2 "Supreme in Sion thou shalt be, and all thy proud opposers see
"Subjected to thy just command.
3 "Thee, in thy pow'r's triumphant day, the willing nations shall obey:
"And, when thy rising beams they view,
"Shall all (redeem'd from error's night) appear as numberless and bright
"As crystal drops of morning dew."
4 The Lord has sworn, nor sworn in vain, that, like Melchisedech's, thy reign
And priesthood shall no period know:
5 No proud competitor to sit at thy right hand will he permit,
But in his wrath crown'd heads o'erthrow.
6 The sentenc'd heathen he shall slay, and fill with carcases his way,
Till he hath struck earth's tyrants dead:
7 But in the high-way brooks shall first, like a poor pilgrim, slake his thirst,
And then in triumph raise his head.

PSALM CXI.

PRAISE ye the Lord; our God to praise my soul her utmost pow'r shall raise,
With private friends, and in the throng of saints, his praise shall be my song.
2 His works for greatness though renown'd, his wondrous works with ease are found
By those who seek for them aright, and in the pious search delight.
3 His works are all of matchless fame, and universal glory claim;
His truth, confirm'd through ages past, shall to eternal ages last.
4 By precept he has us enjoin'd to keep his wondrous works in mind;
And to posterity record, that good and gracious is our Lord.
5 His bounty, like a flowing tide, has all his servants' wants supply'd;
And he will ever keep in mind his cov'nant with our fathers sign'd.
6 At once astonish'd and o'erjoy'd, they saw his matchless pow'r employ'd;
Whereby the heathen were suppress'd, and we their heritage possess'd.
7 Just are the dealings of his hands, immutable are his commands;
8 By truth and equity sustain'd, and for eternal rules ordain'd.
9 He set his saints from bondage free, and then establish'd his decree,
For ever to remain the same; holy and rev'rend is his Name.
10 Who wisdom's sacred prize would win, must with the fear of God begin;
Immortal praise and heavenly skill have they, who know and do his will.

PSALM CXII.

HALLELUJAH.

THAT man is bless'd, who stands in awe of God, and loves his sacred law:
2 His seed on earth shall be renown'd, and with successive honours crown'd.
3 His house, the seat of wealth, shall be an inexhausted treasury;
His justice, free from all decay, shall blessings to his heirs convey.
4 The soul that's fill'd with virtue's light shines brightest in affliction's night:
To pity the distress'd inclin'd, as well as just to all mankind.
5 His lib'ral favours he extends, to some he gives, to others lends;
Yet what his charity impairs, he saves by prudence in affairs.
6 Beset with threat'ning dangers round, unmov'd shall he maintain his ground;
The sweet remembrance of the just shall flourish when he sleeps in dust.
7 Ill tidings never can surprise his heart, that fix'd on God relies:
8 On safety's rock he sits, and sees the shipwreck of his enemies.
9 His hands, while they his alms bestow'd, his glory's future harvest sow'd;
Whence he shall reap wealth, fame, renown, a temp'ral and eternal crown.
10 The wicked shall his triumph see, and gnash their teeth in agony:
While their unrighteous hopes decay, and vanish with themselves away.

PSALM CXIII.

YE saints and servants of the Lord, the triumphs of his Name record;
2 His sacred Name for ever bless.
3 Where'er the circling sun displays his rising beams or setting rays,
Due praise to his great Name address.
4 God through the world extends his sway, the regions of eternal day
But shadows of his glory are.
5 With him, whose majesty excels, who made the heav'n in which he dwells,
Let no created pow'r compare.
6 Though 'tis beneath his state to view in highest heav'n what angels do,
Yet he to earth vouchsafes his care:
He takes the needy from his cell, advancing him in courts to dwell,
Companion to the greatest there.

7 When childleſs families deſpair, he ſends the bleſſing of an heir,
To reſcue their expiring name;
Makes her that barren was to bear, and joyfully her fruit to rear:
O then extol his matchleſs fame!

PSALM CXIV.

WHEN Iſrael, by th' Almighty led, (enrich'd by their oppreſſors' ſpoil,)
From Egypt march'd, and Jacob's ſeed from bondage in a foreign ſoil;
2 Jehovah, for his reſidence, choſe out imperial Judah's tent,
His manſion royal, and from thence through Iſrael's camp his orders ſent.
3 The diſtant ſea with terror ſaw, and from th' Almighty's preſence fled;
Old Jordan's ſtreams, ſurpris'd with awe, retreated to their fountain's head.
4 The taller mountains ſkipp'd like rams, when danger near the fold they hear;
The hills ſkipp'd after them like lambs, affrighted by their leader's fear.
5 O ſea, what made your tide withdraw, and naked leave your oozy bed?
Why, Jordan, againſt nature's law, recoil'dſt thou to thy fountain's head?
6 Why, mountains, did ye ſkip like rams, when danger does approach the fold?
Why after you the hills, like lambs, when they their leader's flight behold?
7 Earth, tremble on; well may'ſt thou fear thy Lord and Maker's face to ſee;
When Jacob's awful God draws near, 'tis time for earth and ſeas to flee.
8 To flee from God, who nature's law confirms and cancels at his will;
Who ſprings from flinty rocks can draw, and thirſty vales with water fill.

PSALM CXV.

LORD, not to us, we claim no ſhare, but to thy ſacred Name
Give glory for thy mercy's ſake, and truth's eternal fame.
2 Why ſhould the heathen cry, Where's now the God whom we adore?
3 Convince them that in heav'n thou art, and uncontroll'd thy pow'r.
4 Their gods but gold and ſilver are, the works of mortal hands;
5 With ſpeechleſs mouth and ſightleſs eyes the molten idol ſtands.
6 The pageant has both ears and noſe, but neither hears nor ſmells;
7 Its hands and feet nor feel nor move, no life within it dwells.
8 Such ſenſeleſs ſtocks they are, that we can nothing like them find,
But thoſe who on their help rely, and them for gods deſign'd.
9 O Iſrael, make the Lord your truſt, who is your help and ſhield:
10 Prieſts, Levites, truſt in him alone, who only help can yield.
11 Let all, who truly fear the Lord, on him they fear rely:
Who them in danger can defend, and all their wants ſupply.
12, 13 Of us he oft has mindful been, and Iſrael's houſe will bleſs;
Prieſts, Levites, Proſelytes, e'en all who his great Name confeſs.
14 On you, and on your heirs, he will increaſe of bleſſings bring;
15 Thrice happy you, who fav'rites are of this almighty King!
16 Heav'n's higheſt orb of glory he his empire's ſeat deſign'd;
And gave this lower globe of earth a portion to mankind.
17 They who in death and ſilence ſleep to him no praiſe afford:
18 But we will bleſs for evermore our ever-living Lord.

PSALM CXVI.

MY ſoul with grateful thoughts of love entirely is poſſeſt,
Becauſe the Lord vouchſaf'd to hear the voice of my requeſt.
2 Since he has now his ear inclin'd, I never will deſpair;
But ſtill in all the ſtraits of life to him addreſs my pray'r.

3 With deadly ſorrows compaſs'd round, with pains of hell oppreſt,
When troubles ſeiz'd my aching heart, and anguiſh rack'd my breaſt;
4 On God's Almighty Name I call'd, and thus to him I pray'd:
"Lord, I beſeech thee, ſave my ſoul, with ſorrows quite diſmay'd."
5,6 How juſt and merciful is God! how gracious is the Lord!
Who ſaves the harmleſs, and to me does timely help afford.
7 Then, free from penſive cares, my ſoul, reſume thy wonted reſt;
For God has wondrouſly to thee his bounteous love expreſt.
8 When death alarm'd me, he remov'd my dangers and my fears:
My feet from falling he ſecur'd, and dry'd my eyes from tears.
9 Therefore my life's remaining years, which God to me ſhall lend,
Will I in praiſes to his Name, and in his ſervice ſpend.
10, 11 In God I truſted, and of him in greateſt ſtraits did boaſt;
(For, in my flight, all hopes of aid from faithleſs men were loſt.)
12, 13 Then what return to him ſhall I for all his goodneſs make?
I'll praiſe his Name, and with glad zeal the cup of bleſſing take.
14, 15 I'll pay my vows amongſt his ſaints, whoſe blood (howe'er deſpis'd
By wicked men) in God's account is always highly priz'd.
16 By various ties, O Lord, muſt I to thy dominion bow;
Thy humble handmaid's ſon before, thy ranſom'd captive now.
17, 18 To thee I'll off'rings bring of praiſe; and, whilſt I bleſs thy Name,
The juſt performance of my vows to all thy ſaints proclaim.
19 They in Jeruſalem ſhall meet, and in thy houſe ſhall join,
To bleſs thy Name with one conſent, and mix their ſongs with mine.

PSALM CXVII.

WITH cheerful notes let all the earth to heav'n their voices raiſe:
Let all, inſpir'd with godly mirth, ſing ſolemn hymns of praiſe.
2 God's tender mercy knows no bound, his truth ſhall ne'er decay:
Then let the willing nations round their grateful tribute pay.

PSALM CXVIII.

1, 2 O Praiſe the Lord, for he is good, his mercies ne'er decay:
That his kind favours ever laſt, let thankful Iſrael ſay.
3, 4 Their ſenſe of his eternal love let Aaron's houſe expreſs;
And, that it never fails, let all that fear the Lord confeſs.
5 To God I made my humble moan, with troubles quite oppreſt;
And he releas'd me from my ſtraits, and granted my requeſt.
6 Since therefore God does on my ſide ſo graciouſly appear,
Why ſhould the vain attempts of men poſſeſs my ſoul with fear?
7 Since God, with thoſe that aid my cauſe, vouchſafes my part to take,
To all my foes I need not doubt a juſt return to make.
8, 9 For better 'tis to truſt in God, and have the Lord our friend,
Than on the greateſt human pow'r for ſafety to depend.
10, 11 Though many nations, cloſely leagu'd, did oft beſet me round;
Yet, by his boundleſs pow'r ſuſtain'd, I did their ſtrength confound.
12 They ſwarm'd like bees, and yet their rage was but a ſhort-liv'd blaze;
For whilſt on God I ſtill rely'd, I vanquiſh'd them with eaſe.
13 When all united preſs'd me hard, in hopes to make me fall,
The Lord vouchſaf'd to take my part, and ſav'd me from them all.
14 The honour of my ſtrange eſcape to him alone belongs;
He is my Saviour and my ſtrength, he only claims my ſongs.

15 Joy fills the dwelling of the juſt, whom God has ſav'd from harm;
For wondrous things are brought to paſs by his Almighty arm.
16 He, by his own reſiſtleſs pow'r, has endleſs honour won;
The ſaving ſtrength of his right hand amazing works has done.

17 God will not ſuffer me to fall, but ſtill prolongs my days;
That, by declaring all his works, I may advance his praiſe.
18 When God had ſorely me chaſtis'd, till quite of hopes bereav'd,
His mercy from the gates of death my fainting life repriev'd.

19 Then open wide the temple gates to which the juſt repair,
That I may enter in, and praiſe my great deliv'rer there.
20, 21 Within thoſe gates of God's abode, to which the righteous preſs;
Since thou haſt heard, and ſet me ſafe, thy holy Name I'll bleſs.

22, 23 That which the builders once refus'd is now the corner-ſtone:
This is the wondrous work of God, the work of God alone.
24, 25 This day is God's; let all the land exalt their cheerful voice:
Lord, we beſeech thee, ſave us now, and make us ſtill rejoice.

26 Him that approaches in God's Name let all th' aſſembly bleſs;
"We, that belong to God's own houſe, have wiſh'd you good ſucceſs."
27 God is the Lord, through whom we all both light and comfort find;
Faſt to the altar's horn with cords the choſen victim bind.

28 Thou art my Lord, O God, and ſtill I'll praiſe thy holy Name:
Becauſe thou only art my God, I'll celebrate thy fame.
29 O then with me give thanks to God, who ſtill does gracious prove;
And let the tribute of our praiſe be endleſs as his love.

PSALM CXIX.

ALEPH.

HOW bleſs'd are they who always keep the pure and perfect way;
Who never from the ſacred paths of God's commandments ſtray!
2 How bleſs'd, who to his righteous laws have ſtill obedient been;
And have with fervent humble zeal his favour ſought to win!

3 Such men their utmoſt caution uſe to ſhun each wicked deed:
But in the path which he directs with conſtant care proceed.
4 Thou ſtrictly haſt enjoin'd us, Lord, to learn thy ſacred will;
And all our diligence employ thy ſtatutes to fulfil.

5 O then that thy moſt holy will might o'er my ways preſide!
And I the courſe of all my life by thy direction guide!
6 Then with aſſurance ſhould I walk, from all confuſion free;
Convinc'd, with joy, that all my ways with thy commands agree.

7 My upright heart ſhall my glad mouth with cheerful praiſes fill;
When, by thy righteous judgments taught, I ſhall have learnt thy will.
8 So to thy ſacred laws ſhall I all due obſervance pay:
O then forſake me not, my God, nor caſt me quite away.

BETH.

9 How ſhall the young preſerve their ways from all pollution free?
By making ſtill their courſe of life with thy commands agree.
10 With hearty zeal for thee I ſeek, to thee for ſuccour pray;
O ſuffer not my careleſs ſteps from thy right paths to ſtray.

11 Safe in my heart, and cloſely hid, thy word, my treaſure, lies;
To ſuccour me with timely aid, when ſinful thoughts ariſe.
12 Secur'd by that my grateful ſoul ſhall ever bleſs thy Name;
O teach me then by thy juſt laws, my future life to frame.

13 My lips, unlock'd by pious zeal, to others have declar'd,
How well the judgments of thy mouth deserve our best regard.
14 Whilst in the way of thy commands more solid joy I found,
Than had I been with vast increase of envied riches crown'd.
15 Therefore thy just and upright laws shall always fill my mind;
And those sound rules which thou prescrib'st all due respect shall find.
16 To keep thy statutes undefac'd shall be my constant joy;
The strict remembrance of thy word shall all my thoughts employ.

GIMEL.

17 Be gracious to thy servant, Lord, do thou my life defend,
That I, according to thy word, my future time may spend.
18 Enlighten both my eyes and mind, that so I may discern
The wondrous things which they behold, who thy just precepts learn.
19 Though like a stranger in the land from place to place I stray,
Thy righteous judgments from my sight remove not thou away.
20 My fainting soul is almost pin'd, with earnest longing spent,
Whilst always on the eager search of thy just will intent.
21 Thy sharp rebuke shall crush the proud, whom still thy curse pursues;
Since they to walk in thy right ways presumptuously refuse.
22 But far from me do thou, O Lord, contempt and shame remove;
For I thy sacred laws affect with undissembled love.
23 Though princes oft, in council met, against thy servant spake;
Yet I thy statutes to observe my constant business make.
24 For thy commands have always been my comfort and delight;
By them I learn, with prudent care, to guide my steps aright.

DALETH.

25 My soul, oppress'd will deadly care, close to the dust does cleave;
Revive me, Lord, and let me now thy promis'd aid receive.
26 To thee I still declar'd my ways, who didst incline thine ear:
O teach me then my future life by thy just laws to steer.
27 If thou wilt make me know thy laws, and by their guidance walk,
The wondrous works which thou hast done shall be my constant talk.
28 But see, my soul within me sinks, press'd down with weighty care;
Do thou, according to thy word, my wasted strength repair.
29 Far, far from me be all false ways and lying arts remov'd!
But kindly grant I still may keep the path by thee approv'd.
30 Thy faithful ways, thou God of truth, my happy choice I've made;
Thy judgments, as my rule of life, before me always laid.
31 My care has been to make my life with thy commands agree;
O then preserve thy servant, Lord, from shame and ruin free.
32 So in the way of thy commands shall I with pleasure run,
And, with a heart enlarg'd with joy, successfully go on.

HE.

33 Instruct me in thy statutes, Lord, thy righteous paths display;
And I from them, through all my life, will never go astray.
34 If thou true wisdom from above wilt graciously impart,
To keep thy perfect laws I will devote my zealous heart.
35 Direct me in the sacred ways to which thy precepts lead;
Because my chief delight has been thy righteous paths to tread.
36 Do thou to thy most just commands incline my willing heart,
Let no desire of worldly wealth from thee my thoughts divert.

37 From thoſe vain objects turn my eyes, which this falſe world diſplays;
But give me lively pow'r and ſtrength to keep thy righteous ways.
38 Confirm the promiſe which thou mad'ſt, and give thy ſervant aid,
Who to tranſgreſs thy ſacred laws is awfully afraid.
39 The foul diſgrace I juſtly fear, in mercy, Lord, remove;
For all the judgments thou ordain'ſt are full of grace and love.
40 Thou know'ſt how after thy commands my longing heart does pant;
O then make haſte to raiſe me up, and promis'd ſuccour grant.

VAU.

41 Thy conſtant bleſſing, Lord, beſtow to cheer my drooping heart;
To me, according to thy word, thy ſaving health impart.
42 So ſhall I, when my foes upbraid, this ready anſwer make;
"In God I truſt, who never will his faithful promiſe break."
43 Then let not quite the word of truth be from my mouth remov'd;
Since ſtill my ground of ſteadfaſt hope thy juſt decrees have prov'd.
44 So I to keep thy righteous laws will all my ſtudy bend;
From age to age my time to come in their obſervance ſpend.
45 Ere long I truſt to walk at large, from all incumbrance free;
Since I reſolve to make my life with thy commands agree.
46 Thy laws ſhall be my conſtant talk, and princes ſhall attend,
Whilſt I the juſtice of thy ways with confidence defend.
47 My longing heart and raviſh'd ſoul ſhall both o'erflow with joy,
When in thy lov'd commandments I my happy hours employ.
48 Then will I to thy juſt decrees lift up my willing hands;
My care and buſineſs then ſhall be to ſtudy thy commands.

ZAIN.

49 According to thy promis'd grace, thy favour, Lord, extend:
Make good to me the word, on which thy ſervant's hopes depend.
50 That only comfort in diſtreſs did all my griefs control;
Thy word, when troubles hemm'd me round, reviv'd my fainting ſoul.
51 Inſulting foes did proudly mock, and all my hopes deride;
Yet from thy law not all their ſcoffs could make me turn aſide.
52 Thy judgments then of ancient date I quickly call'd to mind,
Till, raviſh'd with ſuch thoughts, my ſoul did ſpeedy comfort find.
53 Sometimes I ſtand amaz'd like one with deadly horror ſtruck,
To think how all my ſinful foes have thy juſt laws forſook.
54 But I thy ſtatutes and decrees my cheerful anthems made;
Whilſt through ſtrange lands and deſert wilds I like a pilgrim ſtray'd.
55 Thy Name, that cheer'd my heart by day, has fill'd my thoughts by night;
I then reſolv'd by thy juſt laws to guide my ſteps aright.
56 That peace of mind, which has my ſoul in deep diſtreſs ſuſtain'd,
By ſtrict obedience to thy will I happily obtain'd.

CHETH.

57 O Lord, my God, my portion thou and ſure poſſeſſion art;
Thy words I ſteadfaſtly reſolve to treaſure in my heart.
58 With all the ſtrength of warm deſires I did thy grace implore;
Diſcloſe, according to thy word, thy mercy's boundleſs ſtore.
59 With due reflection and ſtrict care on all my ways I thought;
And ſo, reclaim'd to thy juſt paths, my wand'ring ſteps I brought.
60 I loſt no time, but made great haſte, reſolv'd without delay
To watch, that I might never more from thy commandments ſtray.

61 Though num'rous troops of sinful men to rob me have combin'd,
Yet I thy pure and righteous laws have ever kept in mind.
62 In dead of night I will arise to sing thy solemn praise;
Convinc'd how much I always ought to love thy righteous ways.
63 To such as fear thy holy Name myself I closely join;
To all who their obedient wills to thy commands resign.
64 O'er all the earth thy mercy, Lord, abundantly is shed;
O make me then exactly learn thy sacred paths to tread.

TETH.

65 With me, thy servant, thou hast dealt most graciously, O Lord;
Repeated benefits bestow'd, according to thy word.
66 Teach me the sacred skill, by which right judgment is attain'd,
Who in belief of thy commands have steadfastly remain'd.
67 Before affliction stopp'd my course, my footsteps went astray;
But I have since been disciplin'd thy precepts to obey.
68 Thou art, O Lord, supremely good, and all thou dost is so;
On me, thy statutes to discern, thy saving skill bestow.
69 The proud have forg'd malicious lies, my spotless fame to stain;
But my fix'd heart, without reserve, thy precepts shall retain.
70 While pamper'd they, with prosp'rous ills, in sensual pleasures live,
My soul can relish no delight but what thy precepts give.
71 'Tis good for me that I have felt affliction's chast'ning rod,
That I might duly learn and keep the statutes of my God.
72 The law that from thy mouth proceeds of more esteem I hold
Than untouch'd mines, than thousand mines of silver and of gold.

JOD.

73 To me, who am the workmanship of thy Almighty hands,
The heav'nly understanding give to learn thy just commands.
74 My preservation to thy saints strong comfort will afford,
To see success attend my hopes, who trusted in thy word.
75 That right thy judgments are, I now by sure experience see;
And that in faithfulness, O Lord, thou hast afflicted me.
76 O let thy tender mercy now afford me needful aid;
According to thy promise, Lord, to me, thy servant, made.
77 To me thy saving grace restore, that I again may live;
Whose soul can relish no delight but what thy precepts give.
78 Defeat the proud, who, unprovok'd, to ruin me have sought,
Who only on thy sacred laws employ my harmless thought.
79 Let those that fear thy Name espouse my cause, and those alone,
Who have by strict and pious search thy sacred precepts known.
80 In thy blest statutes let my heart continue always sound;
That guilt and shame, the sinner's lot, may never me confound.

CAPH.

81 My soul with long expectance faints to see thy saving grace;
Yet still on thy unerring word my confidence I place.
82 My very eyes consume and fail with waiting for thy word;
O when wilt thou thy kind relief and promis'd aid afford?
83 My skin like shrivell'd parchment shows, that long in smoke is set;
Yet no affliction me can force thy statutes to forget.
84 How many days must I endure of sorrow and distress?
When wilt thou judgment execute on them who me oppress?

85 The proud have digg'd a pit for me, that have no other foes,
But ſuch as are averſe to thee, and thy juſt laws oppoſe.
86 With ſacred truth's eternal laws all thy commands agree:
Men perſecute me without cauſe; thou, Lord, my helper be.
87 With cloſe deſigns againſt my life they had almoſt prevail'd;
But in obedience to thy will my duty never fail'd.
88 Thy wonted kindneſs, Lord, reſtore, my drooping heart to cheer;
That, by thy righteous ſtatutes, I my life's whole courſe may ſteer.

LAMED.

89 For ever, and for ever, Lord, unchang'd thou doſt remain:
Thy word eſtabliſh'd in the heav'ns does all their orbs ſuſtain.
90 Through circling ages, Lord, thy truth immoveable ſhall ſtand,
As doth the earth, which thou uphold'ſt by thy Almighty hand.
91 All things the courſe by thee ordain'd e'en to this day fulfil;
They are the faithful ſubjects all, and ſervants of thy will.
92 Unleſs thy ſacred law had been my comfort and delight,
I muſt have fainted and expir'd in dark affliction's night.
93 Thy precepts therefore from my thoughts ſhall never, Lord, depart;
For thou by them haſt to new life reſtor'd my dying heart.
94 As I am thine, entirely thine, protect me, Lord, from harm;
Who have thy precepts ſought to know, and carefully perform.
95 The wicked have their ambuſh laid my guiltleſs life to take;
But in the midſt of danger I thy word my ſtudy make.
96 I've ſeen an end of what we call perfection here below:
But thy commandments, like thyſelf, no change or period know.

MEM.

97 The love that to thy laws I bear no language can diſplay;
They with freſh wonders entertain my raviſh'd thoughts all day.
98 Through thy commands I wiſer grow than all my ſubtle foes;
For thy ſure word doth me direct, and all my ways diſpoſe.
99 From me my former teachers now may abler counſel take,
Becauſe thy ſacred precepts I my conſtant ſtudy make.
100 In underſtanding I excel the ſages of our days;
Becauſe by thy unerring rules I order all my ways.
101 My feet with care I have refrain'd from ev'ry ſinful way,
That to thy ſacred word I might entire obedience pay.
102 I have not from thy judgments ſtray'd, by vain deſires miſled;
For, Lord, thou haſt inſtructed me thy righteous paths to tread.
103 How ſweet are all thy words to me! O what divine repaſt!
How much more grateful to my ſoul than honey to my taſte!
104 Taught by thy ſacred precepts, I with heav'nly ſkill am bleſt:
Through which the treach'rous ways of ſin I utterly deteſt.

NUN.

105 Thy word is to my feet a lamp, the way of truth to ſhow;
A watch-light to point out the path in which I ought to go.
106 I ſware, (and from my ſolemn oath will never ſtart aſide,)
That in thy righteous judgments I will ſteadfaſtly abide.
107 Since I with griefs am ſo oppreſt, that I can bear no more,
According to thy word do thou my fainting ſoul reſtore.
108 Let ſtill my ſacrifice of praiſe with thee acceptance find;
And in thy righteous judgments, Lord, inſtruct my willing mind.

109 Though ghaſtly dangers me ſurround, my ſoul they cannot awe;
Nor with continual terrors keep from thinking on thy law.
110 My wicked and invet'rate foes for me their ſnares have laid;
Yet I have kept the upright path, nor from thy precepts ſtray'd.
111 Thy teſtimonies I have made my heritage and choice;
For they, when other comforts fail, my drooping heart rejoice.
112 My heart with early zeal began thy ſtatutes to obey;
And, till my courſe of life is done, ſhall keep thy upright way.

SAMECH.

113 Deceitful thoughts and practices I utterly deteſt;
But to thy law affection bear too great to be expreſt.
114 My hiding-place, my refuge-tow'r, and ſhield art thou, O Lord;
I firmly anchor all my hopes on thy unerring word.
115 Hence ye that trade in wickedneſs, approach not my abode;
For firmly I reſolve to keep the precepts of my God.
116 According to thy gracious word from danger ſet me free;
Nor make me of thoſe hopes aſham'd that I repoſe on thee.
117 Uphold me, ſo ſhall I be ſafe, and reſcu'd from diſtreſs;
To thy decrees continually my juſt reſpect addreſs.
118 The wicked thou haſt trod to earth, who from thy ſtatutes ſtray'd;
Their vile deceit the juſt reward of their own falſehood made.
119 The wicked from thy holy land thou doſt like droſs remove;
I therefore, with ſuch juſtice charm'd, thy teſtimonies love.
120 Yet with that love they make me dread, leſt I ſhould ſo offend,
When on tranſgreſſors I behold thy judgments thus deſcend.

AIN.

121 Judgment and juſtice I have lov'd; O therefore, Lord, engage
In my defence, nor give me up to my oppreſſors' rage.
122 Do thou be ſurety, Lord, for me, and ſo ſhall this diſtreſs
Prove good for me; nor ſhall the proud my guiltleſs ſoul oppreſs.
123 My eyes, alas! begin to fail, in long expectance held;
Till thy ſalvation they behold, and righteous word fulfill'd.
124 To me, thy ſervant in diſtreſs, thy wonted grace diſplay,
And diſcipline my willing heart thy ſtatutes to obey.
125 On me, devoted to thy fear, thy ſacred ſkill beſtow,
That of thy teſtimonies I the full extent may know.
126 'Tis time, high time, for thee, O Lord, thy vengeance to employ,
When men with open violence thy ſacred law deſtroy.
127 Yet their contempt of thy commands but makes their value riſe
In my eſteem, who pureſt gold compar'd with them deſpiſe.
128 Thy precepts therefore I account in all reſpects divine;
They teach me to diſcern the right, and all falſe ways decline.

PE.

129 The wonders which thy laws contain no words can repreſent;
Therefore to learn and practiſe them my zealous heart is bent.
130 The very entrance to thy word celeſtial light diſplays;
And knowledge of true happineſs to ſimpleſt minds conveys.
131 With eager hopes I waiting ſtood, and fainted with deſire,
That of thy wiſe commands I might the ſacred ſkill acquire.
132 With favour, Lord, look down on me, who thy relief implore;
As thou art wont to viſit thoſe who thy bleſs'd name adore.

133 Directed by thy heav'nly word let all my footsteps be;
Nor wickedness of any kind dominion have o'er me.
134 Release, entirely set me free from persecuting hands,
That, unmolested, I may learn and practise thy commands.
135 On me, devoted to thy fear, Lord, make thy face to shine:
Thy statutes both to know and keep my heart with zeal incline.
136 My eyes to weeping fountains turn, whence briny rivers flow,
To see mankind against thy laws in bold defiance go.

TSADDI.

137 Thou art the righteous Judge, in whom wrong'd innocence may trust;
And, like thyself, thy judgments, Lord, in all respects are just.
138 Most just and true those statutes were, which thou didst first decree;
And all with faithfulness perform'd succeeding times shall see.
139 With zeal my flesh consumes away, my soul with anguish frets,
To see my foes contemn at once thy promises and threats.
140 Yet each neglected word of thine howe'er by them despis'd
Is pure, and for eternal truth by me, thy servant, priz'd.
141 Brought, for thy sake, to low estate, contempt from all I find;
Yet no affronts or wrongs can drive thy precepts from my mind.
142 Thy righteousness shall then endure, when time itself is past;
Thy law is truth itself, that truth which shall for ever last.
143 Tho' trouble, anguish, doubts, and dread, to compass me unite;
Beset with danger, still I make thy precepts my delight.
144 Eternal and unerring rules thy testimonies give;
Teach me the wisdom that will make my soul for ever live.

KOPH.

145 With my whole heart to God I call'd, Lord, hear my earnest cry;
And I thy statutes to perform will all my care apply.
146 Again more fervently I pray'd, O save me, that I may
Thy testimonies throughly know, and steadfastly obey.
147 My earlier pray'r the dawning day prevented, while I cry'd
To him, on whose engaging word my hope alone rely'd.
148 With zeal have I awak'd before the midnight watch was set,
That I of thy mysterious word might perfect knowledge get.
149 Lord, hear my supplicating voice, and wonted favour shew;
O quicken me, and so approve thy judgments ever true.
150 My persecuting foes advance, and hourly nearer draw;
What treatment can I hope from them who violate thy law?
151 Though they draw nigh, my comfort is, thou, Lord, art yet more near;
Thou, whose commands are righteous all, thy promises sincere.
152 Concerning thy divine decrees my soul has known of old,
That they were true, and shall their truth to endless ages hold.

RESCH.

153 Consider my affliction, Lord, and me from bondage draw;
Think on thy servant in distress, who ne'er forgets thy law.
154 Plead thou my cause; to that and me thy timely aid afford;
With beams of mercy quicken me according to thy word.
155 From harden'd sinners thou remov'st salvation far away;
'Tis just thou should'st withdraw from them who from thy statutes stray.
156 Since great thy tender mercies are to all who thee adore;
According to thy judgments, Lord, my fainting hopes restore.

157 A num'rous hoſt of ſpiteful foes againſt my life combine;
But all too few to force my ſoul thy ſtatutes to decline.
158 Thoſe bold tranſgreſſors I beheld, and was with grief oppreſs'd,
To ſee with what audacious pride thy cov'nant they tranſgreſs'd.
159 Yet while they ſlight, conſider, Lord, how I thy precepts love;
O therefore quicken me with beams of mercy from above.
160 As from the birth of time thy truth has held through ages paſt,
So ſhall thy righteous judgments firm to endleſs ages laſt.

SCHIN.

161 Tho' mighty tyrants, without cauſe, conſpire my blood to ſhed,
Thy ſacred word has pow'r alone to fill my heart with dread.
162 And yet that word my joyful breaſt with heav'nly rapture warms;
Nor conqueſt, nor the ſpoils of war, have ſuch tranſporting charms.
163 Perfidious practices and lies I utterly deteſt;
But to thy laws affection bear, too vaſt to be expreſt.
164 Sev'n times a day, with grateful voice, thy praiſes I reſound,
Becauſe I find thy judgments all with truth and juſtice crown'd
165 Secure, ſubſtantial peace have they who truly love thy law;
No ſmiling miſchief them can tempt, nor frowning danger awe.
166 For thy ſalvation I have hop'd, and, though ſo long delay'd,
With cheerful zeal and ſtricteſt care all thy commands obey'd.
167 Thy teſtimonies I have kept, and conſtantly obey'd;
Becauſe the love I bore to them the ſervice eaſy made.
168 From ſtrict obſervance of thy laws I never yet withdrew;
Convinc'd that my moſt ſecret ways are open to thy view.

TAU.

169 To my requeſt and earneſt cry attend, O gracious Lord;
Inſpire my heart with heav'nly ſkill, according to thy word.
170 Let my repeated pray'r at laſt before thy throne appear;
According to thy plighted word, for my relief draw near.
171 Then ſhall my grateful lips return the tribute of thy praiſe,
When thou thy counſels haſt reveal'd, and taught me thy juſt ways.
172 My tongue the praiſes of thy word ſhall thankfully reſound,
Becauſe thy promiſes are all with truth and juſtice crown'd.
173 Let thy almighty arm appear, and bring me timely aid,
For I the laws thou haſt ordain'd my heart's free choice have made.
174 My ſoul has waited long to ſee thy ſaving grace reſtor'd;
Nor comfort knew, but what thy laws, thy heav'nly laws, afford.
175 Prolong my life, that I may ſing my great Reſtorer's praiſe;
Whoſe juſtice from the depth of woes my fainting ſoul ſhall raiſe.
176 Like ſome loſt ſheep I've ſtray'd, till I deſpair my way to find;
Thou, therefore, Lord, thy ſervant ſeek, who keeps thy laws in mind.

PSALM CXX.

IN deep diſtreſs I oft have cry'd to God, who never yet deny'd
To reſcue me, oppreſs'd with wrongs.
2 Once more, O Lord, deliv'rance ſend, from lying lips my ſoul defend,
And from the rage of ſland'ring tongues.
3 What little profit can accrue, and yet what heavy wrath is due,
O thou perfidious tongue, to thee!
4 Thy ſting upon thyſelf ſhall turn; of laſting flames that fiercely burn,
The conſtant fuel thou ſhalt be.

5 But O how wretched is my doom, who am a ſojourner become
In barren Meſech's deſert ſoil!
With Kedar's wicked tents inclos'd, to lawleſs ſavages expos'd,
Who live on nought but theft and ſpoil.
6 My hapleſs dwelling is with thoſe who peace and amity oppoſe,
And pleaſure take in others' harms:
7 Sweet peace is all I court and ſeek; but when to them of peace I ſpeak,
They ſtraight cry out, "To arms, to arms!"

PSALM CXXI.

TO Sion's hill I lift my eyes, from thence expecting aid;
2 From Sion's hill, and Sion's God, who heav'n and earth has made.
3 Then thou, my ſoul, in ſafety reſt, thy Guardian will not ſleep;
4 His watchful care, that Iſrael guards, will Iſrael's monarch keep.
5 Shelter'd beneath th' Almighty's wings thou ſhalt ſecurely reſt,
6 Where neither ſun nor moon ſhall thee by day or night moleſt.
7 From common accidents of life his care ſhall guard thee ſtill;
8 From the blind ſtrokes of chance, and foes that lie in wait to kill.
9 At home, abroad, in peace, in war, thy God ſhall thee defend;
Conduct thee through life's pilgrimage ſafe to thy journey's end.

PSALM CXXII.

O 'Twas a joyful ſound to hear our tribes devoutly ſay,
Up, Iſrael, to the temple haſte, and keep your feſtal day.
2 At Salem's courts we muſt appear with our aſſembled pow'rs,
3 In ſtrong and beauteous order rang'd, like her united tow'rs.
4 'Tis thither, by divine command, the tribes of God repair,
Before his ark to celebrate his Name with praiſe and pray'r.
5 Tribunals ſtand erected there, where equity takes place;
There ſtand the courts and palaces of royal David's race.
6 O pray we then for Salem's peace, for they ſhall proſp'rous be,
(Thou holy city of our God!) who bear true love to thee.
7 May peace within thy ſacred walls a conſtant gueſt be found,
With plenty and proſperity thy palaces be crown'd.
8 For my dear brethren's ſake, and friends no leſs than brethren dear,
I'll pray,---May peace in Salem's tow'rs a conſtant gueſt appear.
9 But moſt of all I'll ſeek thy good, and ever wiſh thee well,
For Sion and the temple's ſake, where God vouchſafes to dwell.

PSALM CXXIII.

ON thee, who dwell'ſt above the ſkies, for mercy wait my longing eyes;
2 As ſervants watch their maſters' hands, and maids their miſtreſſes commands.
3, 4 O then have mercy on us, Lord, thy gracious aid to us afford;
To us, whom cruel foes oppreſs, grown rich and proud by our diſtreſs.

PSALM CXXIV.

HAD not the Lord (may Iſrael ſay) been pleas'd to interpoſe;
2 Had he not then eſpous'd our cauſe, when men againſt us roſe:
3, 4, 5 Their wrath had ſwallow'd us alive, and rag'd without control;
Their ſpite and pride's united floods had quite o'erwhelm'd our ſoul.
6 But prais'd be our eternal Lord, who reſcu'd us that day,
Nor to their ſavage jaws gave up our threaten'd lives a prey.

7 Our ſoul is like a bird eſcap'd from out the fowler's net;
The ſnare is broke, their hopes are croſs'd, and we at freedom ſet.
8 Secure in his almighty name our confidence remains,
Who, as he made both heav'n and earth, of both ſole monarch reigns.

PSALM CXXV.

WHO place on Sion's God their truſt, like Sion's rock ſhall ſtand;
Like her immovably be fix'd by his almighty hand.
2 Look how the hills on ev'ry ſide Jeruſalem incloſe;
So ſtands the Lord around his ſaints, to guard them from their foes.

3 The wicked may afflict the juſt, but ne'er too long oppreſs,
Nor force him by deſpair to ſeek baſe means for his redreſs.
4 Be good, O righteous God, to thoſe who righteous deeds affect;
The heart that innocence retains let innocence protect.

5 All thoſe who walk in crooked paths the Lord ſhall ſoon deſtroy;
Cut off th' unjuſt, but crown the ſaints with laſting peace and joy.

PSALM CXXVI.

WHEN Sion's God her ſons recall'd from long captivity,
It ſeem'd at firſt a pleaſing dream of what we wiſh'd to ſee.
2 But ſoon in an accuſtom'd mirth we did our voice employ,
And ſung our great Reſtorer's praiſe in thankful hymns of joy.

Our heathen foes repining ſtood, yet were compell'd to own,
That great and wondrous was the work our God for us had done.
3 'Twas great, ſay they; 'twas wondrous great, much more ſhould we confeſs;
The Lord has done great things, whereof we reap the glad ſucceſs.

4 To us bring back the remnant, Lord, of Iſrael's captive bands,
More welcome than refreſhing ſhow'rs to parch'd and thirſty lands.
5 That we, whoſe work commenc'd in tears, may ſee our labours thrive,
Till finiſh'd with ſucceſs, to make our drooping hearts revive.

6 Though he deſpond that ſows his grain, yet doubtleſs he ſhall come
To bind his full-ear'd ſheaves, and bring the joyful harveſt home.

PSALM CXXVII.

WE build with fruitleſs coſt, unleſs the Lord the pile ſuſtain;
Unleſs the Lord the city keep the watchman wakes in vain.
2 In vain we riſe before the day, and late to reſt repair,
Allow no reſpite to our toil, and eat the bread of care.

3 Supplies of life, with eaſe to them, he on his ſaints beſtows;
He crowns their labour with ſucceſs, their nights with ſound repoſe.
4 Children, thoſe comforts of our life, are preſents from the Lord;
He gives a num'rous race of heirs, as piety's reward.

5 As arrows in a giant's hand, when marching forth to war,
E'en ſo the ſons of ſprightly youth their parents' ſafeguard are.
6 Happy the man whoſe quiver's fill'd with theſe prevailing arms;
He needs not fear to meet his foe at law, or war's alarms.

PSALM CXXVIII.

THE man is bleſt who fears the Lord, nor only worſhip pays,
But keeps his ſteps confin'd with care to his appointed ways.
2 He ſhall upon the ſweet returns of his own labour feed;
Without dependence live, and ſee his wiſhes all ſucceed.

3 His wife, like a fair fertile vine, her lovely fruit ſhall bring;
His children, like young olive plants, about his table ſpring.

4, 5 Who fears the Lord shall prosper thus; him Sion's God shall bless,
And grant him all his days to see Jerusalem's success.
6 He shall live on, till heirs from him descend with vast increase;
Much bless'd in his own prosp'rous state, and more in Israel's peace.

PSALM CXXIX.

FROM my youth up, may Israel say, they oft have me assail'd;
2 Reduc'd me oft to heavy straits, but never quite prevail'd.
3 They oft have plow'd my patient back with furrows deep and long;
4 But our just God has broke their chains, and rescu'd us from wrong.
5 Defeat, confusion, shameful rout be still the doom of those,
Their righteous doom, who Sion hate, and Sion's God oppose.
6 Like corn upon our houses' tops, untimely let them fade,
Which too much heat, and want of root, has blasted in the blade:
7 Which in his arms no reaper takes, but unregarded leaves;
Nor binder thinks it worth his pains to fold it into sheaves.
8 No traveller that passes by vouchsafes a minute's stop,
To give it one kind look, or crave Heav'n's blessing on the crop.

PSALM CXXX.

FROM lowest depths of woe to God I sent my cry;
2 Lord, hear my supplicating voice, and graciously reply.
3 Should'st thou severely judge, who can the trial bear?
4 But thou forgiv'st, lest we despond, and quite renounce thy fear.
5 My soul with patience waits for thee, the living Lord;
My hopes are on thy promise built, thy never-failing word.
6 My longing eyes look out for thy enliv'ning ray,
More duly than the morning watch to spy the dawning day.
7 Let Israel trust in God, no bounds his mercy knows;
The plenteous source and spring from whence eternal succour flows.
8 Whose friendly streams to us supplies in want convey;
A healing spring, a spring to cleanse, and wash our guilt away.

PSALM CXXXI.

O Lord, I am not proud of heart, nor cast a scornful eye;
Nor my aspiring thoughts employ in things for me too high.
2 With infant innocence thou know'st I have myself demean'd;
Compos'd to quiet, like a babe that from the breast is wean'd.
3 Like me let Israel hope in God, his aid alone implore:
Both now and ever trust in him, who lives for evermore.

PSALM CXXXII.

LET David, Lord, a constant place in thy remembrance find:
Let all the sorrows he endur'd be ever in thy mind.
2 Remember what a solemn oath to thee, his Lord, he swore;
How to the mighty God he vow'd, whom Jacob's sons adore:
3, 4 I will not go into my house, nor to my bed ascend;
No soft repose shall close my eyes, nor sleep my eyelids bend:
5 Till for the Lord's design'd abode I mark the destin'd ground;
Till I a decent place of rest for Jacob's God have found.
6 Th' appointed place with shouts of joy at Ephrata we found,
And made the woods and neighb'ring fields our glad applause resound.
7 O with due rev'rence let us then to his abode repair;
And, prostrate at his footstool fall'n, pour out our humble pray'r.

8 Arise, O Lord, and now possess thy constant place of rest;
Be that, not only with thy ark, but with thy presence blest.
9, 10 Clothe thou thy priests with righteousness, make thou thy saints rejoice;
And, for thy servant David's sake, hear thy anointed's voice.
11 God sware to David in his truth, nor shall his oath be vain,
One of thy offspring, after thee, upon thy throne shall reign.
12 And if thy seed my cov'nant keep, and to my laws submit,
Their children too upon thy throne for evermore shall sit.
13, 14 For Sion does in God's esteem all other seats excel;
His place of everlasting rest, where he desires to dwell.
15, 16 Her stores, says he, I will increase, her poor with plenty bless;
Her saints shall shout for joy, her priests my saving health confess.
17 There David's pow'r shall long remain in his successive line,
And my anointed servant there shall with fresh lustre shine.
18 The faces of his vanquish'd foes confusion shall o'erspread,
Whilst, with confirm'd success, his crown shall flourish on his head.

PSALM CXXXIII.

HOW vast must their advantage be! how great their pleasure prove!
Who live like brethren, and consent in offices of love!
2 True love is like that precious oil, which, pour'd on Aaron's head,
Ran down his beard, and o'er his robes its costly moisture shed.
3 'Tis like refreshing dew, which does on Hermon's top distil;
Or like the early drops that fall on Sion's fruitful hill.
4 For Sion is the chosen seat, where the Almighty King
The promis'd blessing has ordain'd, and life's eternal spring.

PSALM CXXXIV.

BLESS God, ye servants that attend upon his solemn state,
That in his temple, night by night, with humble rev'rence wait:
2, 3 Within his house lift up your hands, and bless his holy name;
From Sion bless thy Israel, Lord, who heav'n and earth didst frame.

PSALM CXXXV.

O Praise the Lord with one consent, and magnify his name;
Let all the servants of the Lord his worthy praise proclaim.
2 Praise him all ye that in his house attend with constant care;
With those that to his outmost courts with humble zeal repair.
3 For this our truest int'rest is, glad hymns of praise to sing;
And with loud songs to bless his name, a most delightful thing.
4 For God his own peculiar choice the sons of Jacob makes;
And Israel's offspring for his own most valued treasure takes.
5 That God is great we often have by glad experience found;
And seen how he with wondrous pow'r above all gods is crown'd.
6 For he with unresisted strength performs his sov'reign will,
In heav'n and earth, and wat'ry stores, that earth's deep caverns fill.
7 He raises vapours from the ground, which, pois'd in liquid air,
Fall down at last in show'rs, through which his dreadful lightnings glare.
8 He from his storehouse brings the wind; and he with vengeful hand
The first-born slew of man and beast thro' Egypt's mourning land.
9 He dreadful signs and wonders shew'd thro' stubborn Egypt's coasts;
Nor Pharaoh could his plagues escape, nor all his num'rous hosts.
10, 11 'Twas he that various nations smote, and mighty kings suppress'd;
Sihon and Og, and all besides who Canaan's land possess'd.

12, 13 Their land upon his chosen race he firmly did entail;
For which his fame shall always last, his praise shall never fail.
14 For God shall soon his people's cause with pitying eyes survey;
Repent him of his wrath, and turn his kindled rage away.
15 Those idols, whose false worship spreads o'er all the heathen lands,
Are made of silver and of gold, the work of human hands.
16, 17 They move not their fictitious tongues, nor see with polish'd eyes;
Their counterfeited ears are deaf, no breath their mouth supplies.
18 As senseless as themselves are they that all their skill apply
To make them, or in dang'rous times on them for aid rely.
19 Their just returns of thanks to God let grateful Israel pay;
Nor let the priests of Aaron's race to bless the Lord delay.
20 Their sense of his unbounded love let Levi's house express;
And let all those that fear the Lord his name for ever bless.
21 Let all with thanks his wondrous works in Sion's courts proclaim;
Let them in Salem, where he dwells, exalt his holy name.

PSALM CXXXVI.

TO God, the mighty Lord, your joyful thanks repeat;
To him due praise afford, as good as he is great.
For God does prove our constant friend;
His boundless love shall never end.

2, 3 To him whose wondrous pow'r all other gods obey,
Whom earthly kings adore, this grateful homage pay.
For God, &c.

4, 5 By his almighty hand amazing works are wrought;
The heav'ns by his command were to perfection brought.
For God, &c.

6 He spread the ocean round about the spacious land;
And made the rising ground above the waters stand.
For God, &c.

7, 8, 9 Thro' heav'n he did display his num'rous hosts of light;
The sun to rule by day, the moon and stars by night.
For God, &c.

10, 11, 12 He struck the first-born dead of Egypt's stubborn land;
And thence his people led with his resistless hand.
For God, &c.

13, 14 By him the raging sea, as if in pieces rent,
Disclos'd a middle way, thro' which his people went.
For God, &c.

15 Where soon he overthrew proud Pharaoh and his host,
Who, daring to pursue, were in the billows lost.
For God, &c.

16, 17, 18 Thro' deserts vast and wild he led the chosen seed;
And famous princes foil'd, and made great monarchs bleed.
For God, &c.

19, 20 Sihon, whose potent hand great Ammon's sceptre sway'd;
And Og, whose stern command rich Bashan's land obey'd.
For God, &c.

21, 22 And of his wondrous grace, their lands, whom he destroy'd,
He gave to Israel's race, to be by them enjoy'd.
For God, &c.

23, 24 He, in our depth of woes, on us with favour thought,
And from our cruel foes in peace and safety brought.
For God, &c.

25, 26 He does the food supply on which all creatures live:
To God who reigns on high eternal praises give.
For God will prove our constant friend;
His boundless love shall never end.

PSALM CXXXVII.

WHEN we, our wearied limbs to rest, sat down by proud Euphrates' stream,
We wept, with doleful thoughts oppress't, and Sion was our mournful theme.
2 Our harps, that when with joy we sung, were wont their tuneful parts to bear,
With silent strings neglected hung on willow trees that wither'd there.

3 Meanwhile our foes, who all conspir'd to triumph in our slavish wrongs,
Musick and mirth of us requir'd; "Come, sing us one of Sion's songs."
4 How shall we tune our voice to sing? or touch our harps with skilful hands?
Shall hymns of joy to God our King be sung by slaves in foreign lands?

5 O Salem, our once happy seat! when I of thee forgetful prove,
Let then my trembling hand forget the speaking strings with art to move.
6 If I to mention thee forbear, eternal silence seize my tongue;
Or if I sing one cheerful air, till thy deliv'rance is my song.

7 Remember, Lord, how Edom's race, in thy own city's fatal day,
Cry'd out, "Her stately walls deface, and with the ground quite level lay."
8 Proud Babel's daughter, doom'd to be of grief and woe the wretched prey;
Blest is the man who shall to thee the wrongs thou lay'st on us repay.

9 Thrice blest, who with just rage possest, and deaf to all the parents' moans,
Shall snatch thy infants from the breast, and dash their heads against the stones.

PSALM CXXXVIII.

WITH my whole heart, my God and King, thy praise I will proclaim;
Before the gods with joy I'll sing, and bless thy holy name.
2 I'll worship at thy sacred seat; and, with thy love inspir'd,
The praises of thy truth repeat, o'er all thy works admir'd.

3 Thou graciously inclin'dst thine ear, when I to thee did cry;
And, when my soul was press'd with fear, didst inward strength supply.
4 Therefore shall ev'ry earthly prince thy name with praise pursue,
Whom these admir'd events convince that all thy works are true.

5 They all thy wondrous ways, O Lord, with cheerful songs shall bless;
And all thy glorious acts record, thy awful pow'r confess.
6 For God, altho' enthron'd on high, does thence the poor respect;
The proud far off his scornful eye beholds with just neglect.

7 Tho' I with troubles am oppress'd, he shall my foes disarm;
Relieve my soul when most distress'd, and keep me safe from harm.
8 The Lord, whose mercies ever last, shall fix my happy state;
And, mindful of his favours past, shall his own work complete.

PSALM CXXXIX.

THOU, Lord, by strictest search hast known my rising up and lying down;
2 My secret thoughts are known to thee, known long before conceiv'd by me.
3 Thine eye my bed and path surveys, my public haunts and private ways;
4 Thou know'st what 'tis my lips would vent, my yet unutter'd words' intent.

5 Surrounded by thy pow'r I stand, on ev'ry side I find thy hand:
6 O skill, for human reach too high! too dazzling bright for mortal eye!

7 O could I ſo perfidious be, to think of once deſerting thee,
Where, Lord, could I thy influence ſhun? or whither from thy preſence run?
8 If up to heav'n I take my flight, 'tis there thou dwell'ſt enthron'd in light;
Or dive to hell's infernal plains, 'tis there almighty vengeance reigns.
9 If I the morning's wings could gain, and fly beyond the weſtern main,
10 Thy ſwifter hand would firſt arrive, and there arreſt thy fugitive.
11 Or ſhould I try to ſhun thy ſight beneath the ſable wings of night;
One glance from thee, one piercing ray, would kindle darkneſs into day.
12 The veil of night is no diſguiſe, no ſcreen from thy all-ſearching eyes;
Thro' midnight ſhades thou find'ſt thy way, as in the blazing noon of day.
13 Thou know'ſt the texture of my heart, my reins, and ev'ry vital part;
Each ſingle thread in nature's loom by thee was cover'd in the womb.
14 I'll praiſe thee, from whoſe hands I came, a work of ſuch a curious frame;
The wonders thou in me haſt ſhown, my ſoul with grateful joy muſt own.
15 Thine eyes my ſubſtance did ſurvey, while yet a lifeleſs maſs it lay;
In ſecret how exactly wrought, ere from its dark incloſure brought.
16 Thou didſt the ſhapeleſs embryo ſee, its parts were regiſter'd by thee;
Thou ſaw'ſt the daily growth they took, form'd by the model of thy book.
17 Let me acknowledge too, O God, that, ſince this maze of life I trod,
Thy thoughts of love to me ſurmount the pow'r of numbers to recount.
18 Far ſooner could I reckon o'er the ſands upon the ocean's ſhore;
Each morn, reviſing what I've done, I find the account but new begun.
19 The wicked thou ſhalt ſlay, O God: depart from me, ye men of blood,
20 Whoſe tongues Heav'n's majeſty profane, and take th' Almighty's Name in vain.
21 Lord, hate not I their impious crew, who thee with enmity purſue?
And does not grief my heart oppreſs, when reprobates thy laws tranſgreſs?
22 Who practiſe enmity to thee ſhall utmoſt hatred have from me;
Such men I utterly deteſt, as if they were my foes profeſt.
23, 24 Search, try, O God, my thoughts and heart, if miſchief lurks in any part;
Correct me where I go aſtray, and guide me in thy perfect way.

PSALM CXL.

PRESERVE me, Lord, from crafty foes of treacherous intent;
2 And from the ſons of violence, on open miſchief bent.
3 Their ſland'ring tongue the ſerpent's ſting in ſharpneſs does exceed;
Between their lips the gall of aſps and adders' venom breed.
4 Preſerve me, Lord, from wicked hands, nor leave my ſoul forlorn,
A prey to ſons of violence, who have my ruin ſworn.
5 The proud for me have laid their ſnare, and ſpread their wily net;
With traps and gins, where'er I move, I find my ſteps beſet.
6 But thus environ'd with diſtreſs, thou art my God, I ſaid;
Lord, hear my ſupplicating voice, that calls to thee for aid.
7 O Lord, the God, whoſe ſaving ſtrength kind ſuccour did convey,
And cover'd my advent'rous head in battle's doubtful day:
8 Permit not their unjuſt deſigns to anſwer their deſire;
Leſt they, encourag'd by ſucceſs, to bolder crimes aſpire.
9 Let firſt their chiefs the ſad effects of their injuſtice mourn:
The blaſt of their envenom'd breath upon themſelves return.
10 Let them who kindled firſt the flame its ſacrifice become;
The pit they digg'd for me be made their own untimely tomb.
11 Tho' ſlander's breath may raiſe a ſtorm, it quickly will decay;
Their rage does but the torrent ſwell that bears themſelves away.
12 God will aſſert the poor man's cauſe, and ſpeedy ſuccour give;
The juſt ſhall celebrate his praiſe, and in his preſence live.

PSALM CXLI.

TO thee, O Lord, my cries aſcend,
And with accuſtom'd pity hear
2 Inſtead of off'rings, let my pray'r
My lifted hands ſupply the place
3 From haſty language curb my tongue,
Still keep the portal of my lips,
4 From wicked men's deſigns and deeds
Nor let me in the booty ſhare
5 Let upright men reprove my faults,
Like balm that heals a wounded head,
And, in return, my fervent pray'r
When they are tempted and reduc'd,
6 When ſculking in En-gedi's rock
If one reproachful word I ſpoke,
7 Yet us they perſecute to death;
As thick as from the hewer's axe
8 But, Lord, to thee I ſtill direct
O leave not deſtitute my ſoul,
9 Do thou preſerve me from the ſnares
Let them in their own nets be caught,
O haſte to my relief;
the accents of my grief.
like morning incenſe riſe;
of ev'ning ſacrifice.
and let a conſtant guard
with wary ſilence barr'd.
my heart and hands reſtrain;
of their unrighteous gain.
and I ſhall think them kind;
I their reproof ſhall find:
I ſhall for them addreſs,
like me, to ſore diſtreſs.
I to their chiefs appeal,
when I had pow'r to kill.
our ſcatter'd ruins lie
the ſever'd ſplinters fly.
my ſupplicating eyes;
whoſe truſt on thee relies.
that wicked hands have laid:
while my eſcape is made.

PSALM CXLII.

TO God, with mournful voice,
2 Made him the umpire of my cauſe,
3 Thou didſt my ſteps direct,
For where I thought to walk ſecure,
4 I look'd, but found no friend
All refuge fail'd, no man vouchſaf'd
5 To God at laſt I pray'd;
My portion in the land of life,
6 Reduc'd to greateſt ſtraits,
O ſave me from oppreſſing foes,
7 That I may praiſe thy name,
Whilſt of thy kind regard to me
in deep diſtreſs I pray'd;
my wrongs before him laid.
when my griev'd ſoul deſpair'd;
they had their traps prepar'd.
to own me in diſtreſs:
his pity or redreſs.
thou, Lord, my refuge art,
till life itſelf depart.
to thee I make my moan:
for me too pow'rful grown.
my ſoul from priſon bring;
aſſembled ſaints ſhall ſing.

PSALM CXLIII.

LORD, hear my pray'r, and to my cry
In thy accuſtom'd faith and truth
2 Nor at thy ſtrict tribunal bring
For in thy ſight no living man
3 The ſpiteful foe purſues my life,
He drives me into caves as dark
4 My ſpirit therefore is o'erwhelm'd,
My mournful heart grows deſolate,
5 I call to mind the days of old,
My former dangers and eſcapes
6 To thee my hands in humble pray'r
My ſoul for thy refreſhment thirſts,
7 Hear me with ſpeed; my ſpirit fails;
Leſt I become forlorn, like them
8 Thy kindneſs early let me hear,
Teach me the way where I ſhould go;
thy wonted audience lend;
a gracious anſwer ſend.
thy ſervant to be try'd;
can e'er be juſtify'd.
whoſe comforts all are fled;
as manſions of the dead.
and ſinks within my breaſt;
with heavy woes oppreſt.
and wonders thou haſt wrought:
employ my muſing thought.
I fervently ſtretch out;
like land oppreſs'd with drought.
thy face no longer hide,
that in the grave reſide.
whoſe truſt on thee depends;
my ſoul to thee aſcends.

9 Do thou, O Lord, from all my foes preserve and set me free;
A safe retreat against their rage my soul implores from thee.
10 Thou art my God, thy righteous will instruct me to obey;
Let thy good Spirit lead and keep my soul in thy right way.
11 O! for the sake of thy great name, revive my drooping heart;
For thy truth's sake, to me, distress'd, thy promis'd aid impart.
12 In pity to my suff'rings, Lord, reduce my foes to shame;
Slay them that persecute a soul devoted to thy name.

PSALM CXLIV.

FOR ever blest be God the Lord, who does his needful aid impart,
At once both strength and skill afford to wield my arms with warlike art.
2 His goodness is my fort and tow'r, my strong deliv'rance and my shield;
In him I trust, whose matchless pow'r makes to my sway fierce nations yield.
3 Lord, what's in man, that thou should'st love of him such tender care to take?
What in his offspring could thee move such great account of him to make?
4 The life of man does quickly fade, his thoughts but empty are and vain;
His days are like a flying shade, of whose short stay no signs remain.
5 In solemn state, O God, descend, whilst heav'n its lofty head inclines;
The smoaking hills asunder rend, of thy approach the awful signs.
6 Discharge thy dreadful lightnings round, and make my scatter'd foes retreat;
Them with thy pointed arrows wound, and their destruction soon complete.
7, 8 Do thou, O Lord, from heav'n engage thy boundless pow'r my foes to quell,
And snatch me from the stormy rage of threat'ning waves, that proudly swell.
Fight thou against my foreign foes, who utter speeches false and vain;
Who, tho' in solemn leagues they close, their sworn engagement ne'er maintain.
9 So I to thee, O King of kings, in joyful hymns my voice shall raise;
And instruments of various strings shall help me thus to sing thy praise.
10 "God does to kings his aid afford, to them his sure salvation sends;
"'Tis he that from the murd'ring sword his servant David still defends."
11 Fight thou against my foreign foes, who utter speeches false and vain;
Who, tho' in solemn leagues they close, their sworn engagements ne'er maintain.
12 Then our young sons like trees shall grow, well planted in some fruitful place;
Our daughters shall like pillars show, design'd some royal court to grace.
13 Our garners, fill'd with various store, shall us and our's with plenty feed;
Our sheep, increasing more and more, shall thousands and ten thousands breed.
14 Strong shall our lab'ring oxen grow, nor in their constant labour faint;
Whilst we no war nor slav'ry know, and in our streets hear no complaint.
15 Thrice happy is that people's case, whose various blessings thus abound;
Who God's true worship still embrace, and are with his protection crown'd.

PSALM CXLV.

1, 2 THEE I'll extol, my God and King, thy endless praise proclaim;
This tribute daily I will bring, and ever bless thy name.
3 Thou, Lord, beyond compare art great, and highly to be prais'd;
Thy majesty, with boundless height, above our knowledge rais'd.
4 Renown'd for mighty acts, thy fame to future times extends;
From age to age thy glorious name successively descends.
5, 6 Whilst I thy glory and renown, and wondrous works express;
The world with me thy might shall own, and thy great pow'r confess.
7 The praise, that to thy love belongs, they shall with joy proclaim;
Thy truth of all their grateful songs shall be the constant theme.
8 The Lord is good, fresh acts of grace his pity still supplies;
His anger moves with slowest pace, his willing mercy flies.

9, 10 Thy love thro' earth extends its fame, to all thy works expreſs'd :
These ſhew thy praiſe, whilſt thy great name is by thy ſervants bleſs'd.
11 They, with the glorious proſpect fir'd, ſhall of thy kingdom ſpeak ;
And thy great pow'r, by all admir'd, their lofty ſubject make.
12 God's glorious works of ancient date ſhall thus to all be known ;
And thus his kingdom's royal ſtate with public ſplendor ſhown.
13 His ſteadfaſt throne, from changes free, ſhall ſtand for ever faſt ;
His boundleſs ſway no end ſhall ſee, but time itſelf outlaſt.

The Second Part.

14, 15 The Lord does them ſupport that fall, and makes the proſtrate riſe ;
For his kind aid all creatures call, who timely food ſupplies.
16 Whate'er their various wants require, with open hand he gives ;
And ſo fulfils the juſt deſire of ev'ry thing that lives.
17, 18 How holy is the Lord, how juſt, how righteous all his ways !
How nigh to him, who with firm truſt for his aſſiſtance prays !
19 He grants the full deſires of thoſe who him with fear adore ;
And will their troubles ſoon compoſe, when they his aid implore.
20 The Lord preſerves all thoſe with care whom grateful love employs ;
But ſinners, who his vengeance dare, with furious rage deſtroys.
21 My time to come, in praiſes ſpent, ſhall ſtill advance his fame,
And all mankind, with one conſent, for ever bleſs his name.

PSALM CXLVI.

1, 2 O Praiſe the Lord, and thou, my ſoul, for ever bleſs his name ;
His wondrous love, while life ſhall laſt, my conſtant praiſe ſhall claim.
3 On kings, the greateſt ſons of men, let none for aid rely ;
They cannot ſave in dang'rous times, nor timely help apply.
4 Depriv'd of breath, to duſt they turn, and there neglected lie,
And all their thoughts and vain deſigns together with them die.
5 Then happy he, who Jacob's God for his protector takes ;
Who ſtill with well-plac'd hope the Lord his conſtant refuge makes.
6 The Lord, who made both heav'n and earth, and all that they contain,
Will never quit his ſteadfaſt truth, nor make his promiſe vain.
7 The poor oppreſt from all their wrongs are eas'd by his decree ;
He gives the hungry needful food, and ſets the pris'ners free.
8 By him the blind receive their ſight, the weak and fall'n he rears ;
With kind regard and tender love he for the righteous cares.
9 The ſtrangers he preſerves from harm, the orphan kindly treats,
Defends the widow, and the wiles of wicked men defeats.
10 The God that does in Sion dwell is our eternal King :
From age to age his reign endures ; let all his praiſes ſing.

PSALM CXLVII.

O Praiſe the Lord with hymns of joy, and celebrate his fame :
For pleaſant, good, and comely 'tis to praiſe his holy Name.
2 His holy city God will build, tho' levell'd with the ground ;
Bring back his people, tho' diſpers'd thro' all the nations round.
3, 4 He kindly heals the broken hearts, and all their wounds doth cloſe ;
He tells the number of the ſtars, their ſeveral names he knows.
5, 6 Great is the Lord, and great his pow'r, his wiſdom has no bound ;
The meek he raiſes, but throws down the wicked to the ground.

7 To God, the Lord, a hymn of praiſe with grateful voices ſing;
To ſongs of triumph tune the harp, and ſtrike each warbling ſtring.
8 He covers heav'n with clouds, and thence refreſhing rain beſtows;
Thro' him, on mountain tops, the graſs with wondrous plenty grows.
9 He ſavage beaſts, that looſely range, with timely food ſupplies;
He feeds the raven's tender brood, and ſtops their hungry cries.
10 He values not the warlike ſteed, but doth his ſtrength diſdain;
The nimble foot, that ſwiftly runs, no prize from him can gain.
11 But he, to him that fears his name, his tender love extends;
To him that on his boundleſs grace with ſteadfaſt hope depends.
12, 13 Let Sion and Jeruſalem to God their praiſe addreſs;
Who fenc'd their gates with maſſy bars, and does their children bleſs.
14, 15 Thro' all their borders he gives peace, with fineſt wheat they're fed;
He ſpeaks the word, and what he wills is done as ſoon as ſaid.
16 Large flakes of ſnow, like fleecy wool, deſcend at his command;
And hoary froſt, like aſhes ſpread, is ſcatter'd o'er the land.
17 When, join'd to theſe, he does his hail in little morſels break;
Who can againſt his piercing cold ſecure defences make?
18 He ſends his word, which melts the ice; he makes his wind to blow;
And ſoon the ſtreams, congeal'd before, in plenteous currents flow.
19 By him his ſtatutes and decrees to Jacob's ſons were ſhown;
And ſtill to Iſrael's choſen ſeed his righteous laws are known.
20 No other nation this can boaſt, nor did he e'er afford
To heathen lands his oracles, and knowledge of his word.

HALLELUJAH.

PSALM CXLVIII.

1, 2 YE boundleſs realms of joy, exalt your Maker's fame,
His praiſe your ſong employ above the ſtarry frame;
Your voices raiſe, ye cherubim
And ſeraphim, to ſing his praiſe.
3, 4 Thou moon, that rul'ſt the night, and ſun, that guid'ſt the day;
Ye glitt'ring ſtars of light, to him your homage pay;
His praiſe declare, ye heav'ns above,
And clouds that move in liquid air.
5, 6 Let them adore the Lord, and praiſe his holy name,
By whoſe almighty word they all from nothing came;
And all ſhall laſt from changes free;
His firm decree ſtands ever faſt.
7, 8 Let earth her tribute pay; praiſe him, ye dreadful whales,
And fiſh, that thro' the ſea glide ſwift with glitt'ring ſcales;
Fire, hail, and ſnow, and miſty air,
And winds that, where he bids them, blow.
9, 10 By hills and mountains, (all in grateful concert join'd,)
By cedars ſtately tall, and trees for fruit deſign'd;
By ev'ry beaſt, and creeping thing,
And fowl of wing, his name be bleſt.
11, 12 Let all of royal birth, with thoſe of humbler frame,
And judges of the earth, his matchleſs praiſe proclaim.
In this deſign let youth with maids,
And hoary heads with children join.

13 United zeal be ſhown — his wondrous fame to raiſe,
Whoſe glorious name alone — deſerves our endleſs praiſe.
Earth's utmoſt ends — his pow'r obey;
His glorious ſway — the ſky tranſcends.
14 His choſen ſaints to grace, — he ſets them up on high,
And favours Iſrael's race, — who ſtill to him are nigh.
O therefore raiſe — your grateful voice,
And ſtill rejoice — the Lord to praiſe.

PSALM CXLIX.

1, 2 O Praiſe ye the Lord, — prepare your glad voice,
His praiſe in the great — aſſembly to ſing:
In our great Creator — let Iſrael rejoice;
And children of Sion — be glad in their King.
3, 4 Let them his great name — extol in the dance;
With timbrel and harp — his praiſes expreſs:
Who always takes pleaſure — his ſaints to advance,
And with his ſalvation — the humble to bleſs.
5, 6 With glory adorn'd, — his people ſhall ſing
To God, who their beds — with ſafety does ſhield;
Their mouths fill'd with praiſes — of him their great King;
Whilſt a two-edged ſword — their right hand ſhall wield.
7, 8 Juſt vengeance to take — for injuries paſt;
To puniſh thoſe lands — for ruin deſign'd;
With chains, as their captives, — to tie their kings faſt,
With fetters of iron — their nobles to bind.
9 Thus ſhall they make good, — when them they deſtroy,
The dreadful decree — which God does proclaim:
Such honour and triumph — his ſaints ſhall enjoy,
O therefore for ever — exalt his great name.

PSALM CL.

O Praiſe the Lord in that bleſt place, — from whence his goodneſs largely flows;
Praiſe him in heav'n, where he his face unveil'd in perfect glory ſhows.
2 Praiſe him for all the mighty acts — which he in our behalf hath done;
His kindneſs this return exacts, — with which our praiſe ſhould equal run.
3 Let the ſhrill trumpet's warlike voice — make rocks and hills his praiſe rebound;
Praiſe him with harp's melodious noiſe, — and gentle pſalt'ry's ſilver ſound.
4 Let virgin troops ſoft timbrels bring, — and ſome with graceful motion dance;
Let inſtruments of various ſtrings, — with organs join'd, his praiſe advance.
5 Let them, who joyful hymns compoſe, — to cymbals ſet their ſongs of praiſe;
Cymbals of common uſe, and thoſe — that loudly ſound on ſolemn days.
6 Let all that vital breath enjoy, — the breath he does to them afford,
In juſt returns of praiſe employ: — let ev'ry creature praiſe the Lord.

THE END OF THE PSALMS.

GLORIA PATRI.

Common Measure.

TO Father, Son, and Holy Ghost, the God whom we adore,
Be glory; as it was, is now, and shall be evermore.

As the 25th Psalm.

To God the Father, Son, and Spirit, glory be;
As 'twas, and is, and shall be so to all eternity.

As the 100th Psalm.

To Father, Son, and Holy Ghost, the God whom earth and heav'n adore,
Be glory; as it was of old, is now, and shall be evermore.

As the old 112th, and the last part of the 123d Psalm.

To Father, Son, and Holy Ghost, the God whom heav'n's triumphant host
And suff'ring saints on earth adore,
Be glory; as in ages past, as now it is, and so shall last,
When time itself shall be no more.

As the 148th Psalm.

To God the Father, Son, and Spirit, ever blest,
Eternal Three in One, all worship be addrest;
As heretofore it was, is now,
And shall be so for evermore.

As the 149th Psalm.

By angels in heav'n of ev'ry degree,
And saints upon earth, all praise be addrest
To God in Three Persons, one God ever blest;
As it has been, now is, and always shall be.

HYMNS, &c.

VENI CREATOR.

First Metre.

COME, Holy Ghost; Creator, come, and visit all the souls of thine:
Thou hast inspir'd our hearts with life; inspire them now with life divine.
Thou art the Comforter, the gift of God most high; the fire of love,
The everlasting spring of joy, and holy unction from above.
Thy gifts are manifold; thou writ'st God's laws in ev'ry faithful heart;
The promise of the Father, thou dost heav'nly eloquence impart.
Enlighten our dark souls, till they thy love, thy heav'nly love embrace;
And (since we are by nature frail) assist us with thy saving grace.
Drive far from us the mortal foe, and grant us to have peace within;
That, with thy light and guidance blest, we may escape the snares of sin.
Teach us the Father to confess, and Son, who from the grave reviv'd;
And, with the Father and the Son, the Holy Ghost, from both deriv'd.
With thee, O Father, therefore may the Son, who was from death restor'd,
And sacred Comforter, one God, to endless ages be ador'd!

VENI CREATOR.

Second Metre.

COME, Holy Ghost; Creator, come, inspire the souls of thine;
Till ev'ry heart which thou hast made is fill'd with grace divine.
Thou art the Comforter, the gift of God, and fire of love;
The everlasting spring of joy, and unction from above.

Thy gifts are manifold, thou writ'st — God's laws in each true heart;
The promise of the Father, thou — dost heav'nly speech impart.
Enlighten our dark souls, till they — thy sacred love embrace;
Assist our minds, by nature frail, — with thy celestial grace.
Drive far from us the mortal foe, — and give us peace within;
That, by thy guidance bless'd, we may — escape the snares of sin.
Teach us the Father to confess, — and Son, from death reviv'd;
And, with them both, the Holy Ghost, — who art from both deriv'd.
With thee, O Father, therefore, may — the Son, from death restor'd,
And sacred Comforter, one God, — devoutly be ador'd:
As in all ages heretofore — has constantly been done,
As now it is, and shall be so — when time his course has run.

TE DEUM LAUDAMUS.

The First Part.

O God, we praise thee, and confess — that thou the only Lord
And everlasting Father art, — by all the earth ador'd.
To thee all Angels cry aloud; — to thee the powers on high,
Both Cherubim and Seraphim, — continually do cry,
O holy, holy, holy Lord, — whom heav'nly hosts obey;
The world is with the glory fill'd — of thy majestic ray.
Th' Apostles' glorious company, — and Prophets crown'd with light,
With all the Martyrs' noble host, — thy constant praise recite.
The holy Church throughout the world, — O Lord, confesses thee;
That thou eternal Father art, — of boundless majesty.
Thy honour'd, true, and only Son, — and Holy Ghost the spring
Of never-ceasing joy: O Christ, — of glory thou art King.
The Father's everlasting Son, — thou from on high didst come
To save mankind, and didst not then — disdain the Virgin's womb.
And, having overcome the sting — of death, thou open'dst wide
The gates of heav'n to all, who firm — in thy belief abide.

The Second Part.

Crown'd with the Father's glory, thou — at God's right hand doth sit;
Whence thou shalt come to be our Judge, — to sentence or acquit.
O therefore save thy servants, Lord, — whose souls so dearly cost;
Nor let the purchase of thy blood, — thy precious blood, be lost.
We magnify thee day by day, — and ever worship thee:
Vouchsafe to keep us, Lord, this day — from sin and danger free.
Have mercy, mercy on us, Lord, — to us thy grace extend;
According as for mercy we — on thee alone depend!
In thee I have repos'd my trust, — and ever shall do so;
Preserve me then from ruin here, — and from eternal woe.
To Father, Son, and Holy Ghost, — the God whom we adore,
Be glory; as it was, is now, — and shall be evermore.

FOR CHRISTMAS DAY.

Morning Service.

HIGH let us swell our tuneful notes, — and join th' angelic throng,
For angels no such love have known, — t' awake a cheerful song.
Good-will to sinful men is shown, — and peace on earth is given;
For, lo! th' incarnate Saviour comes — with messages from heaven.
Justice and grace, with sweet accord, — his rising beams adorn;
Let heav'n and earth in concert join, — to us a Child is born.

Glory to God in highest strains, in highest worlds be paid;
His glory by our lips proclaim'd, and by our lives display'd.
When shall we reach those blissful realms where Christ exalted reigns?
And learn of the celestial choir their own immortal strains?

Evening Service.

HARK, the herald angels sing, Glory to the new-born King,
Peace on earth, and mercy mild, God and sinners reconcil'd:
Joyful all ye nations rise, join the triumph of the skies,
With th' angelic host proclaim, Christ is born in Bethlehem.
Hark, the herald angels sing, Glory to the new-born King.

Christ by highest heav'n ador'd, Christ the everlasting Lord,
Late in time behold him come, offspring of a virgin's womb:
Veil'd in flesh the Godhead he, hail th' incarnate Deity:
Pleas'd as man with man appear, Jesus our Immanuel here.
Hark, the herald, &c.

Hail the heav'n-born Prince of Peace! hail the Sun of righteousness!
Light and life to all he brings, ris'n with healing in his wings:
Mild he lays his glory by, born that man no more may die:
Born to raise the sons of earth, born to give them second birth.
Hark, the herald, &c.

FOR EASTER DAY.

First Hymn.

SINCE Christ, our passover, is slain a sacrifice for all;
Let all with thankful hearts agree to keep the festival:
Not with the leaven, as of old, of sin and malice fed;
But with unfeign'd sincerity, and truth's unleaven'd bread.
Christ, being rais'd by pow'r divine, and rescu'd from the grave,
Shall die no more; death shall on him no more dominion have.
For that he died, 'twas for our sins he once vouchsaf'd to die;
But that he lives, he lives to God for all eternity.
So count yourselves as dead to sin, but graciously restor'd,
And made henceforth alive to God, through Jesus Christ our Lord.
To Father, Son, and Holy Ghost, the God whom we adore,
Be glory; as it was, is now, and shall be evermore.

FOR EASTER DAY.

Second Hymn.

CHRIST from the dead is rais'd, and made the firstfruits of the tomb;
For as by man came death, by man did resurrection come.
For as in Adam all mankind did guilt and death derive,
So by the righteousness of Christ shall all be made alive.
If then ye risen are with Christ, seek only how to get
The things that are above, where Christ at God's right hand doth sit.
To Father, Son, and Holy Ghost, the God whom heav'n's triumphant host,
And suff'ring saints on earth adore,
Be glory; as in ages past, as now it is, and so shall last,
When time itself shall be no more.

FOR THE SACRAMENT.

MY God, and is thy table spread, and doth thy cup with love o'erflow!
Thither be all thy children led, and let them all thy sweetness know.
Hail, sacred feast, which Jesus makes, rich banquet of his flesh and blood!
Thrice happy he who here partakes that sacred stream, that heav'nly food.

Why are its dainties all in vain
Was not for you the victim slain?
O! let thy table honour'd be,
And may each soul salvation see,
Let crowds approach, with hearts prepar'd,
Nor, when we leave our Father's board,
Receive thy dying churches, Lord,
And more, that energy afford,
before unwilling hearts display'd?
are you forbid the children's bread?
and furnish'd well with joyful guests!
that here its sacred pledges tastes.
with hearts inflam'd let all attend;
the pleasure or the profit end.
and bid our drooping graces live;
a Saviour's blood alone can give.

FOR THE MORNING.

AWAKE, my soul, and with the sun
Shake off dull sloth, and early rise
Redeem thy mispent moments past,
Thy talents to improve take care;
Let all thy converse be sincere,
For God's all-seeing eye surveys
Wake, and lift up thyself, my heart,
Who all night long unwearied sing
Praise God, from whom all blessings flow,
Praise him above, angelic host;
thy daily stage of duty run;
to pay thy morning sacrifice.
and live this day as if the last;
for the great day thyself prepare.
thy conscience as the noon-day clear;
thy secret thoughts, thy works and ways.
and with the angels bear thy part;
high glory to th' eternal King.
praise him, all creatures here below;
praise Father, Son, and Holy Ghost.

BENEDICTUS;

Or, The SONG of *Zacharias*, Luke i. 68.

NOW bless'd be Israel's Lord and God,
Has visited his people's grief,
And rais'd in faithful David's house
E'er since the world itself began,
To save us from our spiteful foes,
Which he to Abr'am heretofore,
That we, from fear and danger freed,
And all our days, as in his sight,
And thou, O child, shalt then be call'd
His message, and before his face
To give them light, who now in shades
And in the way that leads to peace
whose mercy at our need
and them from bondage freed;
salvation, which of old,
his prophets had foretold.
and keep his oath in mind,
and to our fathers sign'd;
his temple may frequent;
in holy life be spent.
God's prophet, to declare
his passage to prepare:
of night and death abide;
our footsteps safely guide.

MAGNIFICAT,

Or, The SONG of the *Blessed Virgin*, Luke i. 46.

MY soul and spirit, fill'd with joy,
Whose goodness did from poor estate
Me bless'd of God, the God of pow'r,
Whose name is holy, and whose love
The proud, and all their vain designs,
He cast the mighty from their seat,
The hungry with good things were fill'd,
He sent his servant Israel help,
Which to our fathers heretofore
To Abr'am and his chosen seed
my God and Saviour praise,
his humble handmaid raise.
all ages shall confess;
his saints shall ever bless.
he quickly did confound;
the meek and humble crown'd.
the rich with hunger pin'd;
and call'd his love to mind;
by oath he did insure,
for ever to endure.

GLORIA PATRI.

To Father, Son, and Holy Ghost,
Be glory; as it was, is now,
the God whom we adore,
and shall be evermore.

NUNC DIMITTIS;

Or, The SONG of *St. Simeon*, Luke ii. 29.

LORD, let thy servant now depart into thy promis'd rest,
Since my expecting eyes have been with thy salvation blest:
Which till this time thy favour'd saints and prophets only knew;
Long since prepar'd, but now set forth in all the people's view.
A light to shew the heathen world the way to saving grace;
But, O! the light and glory both of Israel's chosen race.
To Father, Son, and Holy Ghost, the God whom we adore,
Be glory; as it was, is now, and shall be evermore.

THE CREED.

I Steadfastly believe in God, the Father of all might;
Who made this lower world, and all the glorious worlds of light.
And I believe in Jesus Christ, the everlasting Word;
Th' Almighty Father's only Son, and our most gracious Lord.
Conceiv'd by th' Holy Ghost, and of the Virgin Mary born;
By Pontius Pilate doom'd to bear most bitter pains and scorn;
Was crucify'd, and for a time, both dead and bury'd lay;
Descended into hell; and rose to life on the third day;
Ascended up to heav'n; and there at God's right hand is plac'd;
From whence he shall return to judge the quick and dead at last.
I likewise firmly do believe, O Holy Ghost, in thee;
The holy universal Church, and saints' community.
Forgiveness of repented sins, (through Christ, our sacrifice,)
The resurrection of the dead, and life that never dies.
To Father, Son, and Holy Ghost, the God whom we adore,
Be glory; as it was, is now, and shall be evermore.

THE LORD'S PRAYER.

First Metre.

OUR Father, who in heaven art, thy Name be hallow'd in each heart.
Thy kingdom come: may we fulfil, who dwell on earth, thy heav'nly will,
With equal cheerfulness and love, as saints and angels do above.
Give us this day our daily bread: us into no temptation lead:
But with thy grace preserve us still from sin, and ev'ry thing that's ill;
For thine the kingdom, and the pow'r, and glory are for evermore.

GLORIA PATRI.

To Father, Son, and Holy Ghost, the God whom all the sacred host
Of saints and angels do adore, all glory be; as heretofore
It was, is now, and so shall be to ages of eternity.

THE LORD'S PRAYER.

Second Metre.

OUR Father, who in heaven art, all hallow'd be thy Name;
Thy kingdom come; thy will be done throughout this earthly frame,
As cheerfully as 'tis by those who dwell with thee on high;
Lord, let thy bounty day by day our daily food supply.
As we forgive our enemies, thy pardon, Lord, we crave;
Into temptation lead us not, but us from evil save.
For kingdom, pow'r, and glory, all belong, O Lord, to thee;
Thine from eternity they were, and thine shall ever be.

THE LAMENTATION OF A SINNER.

O Lord, turn not thy face from me, who lie in woeful state,
Lamenting all my sinful life before thy mercy-gate;
A gate which opens wide to those that do lament their sin:
Shut not that gate against me, Lord, but let me enter in.
And call me not to strict account, how I have sojourn'd here;
For then my guilty conscience knows how vile I shall appear.
I need not to confess my life to thee, who best can tell
What I have been, and what I am; I know thou know'st it well.
The circumstances of my crimes, their number and their kind,
Thou know'st them all; and more, much more than I can call to mind:
Therefore, with tears, I come to beg of my offended God,
For pardon, like a child that dreads his angry parent's rod.
So come I to thy mercy-gate, where mercy doth abound,
Imploring pardon for my sin, to heal my deadly wound.
O Lord, I need not to repeat the comfort I would have:
Thou know'st, O Lord, before I ask, the blessing I do crave.
Mercy, good Lord, mercy I ask, this is the total sum;
For mercy, Lord, is all my suit; Lord, let thy mercy come!
To Father, Son, and Holy Ghost, the God whom we adore,
Be glory; as it was, is now, and shall be evermore.

SONG OF THE ANGELS,

At the *Nativity* of our *Blessed Saviour*, Luke ii. 8—15.

WHILE shepherds watch'd their flocks by night, all seated on the ground,
The angel of the Lord came down, and glory shone around.
"Fear not," said he, (for mighty dread had seiz'd their troubled mind,)
"Glad tidings of great joy I bring to you and all mankind.
"To you, in David's town, this day is born of David's line,
"The Saviour, who is Christ the Lord;— and this shall be the sign:
"The heav'nly Babe you there shall find to human view display'd,
"All meanly wrapt in swathing-bands, and in a manger laid."
Thus spake the Seraph, and forthwith appear'd a shining throng
Of angels, praising God, and thus address'd their joyful song:
"All glory be to God on high, and to the earth be peace;
"Good-will henceforth from Heav'n to men begin, and never cease."

THREE HYMNS FOR THE HOLY COMMUNION.

HYMN I. Out of the *Revelation* of *St. John*.

THOU, God, all glory, honour, pow'r, art worthy to receive;
Since all things by thy power were made, and by thy bounty live.
And worthy is the Lamb, all pow'r, honour, and wealth to gain,
Glory and strength; who for our sins a sacrifice was slain.
All worthy thou, who hast redeem'd and ransom'd us to God,
From ev'ry nation, ev'ry coast, by thy most precious blood.
Blessing and honour, glory, pow'r, by all in earth and heav'n,
To him that sits upon the throne, and to the Lamb be giv'n.

HYMN II. *Revelation*, Chap. xix.

ALL ye who faithful servants are of our Almighty King,
Both high and low, and small and great, his praise devoutly sing!
Let us rejoice and render thanks to his most holy Name;
Rejoice, rejoice! for now is come the marriage of the Lamb.

His bride herself has ready made, how pure and white her dress!
Which is her saints' integrity, and spotless holiness.
O therefore bless'd is every one, who to the marriage feast,
And holy supper of the Lamb, is made a welcome guest!

HYMN III. *The Thanksgiving in the Church Communion Service.*

TO God be glory, peace on earth, to all mankind good-will;
We bless, we praise, we worship thee, and glorify thee still.
And thanks for thy great glory give, that fills our souls with light;
O Lord! God! heav'nly King! the God and Father of all might.
And thou, begotten Son of God, before all time begun;
O Jesu Christ! God, Lamb of God, the Father's only Son!
Have mercy, thou that tak'st the sins of all the world away!
Have mercy, Saviour of mankind, and hear us when we pray!
O thou, who sitt'st at God's right hand, upon the Father's throne,
Have mercy on us, Thou, O Christ, who art the Holy One!
Thou, Lord,—who with the Holy Ghost, whom earth and heav'n adore,
In glory of the Father art most high for evermore.

GLORIA PATRI.

TO God, our benefactor, bring the tribute of your praise;
Too small for an Almighty King, but all that we can raise.
Glory to Thee, bless'd Three in One, the God whom we adore;
As was, and is, and shall be done, when time shall be no more.

PRAISE God, from whom all blessings flow; praise him, all creatures here below;
Praise him above, ye heav'nly host, praise Father, Son, and Holy Ghost.

DIRECTIONS ABOUT THE TUNES AND MEASURES.

ALL Psalms of this Version in the Common Measure of Eights and Sixes, that is, where the first and third Lines of the single Stanza consist of eight Syllables each, the second and fourth Lines of six Syllables each, may be sung to any of the most usual Tunes, namely, York Tune, Windsor Tune, St. David's, Litchfield, Canterbury, Martyr's, St. Mary's alias Hackney, St. Anne's Tune, &c.

As the Old 25th Psalm, may be sung the New 25, 31, 51, 67, 130, 142.
As the Old 113, the 37, 46, 50, 63, 76, 91, 110, 113, 120.
As the Old 148, the 136, 148.
As the Old 104, the 149.

The Psalms in this Version of four Lines in a single Stanza, and eight Syllables in each Line, (if Psalms of praise or cheerfulness) may properly be sung as the Old 100th Psalm, or to the Tune of the Old 125th Psalm, Second Metre.

The Penitential or Mournful Psalms, in the same Measure, may be sung as the Old 51st Psalm.

PRAYER ON ENTERING CHURCH.

ASSIST us, Lord, in these our Prayers and Supplications; and grant that those things which we ask faithfully, we may obtain effectually, through Jesus Christ our Lord.

WHEN THE SERVICE IS ENDED.

THANKS be to thy holy Name, most gracious God, for this opportunity of attending thy publick Service: and grant, O Lord, that neither our Inattention or want of Devotion may render our imperfect Petitions unacceptable in thy sight, through Jesus Christ our Lord.

RLiturg
Bk

329318

Book of Common Prayer
The Book of Common Prayer.

NAME OF BORROWER.

University of Toronto
Library

DO NOT
REMOVE
THE
CARD
FROM
THIS
POCKET

Acme Library Card Pocket
LOWE-MARTIN CO. LIMITED